सर्वज्ञप्रणीत

जैन भूगोल

डॉ. श्रीमती उज्ज्वला दि. शहा

लोकाकाश

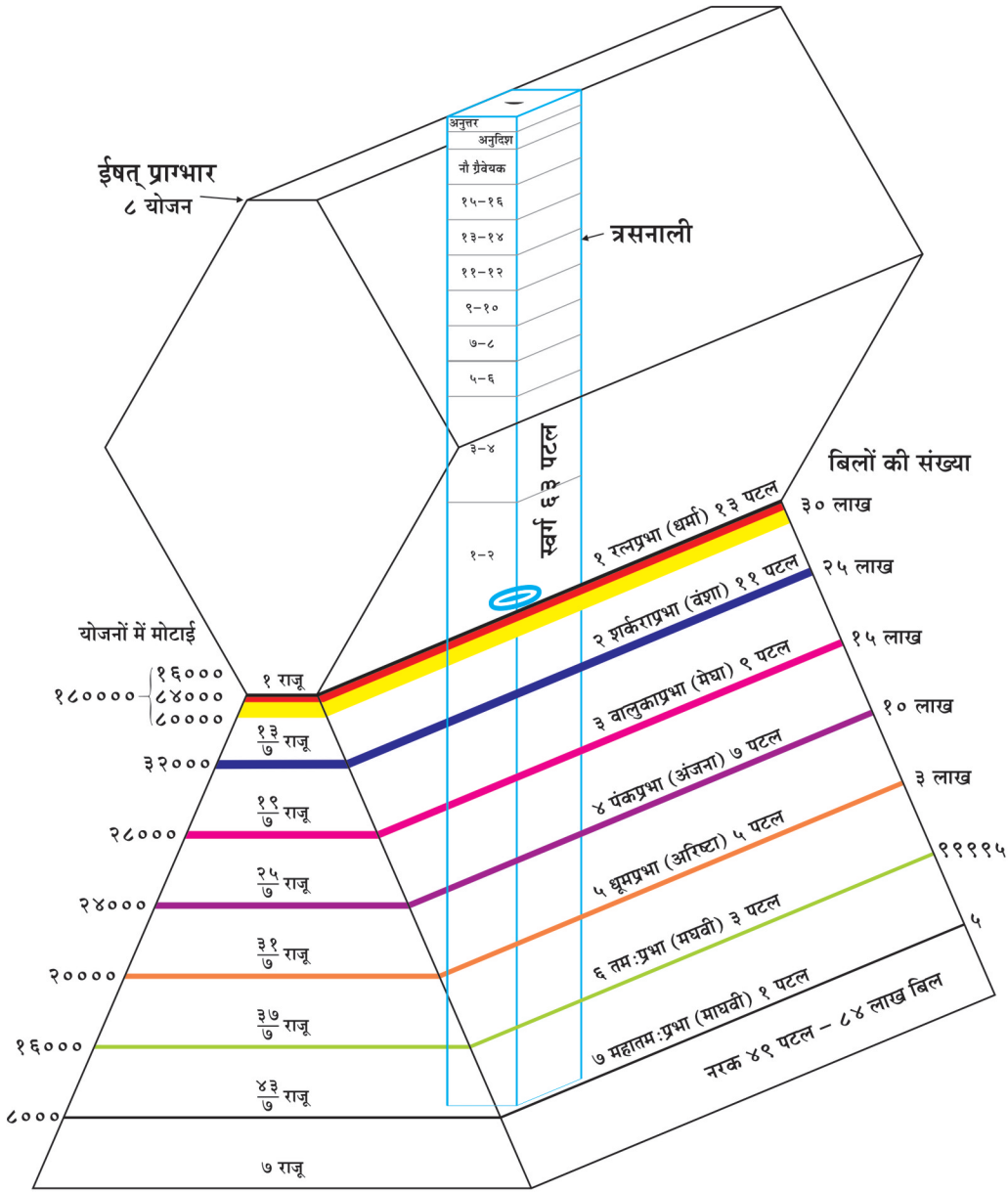
ईषत् प्राग्भार
८ योजन
त्रसनाली
अनुत्तर
अनुदिश
नौ ग्रैवेयक
१५–१६
१३–१४
११–१२
९–१०
७–८
५–६
३–४
१–२
स्वर्ग ६३ पटल
बिलों की संख्या
१ रत्नप्रभा (धर्मा) १३ पटल
३० लाख
२ शर्कराप्रभा (वंशा) ११ पटल
२५ लाख
३ वालुकाप्रभा (मेघा) ९ पटल
१५ लाख
४ पंकप्रभा (अंजना) ७ पटल
१० लाख
५ धूमप्रभा (अरिष्टा) ५ पटल
३ लाख
६ तम:प्रभा (मघवी) ३ पटल
९९९९५
७ महातम:प्रभा (माघवी) १ पटल
५
नरक ४९ पटल – ८४ लाख बिल
योजनों में मोटाई
१८०००० १६०००
८४०००
८००००
१ राजू
३२०००
१३/७ राजू
२८०००
१९/७ राजू
२४०००
२५/७ राजू
२०००
३१/७ राजू
१६०००
३७/७ राजू
८०००
४३/७ राजू
७ राजू

वातवलय

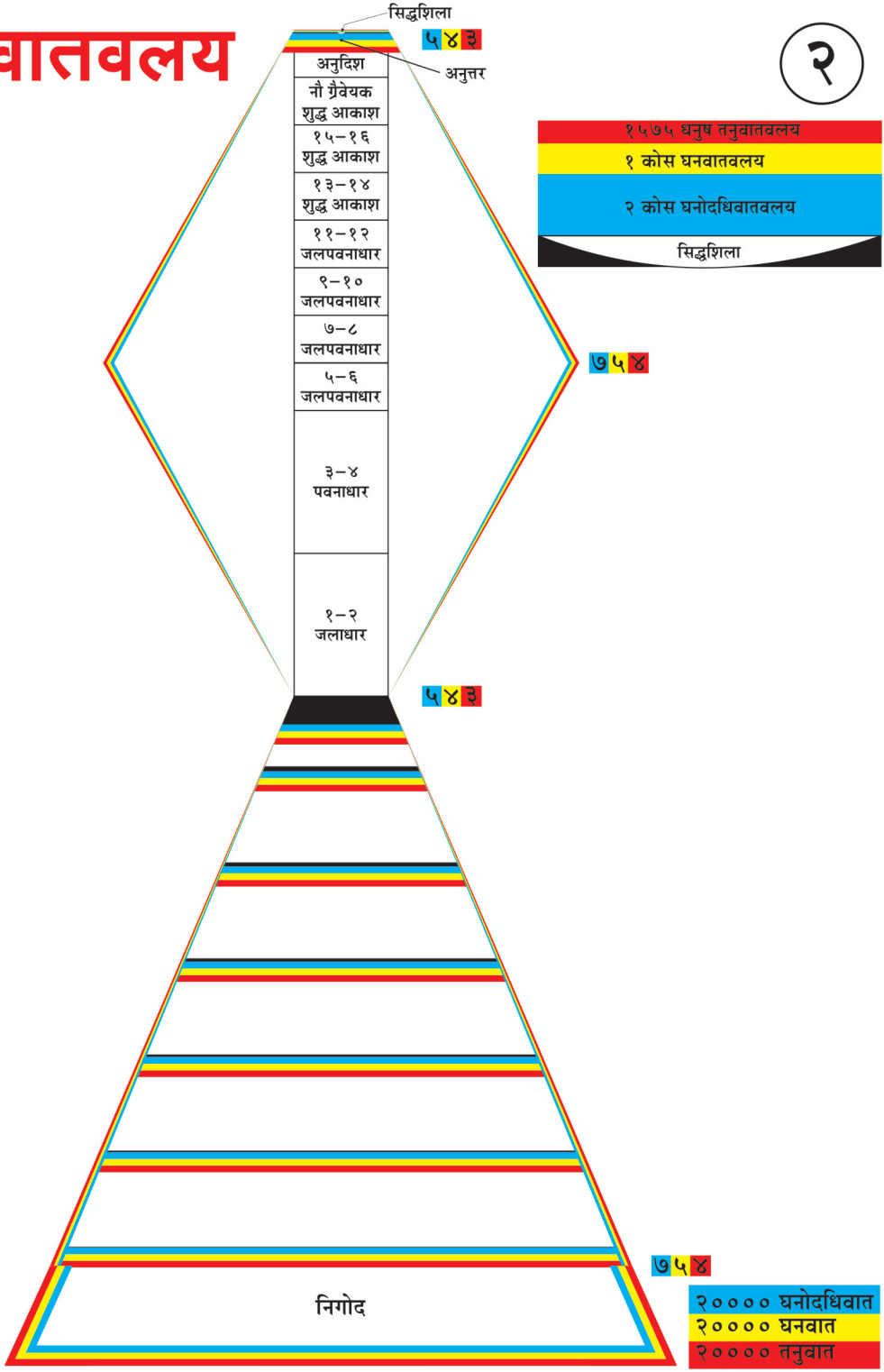
सिद्धशिला
५ ४ ३
अनुदिश
अनुत्तर
नौ ग्रैवेयक
शुद्ध आकाश
१५–१६
शुद्ध आकाश
१३–१४
शुद्ध आकाश
११–१२
जलपवनाधार
९–१०
जलपवनाधार
७–८
जलपवनाधार
५–६
जलपवनाधार
३–४
पवनाधार
१–२
जलाधार
५ ४ ३
७ ५ ४
निगोद
७ ५ ४
१५७५ धनुष तनुवातवलय
१ कोस घनवातवलय
२ कोस घनोदधिवातवलय
सिद्धशिला
२०००० घनोदधिवात
२०००० घनवात
२०००० तनुवात

तिर्यक्लोक

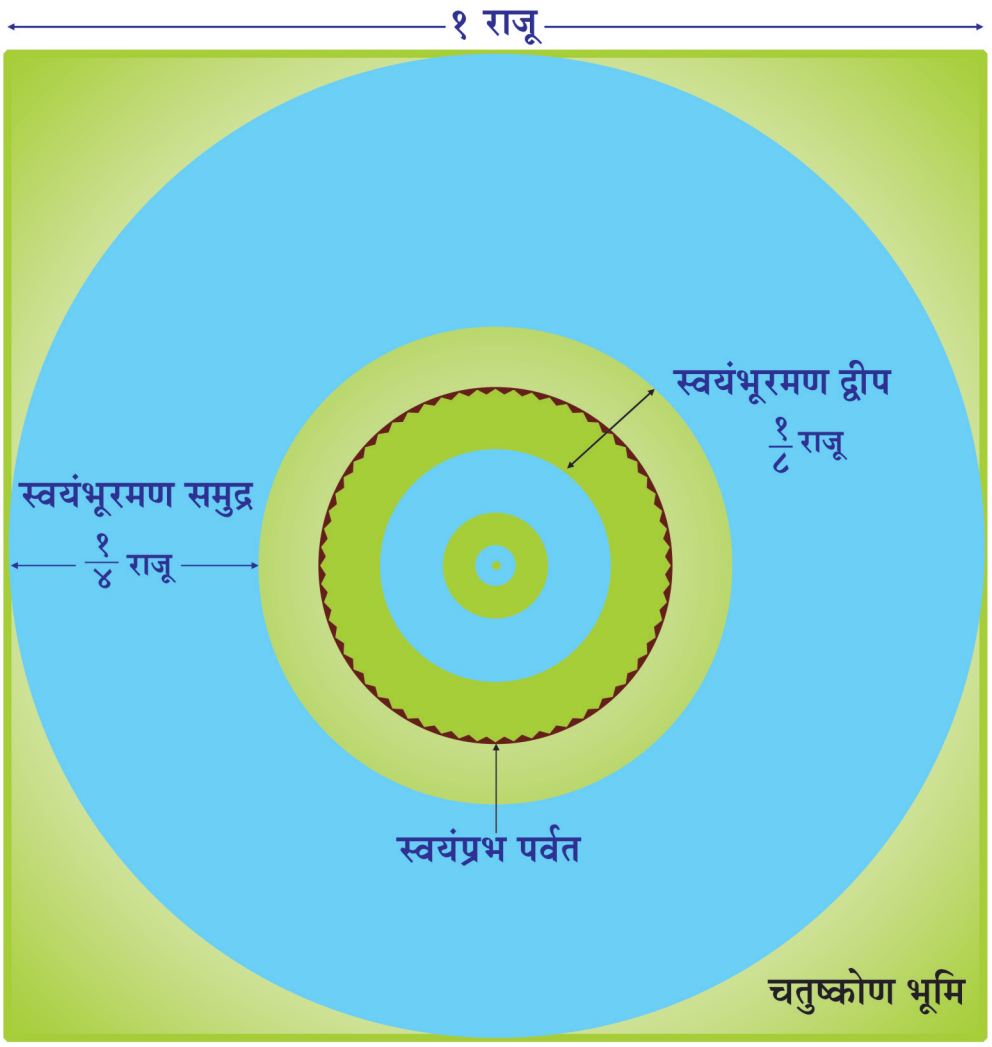

असंख्यात द्वीप और समुद्र = २५ कोडाकोडी उद्धारपल्य

ढ़ाईद्वीप

५ मेरुसम्बन्धी ३० भोगभूमि

५ मेरुसम्बन्धी १५ कर्मभूमि

- ५ विदेह × ३२
- ५ भरत
- ५ ऐरावत

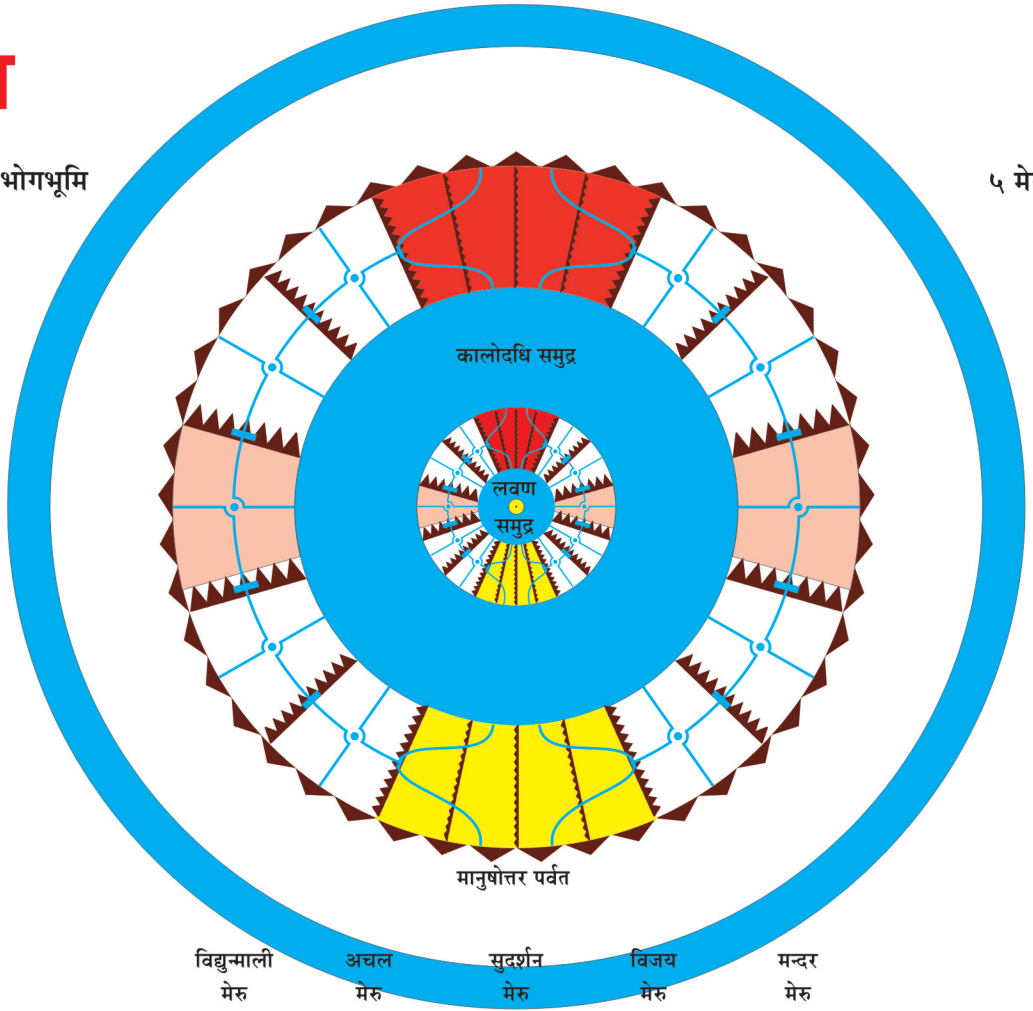

जम्बूद्वीप

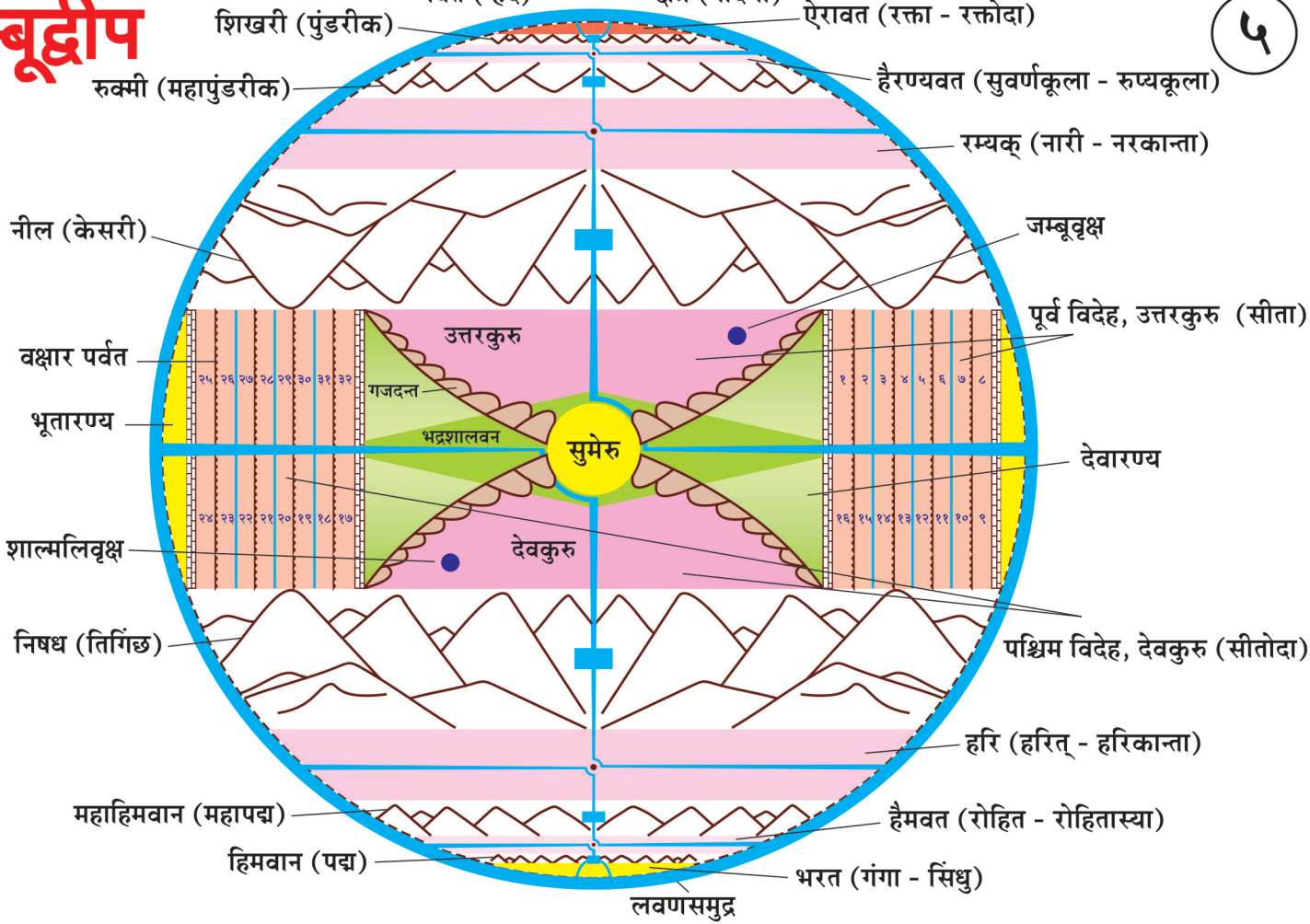
पर्वत (ह्रद)
क्षेत्र (नदियाँ)
शिखरी (पुंडरीक)
ऐरावत (रक्ता - रक्तोदा)
रुक्मी (महापुंडरीक)
हैरण्यवत (सुवर्णकूला - रुप्यकूला)
रम्यक् (नारी - नरकान्ता)
नील (केसरी)
जम्बूवृक्ष
पूर्व विदेह, उत्तरकुरु (सीता)
वक्षार पर्वत
उत्तरकुरु
गजदन्त
भूतारण्य
भद्रशालवन
सुमेरु
देवारण्य
शाल्मलिवृक्ष
देवकुरु
निषध (तिगिंछ)
पश्चिम विदेह, देवकुरु (सीतोदा)
हरि (हरित् - हरिकान्ता)
महाहिमवान (महापद्म)
हैमवत (रोहित - रोहितास्या)
हिमवान (पद्म)
भरत (गंगा - सिंधु)
लवणसमुद्र

भरतक्षेत्र

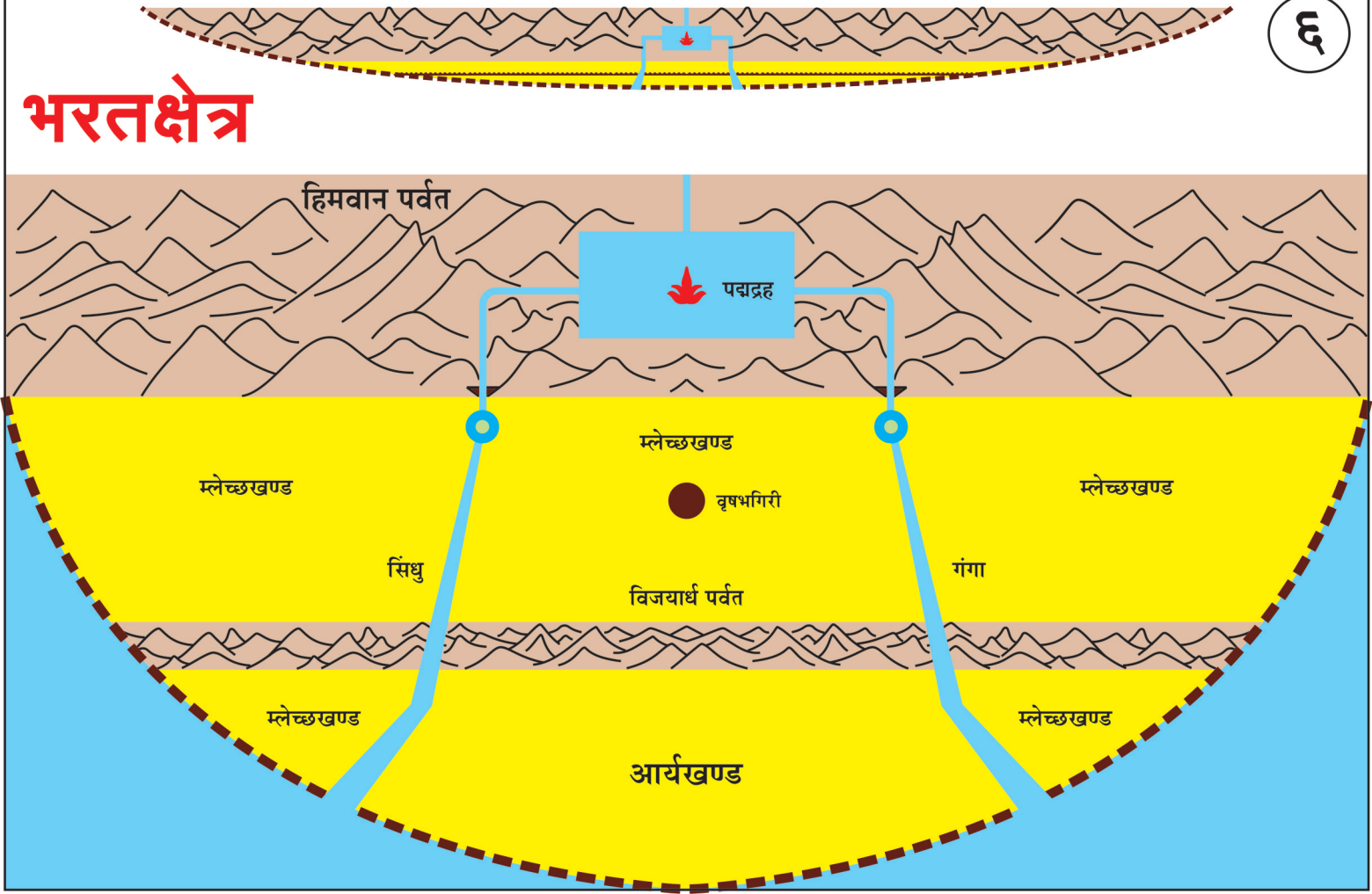
हिमवान पर्वत
पद्मद्रह
म्लेच्छखण्ड
म्लेच्छखण्ड
वृषभगिरी
म्लेच्छखण्ड
सिंधु
गंगा
विजयार्ध पर्वत
म्लेच्छखण्ड
म्लेच्छखण्ड
आर्यखण्ड

लवणसमुद्र के पाताल

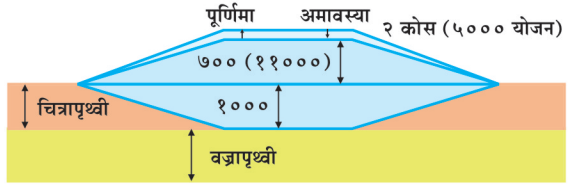

चित्रा पृथ्वी

जम्बूद्वीप

११०००

१६०००

२ लाख योजन

धातकीखण्ड द्वीप

खरभाग १६००० योजन

१०००० जल

१ लाख योजन

ज ल प व न

पंकभाग ८४००० योजन

१ लाख योजन

पवन

वज्रमय भित्तियाँ ५०० योजन मोटाई

१०००० सीमंतक बिल

अब्बहुलभाग ८०००० योजन

लवणसमुद्र के पाताल

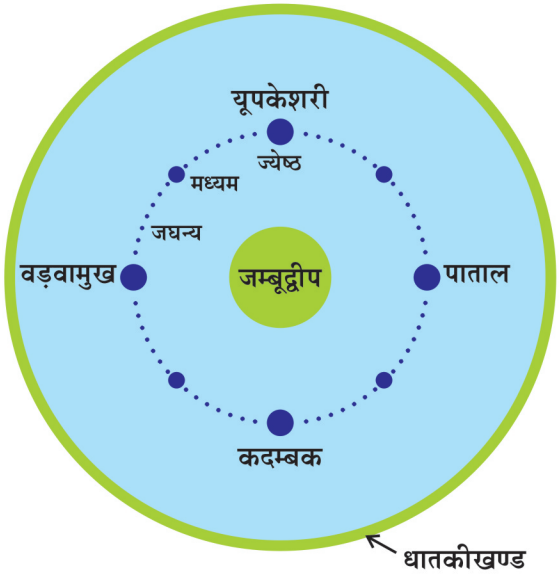

पाताल – योजनों में

पाताल	ऊँचाई	मध्य व्यास	मुख व्यास तल व्यास	भित्तियों की मोटाई
ज्येष्ठ पाताल	१०००००	१०००००	१००००	५००
मध्यम पाताल	१००००	१००००	१०००	५०
जघन्य पाताल	१०००	१०००	१००	५

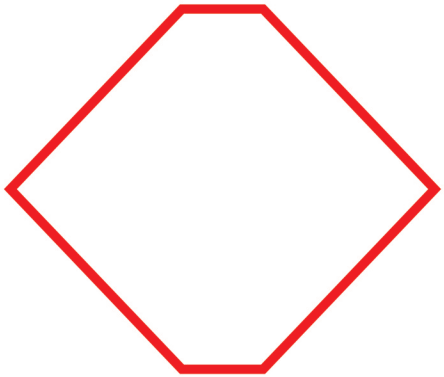

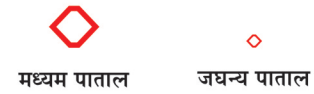

ज्येष्ठ पाताल	–	४
मध्यम पाताल	–	४
जघन्य पाताल	–	१०००
कुल पाताल	–	१००८

कुमानुषद्वीप

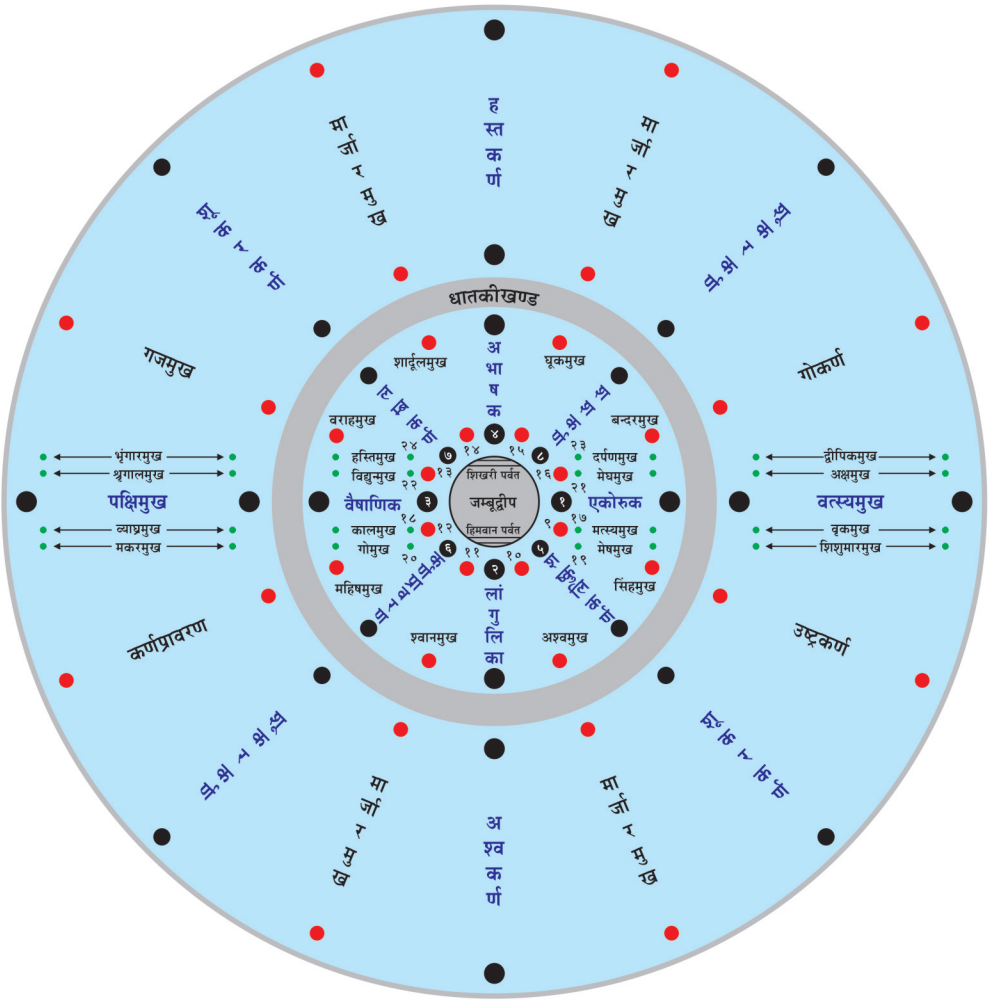
धातकीखण्ड
हस्तकर्ण
अश्वकर्ण
गजमुख
गोकर्ण
पक्षिमुख
वत्स्यमुख
कर्णप्रावरण
उल्कर्ण
शार्दूलमुख
घूकमुख
वराहमुख
बन्दरमुख
हस्तिमुख
दर्पणमुख
विद्युन्मुख
मेघमुख
वैषाणिक
शिखरी पर्वत
जम्बूद्वीप
हिमवान पर्वत
एकोरुक
कालमुख
मत्स्यमुख
गोमुख
मेषमुख
महिषमुख
सिंहमुख
श्वानमुख
अश्वमुख
भृंगारमुख
श्रृगालमुख
व्याघ्रमुख
मकरमुख
द्वीपिकमुख
अक्षमुख
वृकमुख
शिशुमारमुख

सुमेरु पर्वत

४ योजन
४० योजन
चूलिका
१२ योजन

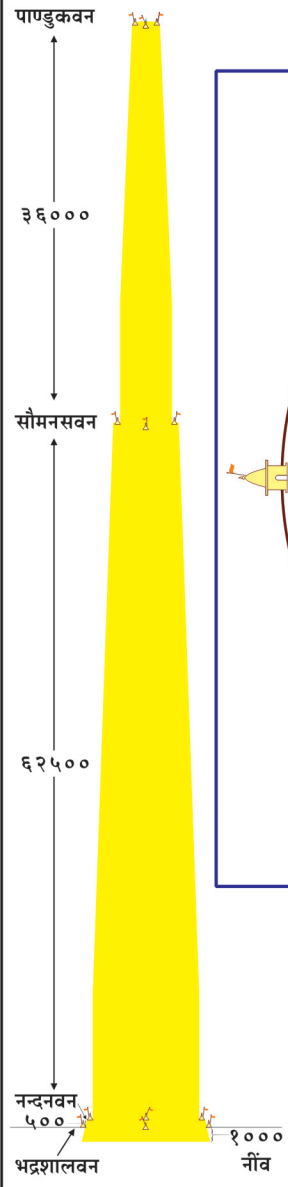
पाण्डुकवन
३६०००
सौमनसवन
६२५००
नन्दनवन
५००
भद्रशालवन
१०००
नींव

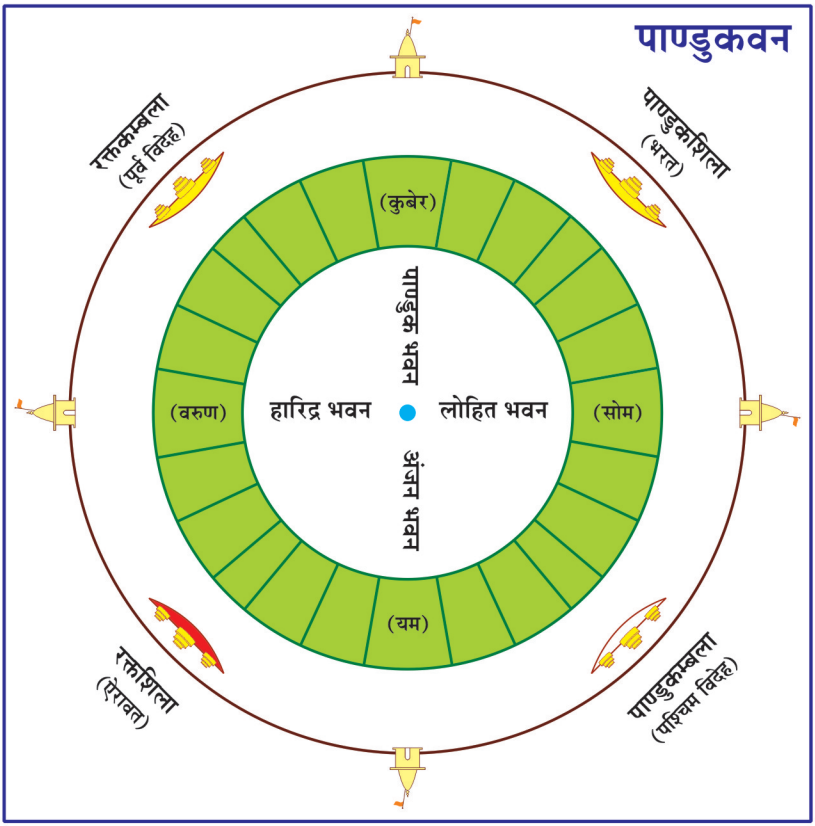
पाण्डुकवन
रक्तकम्बला
(पूर्व विदेह)
पाण्डुकशिला
(भरत)
(कुबेर)
पाण्डुक भवन
हारिद्र भवन
लोहित भवन
अंजन भवन
(वरुण)
(सोम)
(यम)
रक्तशिला
(ऐरावत)
पाण्डुकम्बला
(पश्चिम विदेह)

पाण्डुकशिला
(बाल तीर्थंकर जन्माभिषेक स्थान)
सिंहासन
भद्रासन
(ईशान इन्द्र)
भद्रासन
(सौधर्म इन्द्र)

नन्दीश्वरद्वीप

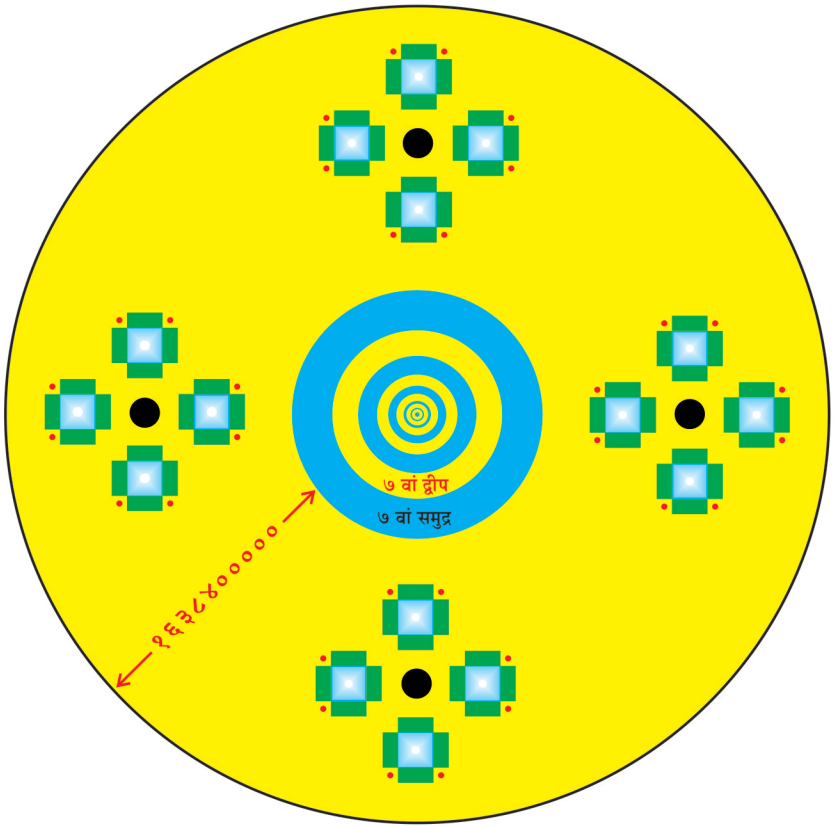
७ वां द्वीप
७ वां समुद्र
१६३८४०००००

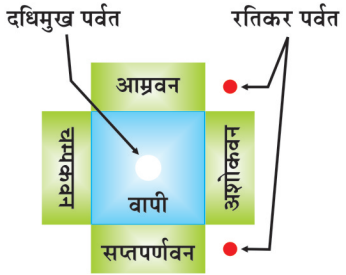
दधिमुख पर्वत
रतिकर पर्वत
आम्रवन
जम्बूवन
वापी
अशोकवन
सप्तपर्णवन

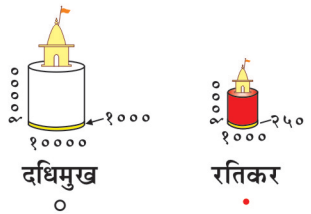
१००००
१०००
१००००
दधिमुख
१०००
२५०
१०००
रतिकर

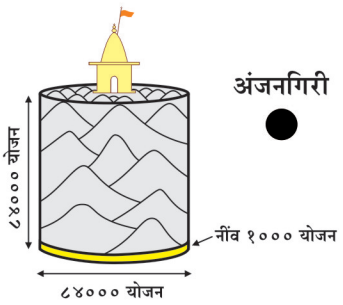
अंजनगिरी
८४००० योजन
नींव १००० योजन
८४००० योजन

पूर्व विदेह

१२.१

नील पर्वत

निषध पर्वत

प्रमुख नदी

भूतारण्य (देवारण्य)

देवारण्य

भद्रशालवन

सीता नदी

वक्षार पर्वत

१ चित्रकूट वक्षार

२ पद्मकूट वक्षार

३ नलिनकूट वक्षार

४ एकशैल वक्षार

५ त्रिकूट वक्षार

६ वैश्रवणकूट वक्षार

७ अंजनशैल वक्षार

८ आत्मांजन वक्षार

विभंगा नदी

१ क च्छा

२ सु क च्छा

३ म हा क च्छा

४ सु क च्छा व ती

५ आ व र्ता

६ लां ग ला व र्ता

७ पु ष्क ला

८ पु ष्क ला व ती

९ व त्सा

१० सु व त्सा

११ म हा व त्सा

१२ व त्स का व ती

१३ र म्या

१४ सु र म्य का

१५ र म णी या

१६ मं ग ला व ती

रक्ता

रक्तोदा

वनवेदी

भद्रशाल वन वेदी

मत्तजला

उन्मत्तजला

तप्तजला

१२.२

पश्चिम विदेह

नील पर्वत

निषध पर्वत

लवण समुद्र

देवारण्य

भूतारण्य (देवारण्य)

भद्रशालवन

सीतोदा नदी

३२ गंधमालिनी	३१ गंधिला	३० सुगंधा	२९ गंधा	२८ वप्रकावती	२७ महावप्रा	२६ सुवप्रा	२५ वप्रा
	१६ देवमाल वक्षार		१५ नागमाल वक्षार		१४ सूर्यमाल वक्षार		१३ चंद्रमाल वक्षार
१७ पद्मा	१८ सुपद्मा	१९ महापद्मा	२० पद्मकावती	२१ शंखा	२२ नलिनी	२३ कुमुद	२४ सरित
	९ श्रद्धावान वक्षार		१० विजटावान वक्षार		११ आशीविष वक्षार		१२ सुखावह वक्षार

भद्रशाल वनवेदी

वनवेदी

नरक बिल

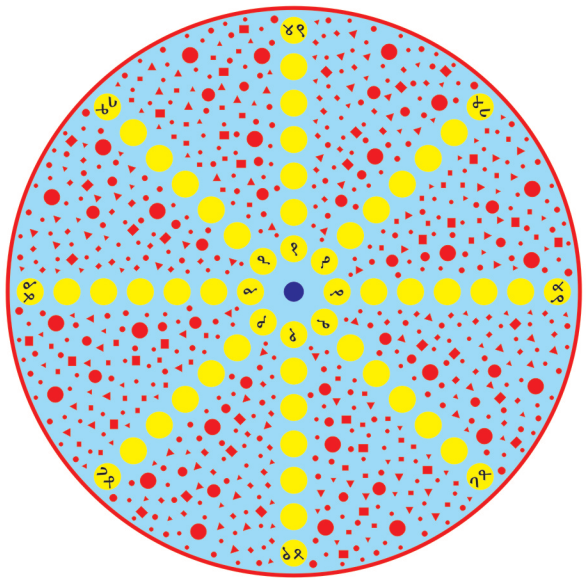

इन्द्रक श्रेणीबद्ध प्रकीर्णक

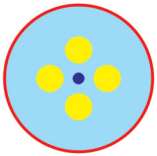

सप्तम नरक

प्रथम नरक का प्रथम पटल

सीमन्तक इन्द्रक – ४५ लाख योजन विस्तार

श्रेणीबद्ध बिल – असंख्यात योजन विस्तार
दिशाओं में ४९, विदिशाओं में ४८

प्रकीर्णक – संख्यात, असंख्यात योजन विस्तार

प्रथम नरक के १३ पटलों के बिल ३० लाख

इन्द्रक		१३
श्रेणीबद्ध	+	४४२०
प्रकीर्णक	+	२९९५५६७
कुल		३०००००

वैमानिक देवों के विमान

अनुत्तर विमान

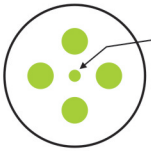

सर्वार्थसिद्धि इन्द्रक – १ लाख योजन

	पटल	विमानों की संख्या
अनुत्तर	१	५
अनुदिश	१	९
ऊर्ध्व ग्रैवेयक	३	९१
मध्य ग्रैवेयक	३	१०७
अधो ग्रैवेयक	३	१११
आनतादि ४	६	७००
शतार युगल	१	६०००
शुक्र युगल	१	४००००
लान्तव युगल	२	५००००
ब्रम्ह युगल	४	४०००००
सानत्कुमार माहेन्द्र	७	१२००००० + ८०००००
सौधर्म ईशान	३१	३२००००० + २८०००००
कुल	६३	८४९७०२३

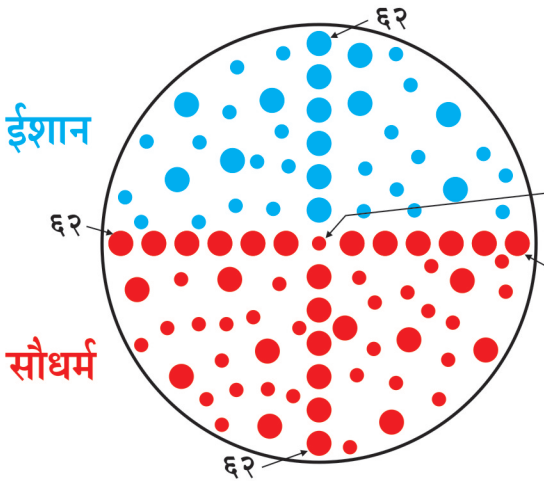

सौधर्म विमान प्रथम पटल
ऋतु इन्द्रक ४५ लाख योजन

श्रेणीबद्ध – दिशाओं में ६२-६२
प्रतिपटल १-१ की हानि

सर्वज्ञप्रणीत
जैन भूगोल

— लेखिका —
डॉ. श्रीमती उज्ज्वला दिनेशचंद्र शहा
एम.बी.बी.एस., डी.सी.एच., डी.जी.पी.

— सम्पादक —
पं. दिनेशभाई शहा
एम.ए., एल.एल.बी.

— प्रकाशक —
वीतरागवाणीप्रकाशक
१५७/९, निर्मला निवास, सायन (पूर्व), मुंबई - ४०० ०२२.
टेलि. : ०२२-२४०७ ३५८१

द्वितीय संस्करण २९ अक्तूबर २०१२ ४००० प्रत
प्रथम संस्करण २००० प्रत
कुल ६००० प्रत

— प्राप्तिस्थान —

वीतरागवाणीप्रकाशक

१५७/९, निर्मला निवास, सायन (पूर्व), मुंबई - ४०० ०२२.

टेलि. : ०२२-२४०७ ३५८१

e-mail : ujwaladinesh@yahoo.com

मूल्य रु. ५०/-

— दातारों की नामावली —

२०००००	श्रीमती स्वाती मधू कलमकर, यू.एस.ए.
१३३२५	श्री नरेश मोता, मुंबई
११०००	श्री अनंतराय अमुलखभाई शेठ, मुंबई
११०००	श्री गौतम एवं सरिता दोडल, औरंगाबाद
११०००	श्री महेन्द्र एवं प्रमिला छेडा, मुंबई
१००००	श्रीमती कुमकुम जैन, ऊना
७५००	श्रीमती दमयंती मणिलाल गाला, देवलाली
७०००	श्री गांगजी गाला, देवलाली
५५००	श्री सिद्गोंडा पाटील, जयसिंगपुर
५५००	श्रीमती स्वरूपा पाटील, जयसिंगपुर
५०००	श्री अभयकुमार पाटील, पुणे
११०१	श्रीमती शारदा इंगळे, कोल्हापुर

MP3 सीडीज् (128 KBPS)(प्रत्येक सी.डी. में १२ घण्टों के प्रवचन हैं)

— पं. दिनेशभाई शहा —

१)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	७ सीडीज्	१३)	समयसार	७५ सीडीज्
२)	बालबोध पाठमाला	४ ,,	१४)	प्रवचनसार	५० ,,
३)	वीतराग विज्ञान पाठमाला	५ ,,	१५)	नियमसार	३६ ,,
४)	तत्त्वज्ञान पाठमाला	५ ,,	१६)	अष्टपाहुड	२५ ,,
५)	गुणस्थान विवेचन	५ ,,	१७)	पंचास्तिकाय*	६ ,,
६)	कारण कार्य रहस्य	१ ,,	१८)	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	१९ ,,
७)	छहढाला	४ ,,	१९)	आत्मसिद्धि	१२ ,,
८)	बृहद् द्रव्यसंग्रह	८ ,,	२०)	समयसार नाटक	१८ ,,
९)	रत्नकरंड श्रावकाचार	१३ ,,	२१)	योगसार	५ ,,
१०)	मोक्षमार्ग प्रकाशक	२३ ,,	२२)	पंचाध्यायी*	८ ,,
११)	अनुभवप्रकाश	८ ,,	२३)	तत्त्वार्थसूत्र	१८ ,,
१२)	इष्टोपदेश	५ ,,	२४)	पुरुषार्थसिद्धिउपाय	६ ,,

२५) परमात्म प्रकाश २५ सीडीज्

— डॉ. उज्ज्वला शहा —

१)	सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका जीवकाण्ड	२५ सीडीज्	११)	पांच भाव (तत्त्वार्थसूत्र)	२ सीडीज्
२)	सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका कर्मकाण्ड	२१ ,,	१२)	कारण कार्य रहस्य	२ ,,
३)	लब्धिसार-क्षपणासार	११ ,,	१३)	प्रमाद के भेद	१ ,,
४)	धवला (पु.१ से १६)	१०२ ,,	१४)	षट्स्थानपतित हानि वृद्धि	१ ,,
५)	जयधवला (पु. १ से १६)	११७ ,,	१५)	संख्यामान	१ ,,
६)	क्रमबद्धपर्याय	४ ,,	१६)	सात तत्त्व	१ ,,
७)	करणानुयोग परिचय	३ ,,	१७)	योग	१ ,,
८)	निमित्त उपादान + पंचपरावर्तन	२ ,,	१८)	महाधवला (पु. १ से ४)	५७ ,,
९)	पंचलब्धि	२ ,,	१९)	जैन भूगोल VCD	२० ,,
१०)	पांच भाव	१ ,,	२०)	भावदीपिका	७ ,,

* ये सीडीज् ३२ kbps की हैं।

— प्रकाशकीय —

आज तक 'जैन भूगोल' का विषय सामान्यत: लोगों से अछूता ही रहा है। लोग इसे अविश्वसनीय ही मानते हैं। 'यह ऐसा कैसे संभव हो सकता है ?' – ऐसा बहुतों का मानना है और वे आजकल के उपलब्ध भूगोल के ज्ञान के साथ केवलज्ञानी ने बतायी हुयी विश्वरचना (जैन भूगोल) की तुलना करके कौनसी बात सच है ऐसा विचार करते हैं। यह तो सर्वज्ञ के केवलज्ञान पर अविश्वास दिखाना है – सर्वज्ञ भगवान का अवर्णवाद है।

आचार्य नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने त्रिलोकसार ग्रंथ की रचना की है, पं. टोडरमलजी ने उसकी संस्कृत टीका के आधार से ढूंढारी भाषा में त्रिलोकसार ग्रंथ की रचना की। उसके तथा अन्य अनेक ग्रंथों के आधार से श्रीमती उज्ज्वलाजी ने जैन भूगोल का विषय अपनी खास शैली में अर्थात् करणानुयोग के अतिगंभीर विषय को द्रव्यानुयोग के सिद्धांतों के साथ–साथ बहुत सरल, सीधी भाषा में आसान करके शिबिर में समझाया था। अनेक श्रोताओं ने और खास करके पंडितों ने उसकी सराहना की और अनेकों ने इसे पुस्तकरूप बनाने की सलाह भी दी।

लेकिन हम अन्य कार्य में व्यस्त थे। पं. टोडरमलजी ने ढूंढारी भाषा में लिखे हुये महान ग्रंथों का – सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका के जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार–क्षपणासार एवं तीनों की अर्थसंदृष्टि का हिन्दी अनुवाद करके उसे प्रकाशित करने का कार्य चल रहा था। वह पूर्ण होने के पहले ही 'जैन भूगोल' पुस्तकरूप से छपाने का विचार मेरे मन में दृढ़ होने लगा और इत्तफाक से. पं. श्री जिनेन्द्र राठी से फोन पर कुछ अन्य काम की बाते हुयी तब मैंने पूछा था कि प्रवचन की V.C.D. सुनकर लिपिबद्ध करनेवाले कौन है? उन्होंने तुरंत मैं ही कर दूंगा ऐसा आश्वासन दिया। 'अंधा मांगे एक आंख उसे दो आंखें मिले' वैसा मेरा हाल हुआ। उन्होंने थोड़े ही दिनों में V.C.D. सुनकर शब्दश: लिखकर भेजा। इतना ही नहीं ऊपर से रु.११००/– दान में भी दिये। ऐसे जीव भी आज के तारीख में जिनवाणी के लिये समर्पित हैं।

लोगों को पता लगते ही दानराशि लिखवाने की होड लगी । मना करनेपर भी उदार मन से अनेकों ने दान दिया। उनका जिनवाणी के प्रति जो अनुराग है उसका यह द्योतक है। हम उन सबके प्रति आभार प्रदर्शित करते हैं। इस शास्त्र को छपवाने में अनेकों ने हमे मदद की है, हम उनके भी ऋणी हैं।

आगम की सेवा करने का मौका हमें बारम्बार मिले यही भावना !

– पं. दिनेशभाई शहा

— हमारे प्रकाशन —

(१)	जैनतत्त्व परिचय	– मराठी, हिन्दी, गुजराती, इंग्लिश	रु. १५/–
(२)	कारण कार्य रहस्य	– मराठी, हिन्दी, गुजराती, इंग्लिश	रु. १५/–
(३)	करणानुयोग परिचय	– मराठी, हिन्दी, गुजराती	रु. १५/–
(४)	पंचलब्धि	– मराठी, हिन्दी, गुजराती	रु. १५/–
(५)	भक्तामरस्तोत्र प्रवचन	– मराठी	रु. १५/–
(६)	स्वानुभव	– मराठी	रु. ६/–
(७)	परमात्मा कसे बनाल !	– मराठी	रु. ६/–
(८)	सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका जीवकाण्ड एवं अर्थसंदृष्टि	– हिन्दी	रु. १५०/–
(९)	सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका कर्मकाण्ड एवं अर्थसंदृष्टि	– हिन्दी	रु. १५०/–
(१०)	सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका लब्धिसार–क्षपणासार एवं अर्थसंदृष्टि	– हिन्दी	रु. १००/–
(११)	जैन भूगोल	– हिन्दी	रु. ५०/–

◆ जैन सिद्धांत : शिबिर १ और २ – Visual 16 DVDs

◆ गुणस्थान : Visual 10 DVDs

◆ सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका जीवकाण्ड : शिबिर १ और २ – Visual 16 DVDs

◆ सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका जीवकाण्ड अर्थसंदृष्टि : Visual 18 DVDs

◆ सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका कर्मकाण्ड : शिबिर १ और २ – Visual 20 DVDs

◆ सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका कर्मकाण्ड अर्थसंदृष्टि : Visual 13 DVDs

◆ सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका लब्धिसार–क्षपणासार शिबिर १ और २ : Visual 22 DVDs

◆ सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका लब्धिसार–क्षपणासार अर्थसंदृष्टि : Visual 16 DVDs

— प्राप्तिस्थान —

वीतरागवाणीप्रकाशक

१५७/९, निर्मला निवास, सायन (पूर्व), मुंबई – ४०० ०२२.

टेलि. : ०२२–२४०७ ३५८१

e-mail : ujwaladinesh@yahoo.com

— मेरी बात —

यह मेरा परम सौभाग्य रहा कि मैं और मेरे पति श्री. दिनेशजी ने जिनवाणी के सभी अनुयोगों का अत्यंत सूक्ष्मता से बारम्बार अध्ययन किया, उसके फलस्वरूप आगम के अनेक विषयों पर मेरे द्वारा लिखने का कार्य हुआ; जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार-क्षपणासार ग्रंथों के सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका ढूंढारी भाषा टीका के हिन्दी अनुवाद किये गये, उन सबको हमने प्रकाशित किया । इतना ही नहीं, मेरे द्वारा लिखे गये पुस्तकों के आधार से मैंने ही अनेक शिबिर लिये, आद्योपांत स्वाध्याय कराया । परंतु यह पहला अवसर ऐसा आया है कि जिस 'त्रिलोकरचना' अर्थात् जैन भूगोल को मैंने शिबिर में बीस घण्टों में पढ़ाया था उसे अब जाकर पुस्तकरूप में लिखकर हम प्रकाशित कर रहे हैं ।

सन २००६ में हमने देवलाली के कहाननगर में 'जैन भूगोल' का शिबिर लिया था । चार दिन में बीस घण्टों में मैंने यह विषय सिखाया था । एक ही वक्ता, एक ही विषय और प्रतिदिन छह-छह घण्टे पढ़ाने की यह हमारी परम्परा तब से हमने प्रारंभ की है जो लोगों को बहुत पसंद आयी । तब से आज तक मैंने और दिनेशजी ने विविध विषयों पर ऐसे १२-१३ शिबिर लिये हैं, जिनकी मांग दिन प्रतिदिन बढ़ रही है । शिबिर के लिये मैंने चौदह रंगीन चार्टस् बनाये थे । अन्य शास्त्रों में चार्टस् तो हैं परंतु सही अनुपात में नहीं होने से मैंने ग्रंथों में वर्णन पढ़कर उसी अनुपात में सें.मी. में कॅलक्यूलेट करके ये सभी चार्टस् बनाये थे । एक-एक चार्ट बनाने में कई घण्टे लगे थे ।

पं. देवेन्द्रकुमारजी जैन, नीमच ने कहा था, 'इस नीरस विषय को आपने अत्यंत रोचक एवं सरल बनाकर प्रस्तुत किया है । इसमें जो तत्त्वज्ञान आपने परोसा है वह सौ प्रतिशत सही है, आपके अध्ययन की सूक्ष्मता एवं गहराई ख्याल में आती है । मैं तो अपने काम के लिये एक दिन के लिये आया था परंतु एक व्याख्यान सुनकर मैं पूरे शिबिर तक रुका और इसका लाभ लिया ।' ब्र. पं. हेमचंदजी तथा ब्र. विमलाबहनजी जो स्वयं करणानुयोग के विद्वान हैं उन्होंने भी पूरे शिबिर में उपस्थित रहकर अंत में बहुत प्रशंसा की थी ।

इस शिबिर की बीस V.C.D. को सुनकर अक्षरशः लिखने का जटिल कार्य पं. श्री. जितेन्द्र राठी ने पूर्ण किया । मैंने इन सभी कॅसेटों को स्वयं सुनकर त्रुटियों को सुधारा, अनेक जगह नये कोष्टक बनाये, उन्हीं बातों को सुचारु रूप से पुनः आद्योपांत पुस्तकरूप से लिखा । व्याख्यान के दौरान लागों ने पूछे हुये प्रश्नों को एवं उसके उत्तरों को उसीरूप में यहां प्रस्तुत किया है । शिबिर के लिये जिन ग्रंथों का मैंने अध्ययन किया था उनके नाम तो प्रथम व्याख्यान में शुरु में ही बताये हैं । यह पुस्तक तो एक नमूना है । जिनागम तो अगाध है । सभी लोग जिनागम का स्वयं अध्ययन करके अपना कल्याण करें यही भावना है ।

– डॉ. उज्ज्वला दि. शहा

— विषयसूचि —

१.	तीन लोक-सामान्य स्वरूप	१
२.	आठ पृथ्वियां, वातवलय	१४
३.	अधोलोक-नरक	२६
४.	नारकियों में गति-आगति	४१
५.	शलाकापुरुष, अन्य शंका समाधान	५५
६.	अधोलोक के देव-भवनवासी	६९
७.	अधोलोक के देव-व्यंतर	७९
८.	ऊर्ध्वलोक-स्वर्गों के विमान	९०
९.	वैमानिक इन्द्र	१०३
१०.	देवों में गति-आगति, मध्यलोक	११५
११.	मध्यलोक : द्वीप-समुद्र	१२६
१२.	जम्बूद्वीप	१३३
१३.	भरतक्षेत्र	१४४
१४.	भोगभूमि, विदेहक्षेत्र	१५०
१५.	विद्याधर, कुभोगभूमि	१६०
१६.	लवणसमुद्र के पाताल	१७०
१७.	ज्योतिष्कविमान	१७९
१८.	पंचमेरु	१९०
१९.	नन्दीश्वर द्वीप	१९७
२०.	अकृत्रिम जिनचैत्यालय-वर्णन	२०४

त्रिलोकरचना – जैन भूगोल

ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमःसिद्धेभ्यः ।
।। ॐ शुद्धात्मने नमः ।।

।। मंगलाचरण ।।

त्रिभुवनसार अपारगुन, ज्ञायक नायकसंत ।
त्रिभुवन हितकारी नमों, श्री अरहंत महंत ।।

तीनभुवन के मुकुट मनि, गुन अनंतमय शुद्ध ।
नमों सिद्ध परमातमा, वीतराग अविरुद्ध ।।

तीनभुवन थिति जानीके, आप आपमय होय ।
परते भयें विरक्त अति, नमों महामुनि सोय ।।

तीनभुवन मंदिर विषैं, अर्थ प्रकासन हार ।
जैन वचन दीपक नमों, ज्ञानकरन गुणधार ।।

तीनभुवन महिं जे लसैं, चैत्य चैत्यग्रहसार ।
ते सब वंदो भावजुत, सुभकारन सुखकार ।।

ऐसे मंगलरूप सब, तिनके बंदे पांय ।
अब किछु रचना कहत हों, नानाविधि सुखदाय ।।

१. तीन लोक-सामान्य स्वरूप

सर्वज्ञ भगवान की वाणी के अनुसार द्वादशांग की जो रचना हुयी है और उस आगम परम्परा में आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने त्रिलोकसार ग्रंथ की रचना की है, उस ग्रंथ की संस्कृत टीका के आधार से पं. टोडरमलजी ने त्रिलोकसार ग्रंथ की ढूंढारी भाषा में भाषाटीका लिखी है । सन १९१८ में प्रकाशित इस ग्रंथ की प्रति हमें कारंजा से प्रज्ञाबहन डोणगावकर से प्राप्त हुयी । दूसरी एक टीका त्रिलोकसार

नाम से विशुद्धमति माताजी ने लिखी है । स्वामी कार्तिकेय द्वारा रचित कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ की लोकभावना अधिकार में तीन लोक का विस्तृत वर्णन है । आगमप्रमाण युक्त 'संयमप्रकाश' ग्रंथ जो सूर्यसागरजी आचार्य द्वारा लिखित है । दिल्ली से प्रकाशित इस ग्रंथ के ४ भाग हैं । तत्त्वार्थसूत्र तथा उस ग्रंथ की अनेक टीकाओं में त्रिलोक का स्वरूप वर्णन किया हुआ है । इन सब ग्रंथों के आधारपूर्वक यहां हम विश्व का स्वरूप – तीन लोक का-तीन भुवन का स्वरूप देखने जा रहे हैं ।

मंगलाचरण में त्रिभुवन के सभी चैत्य-चैत्यालयों को भाव से नमस्कार करके हम विश्व का स्वरूप-त्रिलोक की रचना देखने जा रहे हैं । तीन लोक का सही स्वरूप जानना है तो अलोकाकाश सहित पूरे लोक को प्रत्यक्ष जाननेवाले सर्वज्ञ भगवान ने जो बताया है, वही जानेंगे; क्योंकि वही परमसत्य है, प्रमाण है । रत्नकरंड श्रावकाचार ग्रंथ में स्वामी समंतभद्राचार्य लिखते हैं –

नमः श्री वर्धमानाय निर्धूत कलिलात्मने ।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ।।

जिनके केवलज्ञान में अलोकसहित तीन लोक झलकते हैं अर्थात् सर्वज्ञ भगवान इन तीन लोकों को तथा उनसे अनंतगुणा ऐसे अलोकाकाश को प्रत्यक्ष-स्पष्ट जानते हैं । उन्होंने जो-जो जाना है वह उनकी वाणी में-दिव्यध्वनि में आया है । उनकी वाणी के अनुसार गणधरों ने बारह अंग और चौदह प्रकीर्णक (अंगबाह्य) की रचना की है । सत्यमहाव्रतधारी आचार्यों की परम्परा से ये बातें चली आयी और कालांतर से ये ग्रंथ लिपिबद्ध हुये । इन्हीं जिनागम के आधार से अब हम देखेंगे कि ये तीन लोक क्या हैं ? कहां हैं ? उनमें कौन-कौन से जीव कहां रहते हैं ? हम कहां रह रहे हैं ? सिद्ध भगवान कहां विराजमान हैं ? अरहंत कहां हैं ? हम अनादि से कहां-कहां जन्ममरण करते आये हैं ? कहां-कहां घूमकर आये हैं – देखें तो सही !

किसी को अमेरिका, युरोप, काश्मीर जाना है तो जाने से पहले वह वहां की जानकारी लेता है, आने के पश्चात् भी वहां के फोटो देख-देखकर याद करता है-स्मरण में लाता है । हम भी देखेंगे हम कहां-कहां होकर यहां आये हैं ।

हम स्कूलों में जो भूगोल सीखे हैं, लौकिक में जो वैज्ञानिकों ने बताया है

उसके साथ इसकी तुलना करने की थोड़ी भी कोशिश मत करना, क्योंकि हम तो अल्पज्ञानी हैं-क्षयोपशमज्ञानी हैं । वैज्ञानिकों ने थोड़ी बहुत बातें ढूंढ़ निकाली हैं उन्हीको सही मानकर-स्टँडर्ड मानकर हम सर्वज्ञ की कही हुयी बातों का – उनकी सत्यता-असत्यता का निर्णय करने जाते हैं । क्या आप को पता है कि वैज्ञानिक-सायंटिस्ट किसे कहना ? मैं कहती हूँ कि वैज्ञानिक उन्हीको कहते हैं जिनकी खोज कभी पूरी नहीं होती, वे तो हमेशा कुछ न कुछ नया खोजते रहते हैं, कुछ नया बनाते नहीं हैं । अन्य लोगों से थोड़ा कुछ अधिक जानते हैं परंतु सब कुछ नहीं जानते, जो कुछ जानते हैं उसमें भी बहुत पराधीनता है ।

सर्वज्ञ तो उन्हें कहते हैं जो सब कुछ अर्थात् तीन लोक और अलोक के सभी द्रव्यों को, तीन काल की उन सभी की अवस्थाओं को अपने ज्ञान में प्रत्यक्ष-स्पष्ट एकसाथ एक समय में जानते हैं । विश्व में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो उनके ज्ञान से परे हो; इसलिए हमें सर्वज्ञ के कथन के अनुसार तीन लोक का स्वरूप समझना है । यह परमसत्य है, इसको हमारे लौकिक ज्ञान के आधार से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है । सर्वज्ञ का स्वरूप एवं सर्वज्ञ की सिद्धि यह हमारा वर्तमान का विषय नहीं है, उसकी चर्चा मैंने 'कारण कार्य रहस्य' पुस्तक में विस्तार से की है । सर्वज्ञ भगवान की मात्र पूजा करना, अष्टद्रव्य चढ़ाना, उनकी भक्ति करना उनकी सच्ची श्रद्धा नहीं कहलाती, परंतु उनकी वाणी की-उनके वचन की श्रद्धा करना-विश्वास करना उनकी सही श्रद्धा है ।

त्रिलोकसारादि ग्रंथ देखेंगे तो गणित के ज्ञान और कथन बिना यह रचना कह नहीं सकते; परंतु मैंने सबसे वादा किया है कि मैं गणित छोड़कर त्रिलोकरचना समझाऊंगी । यह कहना ऐसा है कि जैसे मैं मौन रहकर पढ़ाऊंगी । जिनके गणित के प्रति अरुचि है या कुछ समझ में नहीं आता, वे परेशान हो जाते हैं और इसको पढ़ना ही छोड़ देते हैं । परंतु हम यहां एकदम स्थूल लेकिन महत्व की बातें करेंगे, सूक्ष्म चर्चा नहीं करेंगे ।

यहां हमारे में से बहुत से लोग द्रव्यानुयोग के अच्छे जानकार हैं, नियमित स्वाध्यायी हैं । अनेकों के मन में यह सवाल है, कितने ही लोगों ने पूछा भी था कि यह भूगोल जानने से हमारे आत्मा का कल्याण कैसे होगा ? हम त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा

हैं । हम जानते हैं कि त्रिकाली आत्मा को जानने से ही मुक्ति प्राप्त होती है । हमें तो आत्मा को ही जानना है, अन्य बातों को जानने से क्या फायदा ?

आत्मा सबको जाननेवाला द्रव्य है, वह किसे जानता है पता है आपको ? आत्मा स्वद्रव्य और परद्रव्य को भी, स्वक्षेत्र और परक्षेत्र को भी, स्वकाल और परकाल को भी, स्वभाव और परभाव को भी जानता है । उसका सब जानने का स्वभाव है, तो सही-सच जानने का स्वभाव है या गलत जानने का स्वभाव है या नहीं जानने का स्वभाव है ? इसका निर्णय होना आवश्यक है ।

तीन लोक के अस्तित्व के बारे में, उसकी रचना के बारे में क्या आप नि:शंक हैं ? लोग कहते भी हैं कि, 'स्वर्ग-नरक सब झूठी बातें हैं-कल्पना है, लोगों को पाप से हटाकर पुण्य में लगाने के लिये आचार्यों ने ग्रंथ लिखे हैं । क्या आप को किसी मृत व्यक्ति से स्वर्ग या नरक से कोई चिठ्ठी, फोन कुछ आया है क्या ?'

जिसके आस्तिक्य नहीं होता, जिसके नि:शंकित अंग नहीं वह सम्यग्दृष्टी कैसा ?

पं. टोडरमलजी ने भी त्रिलोकसार भाषाटीका की भूमिका में लिखा है "कोई पूछता है कि, 'भूगोल के ज्ञान से हमारा कल्याण कैसे होगा ? इसमें निश्चय धर्म की या व्यवहार धर्म की तो कोई बात ही नहीं आयी है और कल्याण तो धर्म का साधन करने से होता है । इस ग्रंथ में तो क्षेत्रादि का प्रमाण, स्थानों के आकार, नारकादि जीवों की आयु, शरीर इत्यादि का निरूपण है; तो उससे धर्मसाधना कैसे होगी ?'

उत्तर – मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र धर्म हैं । वहां सम्यक्त्व प्रथम धर्म है । सम्यक्त्व की प्राप्ति संशय दूर होनेपर होती है । लोक के बारे में अन्यमतियों की अनेक भ्रामक कल्पनायें हैं । जिनमत में कथित विश्व का सही स्वरूप जानने से आस्रव-बंध के फल नरकस्वर्गादि कहे उनके विशेषों का जानना होता है, आस्रव-बंध के अभाव से संवर-निर्जरा होती है उसका फल मोक्ष है । उन सिद्धों के स्थानादि विशेष जानेंगे तो तत्त्वश्रद्धान में संशय नहीं रहेगा, श्रद्धान दृढ़ होगा ।

दूसरा सम्यग्ज्ञान धर्म है । इस शास्त्र का अभ्यास करने से मिथ्यात्व, कषाय, हिंसादि पाप कार्यों की वृद्धि नहीं होती, हानि ही होती है । इसलिए इसका अभ्यास आप ही में सम्यग्ज्ञानरूप है ।

तीसरा सम्यक्चारित्र धर्म है, वह सराग, वीतराग भेद युक्त है । अशुभ प्रवृत्ति छूटकर शुभ प्रवृत्ति होनेपर सरागचारित्र होता है । कोई इस शास्त्र से अशुभ का फल नरकादि और शुभ का फल स्वर्गादि जानेगा तो हिंसादि पाप को छोड़कर व्रतादि शुभ में प्रवर्तेगा । तथा राग-द्वेष उत्पन्न करानेवाले विचार दूर होनेपर वीतरागचारित्र होता है । लोक के स्वरूप का विचार करने से इस पर्याय संबंधी कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और बिना प्रयोजन (बिना लाभ हानि के) राग-द्वेष क्यों उपजेंगे ? इसलिए वीतरागभाव सहज ही होता है ।

यहां कोई पूछेगा कि, 'इतने विकल्प होनेपर वीतरागता कैसे रहेगी ?' उसका उत्तर – जड़ होनेपर विकल्प दूर होंगे । ज्ञान का स्वरूप तो सविकल्प ही है । किसी ज्ञेय को जानेगा ही, इसलिए ज्ञेय जाननेरूप विकल्पों से वीतरागता का अभाव नहीं होता, जिससे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं ऐसे विकल्पों से वीतरागता का अभाव होता है ।

इस शास्त्र के अभ्यास को कार्यकारी जानकर इसे पढ़ना, वाचना, सीखना, सुनना आदिरूप अभ्यास में तत्पर रहना योग्य है ।"

पं. टोडरमलजी आगे लिखते हैं कि, "अब इस शास्त्र के वक्ता और श्रोता कैसे होने चाहिये वह कहते हैं । प्रथम तो जिनवचन के श्रद्धानी होने चाहिये । यदि श्रद्धानी न हो तो प्रत्यक्ष और अनुमान से अगोचर ऐसे त्रिलोक के स्वरूप को वे कैसे सत्य जानेंगे ? उनके धर्मबुद्धि होनी चाहिये । धर्मबुद्धि न हो तो इसमें अन्य शारीरिक प्रयोजन तो कुछ है नहीं, तो इसमें क्यों लगेंगे ? यदि पांडित्य प्रकट करने के लिये लगेंगे तो कषायभाव से उलटा बुरा होगा । गणितादि ज्ञान सहित होने चाहिये नहीं तो ग्रंथ का अर्थ भासित नहीं होगा । कथन का निर्णय करके तत्त्वज्ञान दृढ़ करने का अभिप्राय जिनके हो, वादादि का अभिप्राय न हो । यदि ऐसा न हो तो ग्रंथ अभ्यास का फल उपयोग निर्मल करना-उसको प्राप्त नहीं होंगे । क्षमा, संतोष, न्यायप्रवृत्ति सहित हो; यदि ऐसे न हो तो शोभा प्राप्त नहीं होगी ।"

पंडितजी आगे लिखते हैं, "यह जैनमत का आगम है – जिनेन्द्र द्वारा कथित है इसलिए प्रमाण है, इसे सिद्ध करने के लिये अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है । इसका श्रद्धान करके इसके अभ्यास द्वारा तत्त्वश्रद्धानी होकर तत्त्वज्ञान को बढ़ाकर रागादि

को घटाकर मोक्षमार्गी हो और सिद्ध अवस्था प्राप्त करो ।"

धर्मध्यान के चार भेदों में संस्थानविचय धर्मध्यान में भी त्रिलोकरचना का-लोक के स्वरूप का चिंतवन होता है । कार्तिकेयानुप्रेक्षा नामक ग्रंथ में बारह भावना अर्थात् अनुप्रेक्षाओं का वर्णन है । उसमें लोकभावना अर्थात् लोकानुप्रेक्षा का विस्तृत वर्णन है । इन भावनाओं का चिंतवन मुख्यरूप से मुनिराज करते हैं, सम्यग्दृष्टि करते हैं । इनका चिंतन तो वैराग्य को उत्पन्न करनेवाला है, आनंद को उपजानेवाला है । छहढ़ाला में भी कहा है, 'वैराग्य उपावन माई चिन्तै अनुप्रेक्षा भाई' । यदि तीन लोक के स्वरूप का चिंतवन बेकार का होता, तो मुनिराज इसका चिंतवन क्यों करते हैं ? उनके टाईमपास नहीं होता था क्या इसलिए उन्होंने इतने बड़े ग्रंथ लिखे हैं ?

विकल्प के नामपर हम इन्हें समझना नहीं चाहते । लोग किससे डर रहे हैं ? विकल्पों से-शास्त्रों के विकल्पों से ? घर-गृहस्थी के विकल्पों से नहीं ! गणित को, करणानुयोग के अभ्यास को विकल्प कहकर छोड़ना चाहते हैं । यह अभिप्राय की बड़ी भूल है । यदि आप जड़-अचेतन हो जाओगे तो विकल्प दूर हो जायेंगे । हम विकल्प के नामपर जड़ होना चाहते हैं । हमें कैसा ज्ञान चाहिये ? ज्ञेय बिना का ! आप मुझे ऐसा दर्पण ला दो जिसमें कोई रिफ्लेक्शन-प्रतिबिम्ब न झलकता हो । अरे, हम उसको दर्पण ही नहीं कहेंगे ! दर्पण का स्वभाव प्रतिबिम्बित करना है वैसे ज्ञान का स्वभाव जानना है, वह सभी ज्ञेयों को जानता ही है ।

ज्ञेय को जानने से ज्ञान ही की तो सिद्धि होती है-प्रसिद्धि होती है । ज्ञानी को तो हर जगह ज्ञान ही ज्ञान दिखायी देता है, क्योंकि ज्ञेय को जाननेरूप ज्ञान ही की परिणति हो रही है । किसी भी चीज़ को जाने-जड़ को जाने, शास्त्र को जाने, अरहंत को जाने, जानने में तो आत्मा ही प्रतिभासित होता है । किसी ज्ञेय को जानने से वीतरागता का अभाव नहीं होता किंतु वहां यदि राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं तो ऐसे विकल्पों से वीतरागता का अभाव होता है, अपना नुकसान होता है ।

लोकानुप्रेक्षा में केवल भूगोल का-भौगोलिक परिस्थिति का वर्णन नहीं है । वहां भी जीवों के भेद, उनकी संख्या, वे कहां रहते हैं, कैसे रहते हैं, कौन-कौनसे जीव कहां जन्म लेते हैं, मरकर कौन कहां जाता है, कौन निर्वाण पा सकता है आदि बहुत

सारी बातें आती हैं; जो हम क्रम से देखने जा रहे हैं । सर्वप्रथम यह लोक कहां है उसे देखते हैं । त्रिलोकसार की गाथा ३ इसप्रकार है –

सव्वागासमणंतं तस्स य बहुमज्झदेसभागम्हि ।
लोगोसंखपदेसो जगसेढिघणप्पमाणो हु ।।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ११५ में बताया है –

सव्वागासमणंतं तस्स य बहुमज्झसंठिओ लोओ ।
सो केण वि णेय कओ, ण य धरिओ हरिहरादीहिं ।।

सर्व आकाश अनंतप्रदेशी है, उसके बहुमध्यभाग में-बीचोंबीच लोक है । यह लोक असंख्यातप्रदेशी है-घनस्वरूप है-लम्बाई, चौड़ाई मोटाईरूप घन है-थ्री डायमेन्शनवाला है । उसका प्रमाण जगत्श्रेणी के घन प्रमाण है – जिसकी चर्चा आगे करेंगे ।

लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिव्वत्तो ।
जीवाजीवेहिं फुढो सव्वागासवयवो णिच्चो ।।

जैनाचार्यों की ऐसी विशेषता है कि जिनमत का कथन करते हुये उसी कथन द्वारा वे परमत का-अन्यमतियों की भ्रामक कल्पनाओं का खंडन-निराकरण करते हैं । **लोक है** कहने से उसके अस्तित्व की सिद्धि होती है और शून्यवादी का निराकरण होता है; एक ब्रह्म ही है, बाकी कुछ नहीं है कहनेवालों के मत का खंडन हो जाता है । अकृत्रिम है किसी ने बनाया नहीं कहने से ईश्वरकर्तावाद का निराकरण होता है । किसीने धारण किया नहीं कहने से इस विश्व को शेषनाग ने धारण किया है ऐसे मत का खंडन होता है । अनादिनिधन है कहने से इस सृष्टि का संहार होगा माननेवालों का निराकरण होता है । जीव और अजीव द्रव्यों से यह लोक भरा हुआ है कहने से सर्व छह द्रव्यों का अस्तित्व सिद्ध होता है, लोक को मायामयी कहनेवालों का निराकरण होता है । सर्व आकाश का अवयव कहने से अलोकाकाश की सिद्धि होती है । नित्य शाश्वत कहने से क्षणिकवाद का खंडन होता है । आकाश के जितने क्षेत्र में धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य व्याप्त हैं, जहां जीव और पुद्गल तथा कालाणु पाये जाते हैं उतने क्षेत्र को लोक कहते हैं, क्योंकि यहां छह द्रव्य लोक्यते यानि अवलोकने में आते हैं-पाये जाते हैं ।

लोकाकाश के जो चित्र हम देखते हैं वैसा कागज जैसा यह फ्लॅट नहीं है । हमने तो उसमें आशीर्वाद देता हुआ एक हाथ देखा है तथा नीचे लिखा है 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' । क्या ऐसा लोकाकाश है ?

लोक तो घनस्वरूप है, थ्री डायमेन्शनल अर्थात् तीन भुजाओंवाला है । उसकी ऊंचाई १४ राजू, चौड़ाई दक्षिणोत्तर सर्वत्र ७ राजू और पूर्व-पश्चिम दिशा में हीनाधिक है । नीचे ७ राजू, मध्य में १ राजू, ऊपर $३\frac{१}{२}$ राजू जाकर चौड़ाई ५ राजू और अंत में फिर १ राजू हो जाती है । पूर्व-पश्चिम की इन चार जगहों का ॲव्हरेज-सरासर होता है (७ + १ + ५ + १) ÷ ४ = $\frac{१४}{४} = \frac{७}{२}$ राजू । अब इन तीन भुजाओं का-लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई का गुणकार करने से हमें लोकाकाश का घनफल मिलेगा । $\frac{\cancel{१४}^{७}}{\cancel{४}_{२}}$ राजू × ७ राजू × $\frac{\cancel{१४}^{७}}{\cancel{४}_{२}}$ राजू अर्थात् ७ राजू × ७ राजू × ७ राजू = ३४३ घनराजू । ७ राजू को जगत्श्रेणी कहते हैं और लोक को जगत्घन कहते हैं ।

आपको प्रश्न पड़ा होगा कि इस राजू का क्या नाप है ? इसका प्रमाण तो बहुत बड़ा है । एक राजू में असंख्यात योजन होते हैं । एक योजन सामान्यरूप से चार कोस का होता है परंतु यहां महायोजन से गिनना जो पांच सौ गुणा बड़ा होता है अर्थात् २००० कोस यानि ४००० मील का एक योजन होता है ।

हमारे आजकल जो अवकाशयान निकले हैं उनका वेग या सूर्य की दूरी हम प्रकाशवर्षों में नापते हैं । जैसे सूर्य आठ प्रकाश मिनट दूरी पर है । परंतु त्रिलोकसार में तो उसकी दूरी ८०० योजन बतायी है । एक राजू जगत्श्रेणी का सातवां भाग है क्योंकि ७ राजू को जगत्श्रेणी कहते हैं । जिसको गणित में रुचि है उनके लिये इसका नाप इसप्रकार है –

अद्धापल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भाग बार घनांगुल को लिखकर आपस

में गुणा करने से जगत्श्रेणी का प्रमाण आता है । किसी संख्या को जितनी बार दो का भाग दे सकते हैं उसको उस संख्या का अर्धच्छेद कहते हैं । जैसे १६ संख्या का अर्धच्छेद ४ है । यहां अंकसंदृष्टि यानि काल्पनिक संख्या मानकर समझाते हैं । यदि हम पल्य को १६ मानेंगे तो उसके अर्धच्छेद बार अर्थात् चार बार पल्य को लिखकर परस्पर गुणा करने से सूच्यंगुल या अंगुल आता है । १६ × १६ × १६ × १६ = ६५५३६ इसीको पण्णठ्ठी कहते हैं । अंगुल का घन घनांगुल है । इसलिए पण्णठ्ठी का घन घनांगुल मानते हैं । पल्य (१६) के अर्धच्छेदों (४) का असंख्यातवां भाग दो मानेंगे । इतनी बार पण्णठ्ठी का घन लिखकर परस्पर गुणा करने से पण्णठ्ठी का घन × पण्णठ्ठी का घन आयेगा । हमने पल्य को १६ माना तब यह जगत्श्रेणी का प्रमाण आया । यथार्थ में तो पल्य मध्यम असंख्यातासंख्यात का एक भेद है । जगत्श्रेणी अर्थात् सात राजू, इसे सात का भाग देनेपर एक राजू का प्रमाण आता है । यथार्थ में यह प्रमाण कितना बड़ा होगा-थोड़ा सोचना ।

यथार्थ में पल्य × पल्य × पल्य ..... (पल्य के अर्धच्छेद बार) = सूच्यंगुल ।

सूच्यंगुल × सूच्यंगुल × सूच्यंगुल = घनांगुल ।

घनांगुल × घनांगुल × घनांगुल ..... (पल्य के अर्धच्छेदों के असंख्यातवें भाग बार) = जगत्श्रेणी ।

जगत्श्रेणी ÷ ७ = १ राजू ।

इस लोक के तीन भेद हैं जिन्हें हम तीन लोक-तीन भुवन-त्रिलोक नाम से जानते हैं – ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक । पूर्व-पश्चिम जहां मध्य में एक राजू चौड़ाई है वहां से नीचे ७ राजू अधोलोक है, ऊपर सात राजू ऊर्ध्वलोक है । बीच में पूर्व-पश्चिम एक राजू और दक्षिणोत्तर सात राजू मध्यलोक है जिसकी ऊंचाई एक लाख और चालीस योजन है, जो सुदर्शन मेरु की ऊंचाई है – जमीन के अंदर एक हजार योजन और ऊपर ९९००० योजन तथा चालीस योजन की उसकी चूलिका है ।

मेरुतल से सात राजू ऊंचा ऊर्ध्वलोक है और सात राजू नीचे अधोलोक है ।

३४३ घनराजू प्रमाण लोकाकाश में असंख्यात प्रदेश हैं उन्हें लोकप्रमाण असंख्यात

कहते हैं । असंख्यात के भी असंख्यात प्रकार हैं । आवली, पल्य, अंगुल, जगत्श्रेणी आदि असंख्यात के ही भेद हैं । जैसे लखपति के लाखों भेद होते हैं । एक लाख रुपये जिसके पास है वह लखपति, अब उसमें एक-एक पैसा ज्यादा करते जाओ तो वे भी लखपति कहलायेंगे । निन्यानबे लाख निन्यानबे हजार नौ सो निन्यानबे रुपये और निन्यानबे पैसे तक के सभी लखपति के या लाखों के भेद होंगे । वैसे असंख्यात में से लोकाकाशवाला असंख्यात समझना ।

एक जीवद्रव्य के भी असंख्यात प्रदेश होते हैं । कितने असंख्यात ? एक लोकप्रमाण असंख्यात होते हैं । प्रत्येक जीव के प्रदेश लोकाकाशप्रमाण असंख्यात होते हैं ऐसे अनंत जीव एक लोकाकाश में रहते हैं । इन सब में संकोच-विस्तार शक्ति होने के कारण तथा परस्पर एकक्षेत्रावगाहपने से रहने के कारण अनंत जीव इसी एक लोक में रहते हैं ।

क्या आप जानते हैं कि ३४३ घनराजू व्यापनेवाले कोई जीव होते हैं ? हां ! केवली समुद्घात में जब लोकपूरण समुद्घात अवस्था होती है तब उस जीव के सर्व प्रदेश पूरे लोकाकाश में फैल जाते हैं – ३४३ घनराजू प्रमाण हो जाते हैं ।

क्या जीव के अलावा भी इस लोक में और कुछ है ? तो अनंतानंत पुद्गल भी हैं । जितने जीव हैं उनसे अनंतानंतगुणे पुद्गलद्रव्य इस लोक में रहते हैं, लोक के बाहर नहीं । पुद्गलों के परमाणु अनंत, दो परमाणुओं के स्कंध अनंत, तीन परमाणुओं के स्कंध अनंत, क्रम से बढ़ते हुये संख्यात, असंख्यात, अनंत परमाणुओं के स्कंध लोक में अनंतानंत पाये जाते हैं । लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में ऐसे अनंत स्कंध एकक्षेत्रावगाहरूप से पाये जाते हैं । पूरे लोकाकाशप्रमाण आकारवाला जो सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त है और जो अनंतानंत परमाणुओं का स्कंध है, उसका नाम है महास्कंध । इस एक महास्कंध में सभी जीव रहते हैं – सभी परमाणु, सभी स्कंध भी पाये जाते हैं । छहों द्रव्य एक दूसरे को अवगाहना देते हैं, फिर भी प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी सत्ता में रहता है ।

इसी लोकाकाश प्रमाण पूरा एक धर्मद्रव्य, तथा एक अधर्मद्रव्य है । लोकाकाश के प्रदेश तो हैं ही, उसके बाहर सभी दिशाओं में अनंतानंत फैला हुआ आकाश है

जिसे हम अलोकाकाश कहते हैं, जहां अन्य द्रव्य नहीं पाये जाते । लोकाकाश के एक-एक प्रदेशपर एक-एक कालद्रव्य स्थित है, एक-एक प्रदेशी असंख्यात कालद्रव्य हैं । जितने लोक के प्रदेश हैं उतने ही कालद्रव्य हैं । इसलिए कालद्रव्यों की संख्या लोकप्रमाण असंख्यात है ।

आपका प्रश्न है कि लोक का आकार बदलता होगा ? अनादि से लोक का आकार वैसा का वैसा है । प्रश्न है कि तो क्या लोकाकाश में परिवर्तन नहीं होता ? होता है, क्योंकि छह द्रव्यों के समूह से लोक बना है । जिसप्रकार द्रव्य नित्य हैं उसप्रकार लोक भी नित्य है और जैसे द्रव्य परिणमनशील हैं, वैसे लोक भी परिणमनशील है । अत: लोक कहने से छह द्रव्य समझ लेना चाहिये । तथापि यहां भौगोलिक रचना की मुख्यता से अब चर्चा करेंगे ।

यहां लोक के तीन विभाग हैं – ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक । आपने त्रसनाली शब्द सुना होगा । इसे त्रसनाड़ी भी कहते हैं । यह त्रसनाली क्या है ? जहां त्रस जीव रहते हैं-पाये जाते हैं वह त्रसनाली है । अनंत जीव लोक में सर्वत्र रहते हैं परंतु त्रस जीव अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव जहां पाये जाते हैं उसे त्रसनाली कहते हैं । त्रस किसे कहना ? हलन-चलन करे उन्हें ? नहीं, त्रसनामकर्म का उदय जिनके होता है उन्हें त्रस जीव कहते हैं ।

स्थावर अर्थात पांचों प्रकार के एकेन्द्रिय जीव अर्थात् पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों को स्थावर कहा जाता है । ये सभी एकेन्द्रिय जीव हैं । स्थावर अर्थात् सभी एकेन्द्रिय जीव पूरे लोक में ३४३ घनराजू क्षेत्र में रहते हैं – उसमें ठसाठस भरे हुये हैं आरै त्रस जीव केवल त्रसनाली में ही रहते हैं । अब त्रसनाली कहां है और कैसी है उसे देखते हैं ।

त्रसनाली चौदह राजू ऊंचाईवाले लोकाकाश के ठीक बीचोंबीच में ऊपर से नीचे तक उतनी ही – चौदह राजू ऊंचाईवाली है । लोकाकाश के ऊपर की ओर से देखनेपर वह मध्य में-सेंटर में है – पूर्व-पश्चिम एक राजू, दक्षिणोत्तर एक राजू ऐसे चौकोररूप है । इसमें ही त्रस जीव अर्थात् द्वीन्द्रियादि जीव रहते हैं । यहां एकेन्द्रिय जीव भी रहते हैं । वे तो पूरे लोक में रहते हैं, लोक में उन्हीं का राज है ।

मेरा प्रश्न है देव कहां रहते हैं ? ऊर्ध्वलोक में ? क्या अकेले ऊर्ध्वलोक में ही देव रहते हैं ऐसा आप कह रहे हो ?

देव तो ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक तीनों ही स्थानों में रहते हैं । अधोलोक में भवनवासी, व्यंतर रहते हैं, मध्यलोक में द्वीप समुद्रोंपर व्यंतरों के आवास हैं, ज्योतिषियों के विमान तो मध्यलोक में ही हैं, ऊर्ध्वलोक में तो अन्य वैमानिक देव रहते ही हैं । इसलिए देव ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक में रहते हैं ।

नारकी कहां रहते हैं ? नारकी अधोलोक में रहते हैं । देव हो या नारकी, त्रसनाली के बाहर तो रहते ही नहीं ।

तिर्यंच कहां रहते हैं ? तिर्यंच पूरे लोक में रहते हैं, क्योंकि एकेन्द्रिय जीव तिर्यंच ही हैं । परंतु कोई पूछे कि विकलेन्द्रिय कहां रहते हैं ? तो वे मात्र कर्मभूमि में ही रहते हैं, पूरे मध्यलोक में नहीं रहते । ढ़ाई द्वीप में जहां कर्मभूमि है वहां विकलेन्द्रिय रहते हैं तथा अंतिम स्वयंभूरमण समुद्र में और स्वयंभूरमण द्वीप के परभाग में भी वे जीव रहते हैं । यह सारी चर्चा विस्तार से बाद में आयेगी । अब देखना है कि हमारा क्षेत्र कहां है ? मनुष्य ढ़ाई द्वीप में रहते हैं जो पैंतालीस लाख योजन व्यासवाला गोल क्षेत्र है-मध्यलोक के बीचोंबीच है ।

चारों गतियों की अपेक्षा मनुष्यों का क्षेत्र ही बहुत छोटा है । मनुष्य के लिये सब कुछ लिमिटेड है-अल्प है । मनुष्यों की संख्या, उनकी आयु, उनका रहने का क्षेत्र, लगातार मनुष्यभव मिलने का काल बहुत अल्प है । मनुष्यपर्याय प्राप्त हो ऐसे भाव होना भी अत्यंत दुर्लभ है । पं. टोडरमलजी कहते हैं कि मनुष्यभव तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अत्यंत दुर्लभ है । तो ऐसा मनुष्यभव प्राप्त करने के लिये अभी हमें क्या करना चाहिये ?

अरे भाई ! अभी हम मनुष्य हैं, इसके लिये कुछ करना नहीं है, दुर्लभ ऐसा मनुष्यभव हमें मिला है उसका अधिक से अधिक सदुपयोग करना है-लाभ उठाना है । शास्त्राभ्यास की मुख्यता तो यहींपर है ।

देखिये, आगे अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी की बात आयेगी । असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल बीतनेपर एक हुंडावसर्पिणी काल आता है, जो निकृष्ट काल है ।

उसमें भी यह पंचमकाल है । ऐसे निकृष्ट से निकृष्ट काल में हमें अत्यंत उत्कृष्ट ऐसी जिनवाणी मिली इसलिए हम महाभाग्यवान हैं । किंतु हम भाग्यवान तभी कहलायेंगे जब हम उसका लाभ उठायेंगे, जिनवाणी के अभ्यास से अपना कल्याण करेंगे, अपना मनुष्यभव सफल करेंगे ।

अब मेरा प्रश्न है कि जैसे ढ़ाई द्वीप के बाहर कोई मनुष्य जा नहीं सकता वैसे ही त्रसनाली के बाहर कोई त्रस जीव जा सकता है या नहीं जा सकता ?

हां, आपका कहना है केवली भगवान समुद्घात करते हैं तो उनके आत्मप्रदेश पूरे लोकाकाश में फैल जाते हैं । सही है । क्या इनके अतिरिक्त भी और कोई त्रस जीव त्रसनाली के बाहर जाते हैं ?

त्रसनाली के बाहर मारणान्तिक समुद्घात करनेवाले त्रस जीव के प्रदेश वहां तक फैलते हैं । कोई मरण के सन्मुख त्रस जीव जो मरकर त्रसनाली के बाहर एकेन्द्रिय में उत्पन्न होनेवाला है उसके आत्मप्रदेश मूलशरीर को छोड़े बिना उपजने के स्थान तक अंतर्मुहूर्त तक फैले रहते हैं उस समय अभी उसकी त्रस की आयु चल रही है । इसलिए हम कहेंगे वह त्रसनाली के बाहर पाया जाता है ।

अब त्रसनाली के बाहर का कोई एकेन्द्रिय जीव मरकर त्रस हुआ तो जब तक वह विग्रहगति में त्रसनाली के बाहर है तब हम उसे त्रस ही कहेंगे क्योंकि विग्रहगति के पहले समय से ही उसकी त्रसपर्याय शुरु हो जाती है ।

चौदह राजू प्रमाण लोक के मध्य में त्रसनाली के शिखरपर यानि टॉपपर पैंतालीस लाख योजन व्यासवाली सिद्धशिला है । वहां पर सिद्धभगवान विराजमान हैं । वह कितनी लम्बी चौड़ी है, सिद्धभगवान कहांपर है, सिद्धशिला के अंदर या बाहर जीव रहते हैं या नहीं इसकी चर्चा हम बाद में करेंगे ।

इसप्रकार हमने लोक के तीन भाग – उर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक तथा त्रसनाली किसे कहना इस बात को समझा । अब हम विदेहक्षेत्र में विराजमान प्रथम तीर्थंकर को वंदन करेंगे ।

बोलिये, श्री सीमन्धरभगवान की जय ।

२. आठ पृथ्वियां, वातवलय

अभी यहां मंगलाचरण में तीन भुवन के मुकुटमणि – ऐसा कहा । यहां मुकुटमणि किसके लिये कहा ? सिद्धों के लिये । सिद्धों को मुकुटमणि क्यों कहा ? सिद्धभगवान तीन लोकों के शिरोमणि हैं अर्थात् लोक के सबसे ऊपरी भाग में विराजते हैं ।

लोक के तीन विभाग – अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक उसका स्वरूप समझने के लिये किये जाते हैं । जैसे आकाशद्रव्य के दो भाग-दो टुकड़े नहीं हैं, एक अखंड आकाश है । किंतु हमें समझने के लिये जहां मात्र आकाशद्रव्य ही पाया जाता है वह अलोकाकाश और आकाश के जितने भाग में अन्य पांच द्रव्य भी पाये जाते हैं ऐसे आकाश के मध्य में उसके अनंतवें भागप्रमाण लोकाकाश ऐसे दो विभाग कहे जाते हैं । लोक कहने से वहां छहों द्रव्य सामिल हो जाते हैं और लोकाकाश तो मात्र आकाशद्रव्य का भाग है । यहां हम लोक की चर्चा कर रहे हैं ।

पिछले एक घण्टे में हमने जो पढ़ा वहां कुछ प्रश्न आये हैं । एक प्रश्न यह है कि लोक के मध्य में-सेंटर में आठ प्रदेश हैं ऐसा कहते हैं, वह क्या है ?

देखिये, लोकाकाश आकाशद्रव्य के बीचोंबीच है । जो सम्पूर्ण आकाशद्रव्य का मध्य-सेंटर है, वही लोकाकाश का सेंटर है । परंतु यह सेंटर एक बिंदु-एक प्रदेश नहीं है, परंतु यहां सेंटर में आठ प्रदेश आते हैं । किसी समसंख्या का सेंटर निकालना हो तो वह एक संख्या नहीं होगी, पूर्णांकों में बताना है तो दो संख्या सेंटर में आयेगी । ये मेरे एक हाथ की पांच उंगलियां हैं, इनमें से सेंटर की कौनसी पूछेंगे तो आप मध्यमा को कहेंगे । अब दोनों हाथों की मिलकर ये मेरी दस उंगलियां हैं, इनमें से सेंटर की उंगली कौनसी है ? ये जो दोनों हाथों के अंगूठे हैं वे सेंटर में हैं, क्योंकि इनकी समसंख्या है । यदि पेपर जैसे एक सतह पर सेंटर निकालना होगा तो दोनों तरफ समसंख्या होनेपर सेंटर में चार बिंदु आयेंगे और यदि घन होगा-क्यूब होगा तो उसके सेंटर में आठ बिंदु आयेंगे ।

लोक थ्री डायमेन्शनवाला-तीन भुजाओंवाला है-घन है और उसकी तीनों भुजायें समसंख्या में हैं । ऊंचाई १४ राजू है यह समसंख्या है । ७ राजू में ७ संख्या

मत देखना वह एक जगत्श्रेणी है वह भी समसंख्या है-वर्गरूप संख्या है, वर्गधारायें समसंख्या हैं । इसलिए तीन तरफ से दो-दो-दो २ × २ × २ कुल आठ प्रदेश होते हैं ।

ये मध्य के आठ प्रदेश सुमेरु पर्वत के तल में पाये जाते हैं । त्रसनाली के बीचोंबीच अथवा मध्यलोक के जम्बूद्वीप के मध्य में सुमेरु पर्वत १ लाख ४० योजन ऊंचाईवाला है । इसकी एक हजार योजन जमीन में नींव है और वहां का जो सेंटर है वह लोक का सेंटर है । केवली समुद्घात के समय उस जीव के मध्य प्रदेश भी लोक के इन्हीं मध्य प्रदेशों पर आ जाते हैं । भले ही वह केवली कहीं पर भी विराजमान हो, भरतक्षेत्र में शिखरजी पर स्थित हो या विदेह या ऐरावत में हो परंतु यदि वह जीव केवली समुद्घात करता है तो पूरे लोक में उसके प्रदेश फैलेंगे । लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर उस जीव का एक-एक प्रदेश स्थित होगा । इसकारण उस जीव के सेंटर के प्रदेश लोकाकाश के सेंटर पर ही आयेंगे । यह आपके प्रश्न का उत्तर हुआ ।

शास्त्र में संख्या बताने के लिये बहुत सारे शब्द ऐसे हैं, जिन्हें उपमामान कहते हैं-उपमा देकर वह माप समझाया जाता है वह उपमामान है । जैसे आवली, पल्य, सागर, अंगुल, घनांगुल, जगत्श्रेणी, जगत्प्रतर, जगत्घन । पल्य क्या है ? गड्ढे की उपमा देकर असंख्यात को समझाया है । एक योजन चौड़ा (व्यासवाला) और एक योजन ऊंडा एक गर्त-पल्य-गड्ढा करना । उसको उत्तम भोगभूमि में जन्मे हुये सात दिन तक के मेंढ़ों के बालों के अग्रभागों से-अग्र अर्थात अंतिम भाग जिसका दूसरा विभाग नहीं हो सकता ऐसे सबसे छोटे खंडों से-रोमखंडों से खचाखच भरना । यहां के-भरतक्षेत्र के मेंढ़ों के बाल नहीं चलेंगे क्योंकि उत्तम भोगभूमिवाले मेंढ़े के बाल से यहां के मेंढ़े का बाल पांच सौ बारह गुणा मोटा होता है । सौ वर्षों के बाद एक-एक रोमखंड निकालना । जब वह गड्ढा खाली होगा, उसके जितने समय हुये वह व्यवहारपल्य है । उसे असंख्यात करोड़ वर्षों के समयों से गुणा करनेपर उद्धारपल्य होता है जिसमें द्वीप समुद्रों की संख्या नापते हैं और उसको भी असंख्यात वर्षों के समयों से गुणा करनेपर अद्धापल्य होता है, जिसमें कर्मों की स्थिति, देव-नारकियों की आयु आदि

नापते हैं । ऐसे १० कोडाकोडी अद्धापल्यों का एक अद्धासागर होता है । ऐसे दस कोडाकोडी सागरों का एक अवसर्पिणी और उतना ही उत्सर्पिणी काल होता है और दोनों मिलकर कल्पकाल कहलाता है जो बीस कोडाकोडी सागर का होता है ।

पूरे लोक का क्षेत्रफल-घनक्षेत्रफल हमने देखा था । तीन भुजाओं को गुणा करने से वह आता है । जैसे हम किसी से पूछते हैं कि आपका घर कितना बड़ा है तो वह स्क्वेअर फूट (वर्गफूट) में बताता है । वहां दो भुजाओं का गुणाकार होता है । यहां ऊंचाई से भी गुणा करके घनफल निकालते हैं ।

अब हम उसके तीन विभागों का-तीन भुवनों का घनफल अलग-अलग निकालेंगे । ऊर्ध्वलोक की ऊंचाई ७ राजू और दक्षिणोत्तर चौड़ाई भी सर्वत्र ७ राजू है परंतु पूर्व-पश्चिम चौड़ाई असमान है । नीचे १ राजू, ३$\frac{१}{२}$ राजू ऊंचाई पर ५ राजू और ऊपर घटते-घटते अंत में फिर एक राजू ।

यहां ५ + १ = ६; ६ ÷ २ = ३ राजू ॲव्हरेज चौड़ाई है । ऊंचाई तो ७ राजू है । दक्षिणोत्तर भी ७ राजू है । घनक्षेत्रफल = ३ × ७ × ७ = १४७ घनराजू है ।

या दूसरी पद्धति से करना हो तब इसके एक खडी और एक आड़ी लकीर बीचोंबीच खीचेंगे तो इसके चार टुकडे होंगे । 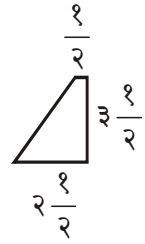

ऐसे दो टुकडे उलटा करके जोड़नेपर 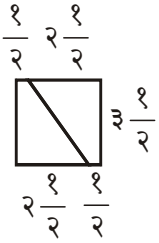

मिलकर ३$\frac{१}{२}$ × ३ हुये । ऐसे ही ऊपर, नीचे के मिलकर

७ × ३ हुये । दक्षिणोत्तर ७ से गुणा करनेपर ऊर्ध्वलोक का घनफल ३ × ७ × ७ घनराजू आता है = १४७ घनराजू ।

अब अधोलोक का घनफल निकालते हैं । नीचे ७ राजू और ऊपर १ राजू, ॲव्हरेज ७ + १ = ८, ८ ÷ २ = ४ राजू चौड़ाई है । दक्षिणोत्तर ७ राजू है । इसलिए अधोलोक का घनफल ४ × ७ × ७ = १९६ घनराजू है ।

पूरे लोक का घनफल १४७ + १९६ = ३४३ घनराजू होता है ।

मध्यलोक का घनफल १ राजू × ७ राजू × १ लाख ४० योजन है । मेरुतल से लेकर मेरु के शिखर तक इसकी ऊंचाई है । इसे ही तिर्यक् कहते हैं । यह ऊर्ध्वलोक के ही सबसे नीचे का हिस्सा है ।

अब हम यहाँ चार्ट नं. १ के आधार से लोक में जो आठ पृथ्वियां हैं उन्हें देखेंगे । सात पृथ्वियां अधोलोक में और एक पृथ्वी ऊर्ध्वलोक में है । पृथ्वी कहते ही हमारे मन में लौकिक भूगोल में सीखा हुआ पृथ्वी का गोल याद आता है ।

सबसे पहले पृथ्वी किसे कहना ? उसकी परिभाषा क्या है ? इसे देखते हैं । जो लोकाकाश के एक सीरे से दूसरे सीरे तक अर्थात् एक ओर से दूसरी ओर अंत तक फैली है वह पृथ्वी है । पूर्व से पश्चिम तक और दक्षिण से उत्तर तक वातवलयों को छोड़कर लोकाकाश के अंत तक आड़ी चौकोर फैली है उसे पृथ्वी कहते हैं । जहां हम रहते हैं - जिस पृथ्वी के ऊपर हम रहते हैं वह पूर्व-पश्चिम एक राजू चौड़ी और दक्षिणोत्तर सात राजू है, वह लोकाकाश के सभी अंतों को छू रही है । इसकी मोटाई में भवनवासी, व्यंतर रहते हैं, नारकियों के बिल भी इसमें पाये जाते हैं ।

इसीप्रकार एक-एक राजू के अंतराल से सात पृथ्वियां अधोलोक में हैं और आठवीं पृथ्वी जिसका नाम ईषत् प्राग्भार है वह लोक के ऊपरी भाग में स्थित है । इस आठवीं पृथ्वी के बीचोंबीच सिद्धशिला है जो पृथ्वी का ही एक भाग है । यह सिद्धशिला पैंतालीस लाख योजन प्रमाण-मनुष्यक्षेत्र जितनी छोटी है ।

चार्ट नं. १ में देखना – उसमें पूर्व-पश्चिम चौड़ाई नीचे की पृथ्वियों में बढ़ती जाती है, दक्षिणोत्तर चौड़ाई तो सर्वत्र ७ राजू प्रमाण समान ही है परंतु इनकी मोटाई

नीचे क्रम से घटती जाती है । इनके नाम और मोटाई क्रम से इसप्रकार हैं –

(१) रत्नप्रभा पृथ्वी – १ लाख ८० हजार योजन ।
(२) शर्कराप्रभा पृथ्वी – ३२ हजार योजन ।
(३) वालुकाप्रभा पृथ्वी – २८ हजार योजन ।
(४) पंकप्रभा पृथ्वी – २४ हजार योजन ।
(५) धूमप्रभा पृथ्वी – २० हजार योजन ।
(६) तमप्रभा पृथ्वी – १६ हजार योजन ।
(७) महातमप्रभा पृथ्वी – ८ हजार योजन ।
(८) ईषत्प्राग्भार पृथ्वी – ८ योजन ।

आठवीं पृथ्वी - ईषत्प्राग्भार लोक के शिखरपर है जिसकी मोटाई आठ योजन है, जो पूर्व-पश्चिम १ राजू और दक्षिणोत्तर ७ राजू चौड़ी है । इसके बीचोंबीच सिद्धशिला है जो मध्य में ८ योजन मोटी है, ४५ लाख योजन व्यासवाली है, अंत में मक्खी के पंख समान पतली हो जाती है । हम तो चांद जैसी बताते हैं । जरा सोचो, १ योजन के लिये १ मिलिमीटर समझो तो ४५ लाख योजनों के ४५००००० मिलिमीटर अर्थात् ४.५ किलोमीटर इतने विस्तार में उसका कर्व्हेचर-उसका गोलाकार नहीं के बराबर होगा ।

मेरा प्रश्न है कि उस सिद्धशिला में कितने सिद्ध जीव पाये जाते हैं ? अनंत ? कहां है, सिद्धशिला के अंदर हैं या ऊपर ?

सुनो, सिद्धशिला में कोई सिद्ध जीव नहीं है, वह तो पृथ्वी की रचना है । सिद्धशिला के ऊपर तीन वातवलय होते हैं और अंतिम वातवलय में सिद्ध भगवान विराजमान हैं । यदि सिद्धशिला में जाना चाहते हो तो पृथ्वीकायिक होना पड़ेगा । वहां तो पांचों प्रकार के एकेन्द्रिय जीव रहते हैं । वैसे हम बहुत बार सिद्धशिला रिटर्न्ड हैं । सिद्धशिला का वर्णन त्रिलोकसार गाथा ५५७, ५५८ में किया है । यह सफेद शिला है, इसका ऊपर का तल तो समान है, नीचे छत्राकार है-कटोरे के समान है । इसके ऊपर और नीचे जो वातवलय हैं उनकी चर्चा हम बाद में करेंगे ।

अधोलोक को देखते हुये एक राजू से प्रारंभ होकर नीचे सात राजू तक उसकी चौड़ाई क्रम से बढ़ती गयी है । इसमें एक-एक राजू के अंतराल से सात पृथ्वियां हैं । पहली पृथ्वी से एक राजू नीचे जाकर दूसरी पृथ्वी, दो राजू नीचे जाकर तीसरी पृथ्वी इस क्रम से छह राजू नीचे जाकर सातवीं पृथ्वी स्थित है । सभी पृथ्वियां दक्षिणोत्तर सात राजू चौड़ी हैं तथापि उनकी पूर्व-पश्चिम चौड़ाई नीचे बढ़ती जाती है । पहली पृथ्वी की चौड़ाई एक राजू है । अधोलोक नीचे सात राजू है और ऊपर एक राजू है अर्थात् वह छह राजू बढ़ा अर्थात् प्रत्येक राजूपर $\frac{६}{७}$ यानि छह सप्तमांश यानि छह बटे सात राजू बढ़ते-बढ़ते सात बार बढ़कर $\frac{६}{७} \times ७ = ६$ राजू बढ़ता है । पृथ्वियां भी एक-एक राजू पर अर्थात् प्रति पृथ्वी $\frac{६}{७}$ राजू बढ़कर सात पृथ्वियां छह राजू तक पायी जाती हैं ।

प्रत्येक पृथ्वी कितनी नीचे है और उसकी पूर्व-पश्चिम चौड़ाई कितनी है वह निम्नप्रकार से समझ सकते हैं ।

पहली पृथ्वी, उसकी चौड़ाई १ राजू

दूसरी पृथ्वी १ राजू नीचे है, उसकी चौड़ाई $\frac{१३}{७}$ राजू = $१\frac{६}{७}$ राजू

तीसरी पृथ्वी २ राजू नीचे है, उसकी चौड़ाई $\frac{१९}{७}$ राजू = $२\frac{५}{७}$ राजू

चौथी पृथ्वी ३ राजू नीचे है, उसकी चौड़ाई $\frac{२५}{७}$ राजू = $३\frac{४}{७}$ राजू

पांचवीं पृथ्वी ४ राजू नीचे है, उसकी चौड़ाई $\frac{३१}{७}$ राजू = $४\frac{३}{७}$ राजू

छठवीं पृथ्वी ५ राजू नीचे है, उसकी चौड़ाई $\frac{३७}{७}$ राजू = $५\frac{२}{७}$ राजू

सातवीं पृथ्वी ६ राजू नीचे है, उसकी चौड़ाई $\frac{४३}{७}$ राजू = $६\frac{१}{७}$ राजू

एक नंबर के चार्ट में आप देखना । हर बार हमने $\frac{६}{७}$ मिलाकर उसका प्रमाण निकाला है । इसप्रकार ये पूर्व-पश्चिम चौड़ाई में तो क्रम से बढ़ती जाती हैं परंतु मोटाई में घटती जाती हैं । ऊपर की पृथ्वी अधिक मोटी है, नीचे-नीचे की पतली हैं । उसकी मोटाई हमने पहले देखी है, अब भी चार्ट में देख सकते हैं । इन पृथ्वियों के नाम हमने पहले देखे थे, इन्हीं के अन्य नाम इसप्रकार हैं – (१) धर्मा, (२) वंशा, (३) मेघा, (४) अंजना, (५) अरिष्टा, (६) मघवी, (७) माघवी ।

अब पहली पृथ्वी में क्या है देखते हैं । हम तो पृथ्वी के ऊपर रहते हैं । असंख्यात द्वीप-समुद्र भी पृथ्वी के ऊपर हैं । हमने पहली पृथ्वी की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन देखी थी । उसके तीन विभाग हैं । (१) ऊपर का खरभाग सोलह हजार योजन मोटाईवाला, (२) बीच में पंकभाग चौरासी हजार योजन मोटाईवाला और (३) सब से नीचे अब्बहुलभाग अस्सी हजार योजन मोटाईवाला है ।

इसप्रकार सात पृथ्वियां नीचे और आठवीं ईषत्प्राग्भार पृथ्वी पूरे लोकाकाश के ऊपर के भाग में एक राजू × सात राजू चौड़ी और आठ योजन मोटी फैली है जिसके मध्य में पैंतालीस लाख योजन प्रमाण सिद्धशिला है ।

यह पृथ्वियों का अल्प परिचय हुआ । जहां अधोलोक की और नरकों की बात आयेगी, वहां उनकी विस्तार से चर्चा करेंगे ।

अब मेरा प्रश्न है कि सम्पूर्ण लोक को तथा अलोकाकाश को आधार किसका है ? क्या कोई वस्तु आधार के बिना रह सकती है ? आधार आवश्यक है या नहीं ?

सुनिये, विश्व की प्रत्येक वस्तु स्वयं अपने आधार से है परंतु व्यवहार में, उपचार से, पर की सापेक्षता से हम कहते हैं कि वस्तु किसी के आधार से स्थित है । यह कथन व्यवहार कथन है, वस्तु अपने से-अपने आधार से रहती है यह निश्चय कथन है-रिऍलिटि है ।

ये सभी पृथ्वियां और लोकाकाश भी बिना किसी आधार से हैं । लोकाकाश

सभी ओर से वातवलयों से लिपटा हुआ है-वेष्टित है । लोकाकाश का आकार अनादि से वैसे का वैसा बना हुआ है । पूरे लोक में व्याप्त एक महास्कंध पाया जाता है । लोकाकाश प्रमाण उसी आकारवाला यह महास्कंध आठ पृथ्वियां तथा इनके अंतराल में पाये जानेवाले सूक्ष्म पृथ्विकायिकों के शरीर इनका मिला हुआ एक अखंड स्कंध है । उसमें आठ पृथ्वियां तो दिखायी देती हैं - वे स्थूल हैं परंतु उनके अंतराल में जो सूक्ष्म पृथ्वी है वह दिखायी नहीं देती । इसका अर्थ हम उस पृथ्वी में रहते हैं, चलते हैं ।

पूरे लोक को चहूं ओर से अर्थात् दशों दिशाओं से लिपटे हुये तीन वातवलय हैं । घेरे हुये होने से वलय और वायु के हैं अतः वात; इसकारण वे वातवलय कहलाते हैं । लोक के नीचे उसका तल ७ राजू × ७ राजू है । वहां २०००० – २०००० – २०००० योजनों के तीन वातवलय हैं । उसीप्रकार नीचे के एक राजू प्रमाण पार्श्वभाग में भी बीस-बीस हजार योजनों के तीन वातवलय हैं । घनोदधिवातवलय अंदर की ओर है, घनवातवलय बीच में है तथा तनुवातवलय बाहर की ओर है ।

सातवीं पृथ्वी के निकट पार्श्वभाग में चहूं ओर से लिपटे हुये इन वातवलयों की चौड़ाई क्रम से ७, ५ और ४ योजन होकर कुल १६ योजन होती है । मध्यलोक के निकट पार्श्वभाग में चहूं ओर इनकी चौड़ाई क्रम से ५, ४, ३ योजन होती है । ब्रह्मस्वर्ग के पार्श्वभाग में यह बढ़कर क्रम से ७, ५, ४ योजन होती है और पश्चात् क्रम से घटकर लोक के शिखर के पार्श्वभाग में यह क्रम से ५, ४, ३ योजन हो जाती है । लोक के शिखर पर आठवीं पृथ्वी के ऊपर इनकी चौड़ाई क्रम से २ कोस घनोदधिवातवलय की, १ कोस घनवातवलय की और १५७५ धनुष अर्थात् १ कोस में ४२५ धनुष कम तनुवातवलय की है ।

आठों ही पृथ्वियों के नीचे-प्रत्येक के नीचे बीस-बीस हजार योजनवाले तीन-तीन वातवलय हैं । परंतु केवल आठवीं पृथ्वी के ही ऊपर भी तीन वातवलय हैं । चार्ट नं. २ देखिये । यहां पृथ्वियों को काले रंग में बताया है और वातवलयों को नीले, पीले, लाल रंगों की लकीरों द्वारा बताया है । पृथ्वी के नीचे पहला घनोदधिवातवलय है, उसके नीचे घनवातवलय है और उसके नीचे तनुवातवलय है । इसके और इसके नीचे की पृथ्वी के बीच असंख्यात योजनों का अंतराल है ।

लोकाकाश के तल में ७ राजू × ७ राजू × ६०००० योजन वातवलयों का घनफल है । इन वातवलयों में सभी पृथ्वियों का वजन सहन करने की ताकाद है, सभी पृथ्वियां जहां कि तहां स्थित हैं, इधर-उधर नहीं होती । पूरे लोकाकाश का वजन, पृथ्वियों का वजन इन वातवलयों पर निर्भर है । पहली पृथ्वी में पहला नरक, दूसरी में दूसरा नरक इसप्रकार छह राजू नीचे स्थित सातवीं पृथ्वी में सातवां नरक है । उसके नीचे एक राजू प्रमाण निगोद है, उसे निगोद की कलकल भूमि कहते हैं । यहां निगोद जीव ठसाठस भरे हुये हैं । इस एक राजू प्रमाण क्षेत्र को भी पार्श्वभाग में अर्थात् चारों साईडस् में बीस-बीस हजार यानि कुल साठ हजार योजन प्रमाण वातवलयों ने घेरा हुआ है ।

आठवीं पृथ्वी के ऊपर पृथ्वी को लगते हुये घनोदधिवातवलय २ कोस चौड़ाईवाला, बीच में घनवातवलय १ कोस चौड़ाईवाला और अंत में बाहरी ओर तनुवातवलय १५७५ धनुष चौड़ाईवाला है जो मैंने पहले भी बताया है । ये सर्व नाप महाधनुष, महाकोस और महायोजनों के होते हैं, जो सामान्य धनुष, कोस और योजनों से पांच सौ गुणा बड़े होते हैं । सामान्य योजन चार कोस का है, यह महायोजन २००० कोस का होता है । दो हजार धनुष का एक कोस होता है । यहां १५७५ धनुष कहा यह महाधनुष है यह सामान्य धनुष से पांच सौ गुणा होने से यह तनुवातवलय १५७५ × ५०० = ७८७५०० धनुष है । यहां सिद्ध भगवान अंत में विराजमान हैं । सब सिद्धों के आत्मप्रदेश ऊपर से एक लेव्हल में हैं, परंतु उनकी अवगाहना-लम्बाई, चौड़ाई तथा खड़गासन-पद्मासन आदि आकार अलग-अलग होते हैं । कोई पूर्वाभिमुख होते हैं तो कोई उत्तराभिमुख होते हैं । सिद्धों की अधिक से अधिक अवगाहना ५२५ धनुष होती है । यह सामान्य धनुष है, महाधनुष नहीं है ।

तनुवातवलय के बाहुल्य (मोटाई) के पंद्रह सौ खंड करेंगे तो एक खंड प्रमाण भाग में सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना जानना ७८७५०० ÷ १५०० = ५२५ धनुष तथा उस मोटाई के नौ लाख खंड करेंगे तो एक खंड प्रमाण सिद्धों की जघन्य अवगाहना का प्रमाण जानना, ७८७५०० ÷ ९००००० = $\frac{७}{८}$ जो सात बटे आठ धनुष प्रमाण अर्थात् साढ़ेतीन हाथ प्रमाण होती है ।

आपका प्रश्न है यह धनुष, हाथ, अंगुल आदि क्या है ? चलो, पहले इसे देखते हैं । अनंतानंत परमाणुओं का स्कंध अवसन्नासन्न नामधारक है । उससे आठ-आठ गुणे बड़े ऐसे सन्नासन्न, तृटरेणु, त्रसरेणु, रथरेणु, उत्तम भोगभूमिवालों के बाल का अग्रभाग, मध्यम भोगभूमिवालों के बाल का अग्रभाग, जघन्य भोगभूमिवालों के बाल का अग्रभाग, कर्मभूमिवालों के बाल का अग्रभाग, लीख, सरसो, यव और अंगुल ये बारह चीजें होती हैं । इस अंगुल को उत्सेधांगुल कहते हैं । इसके द्वारा नारकी, मनुष्य, देव आदि के शरीर, देवों के नगर, मंदिर इत्यादि का प्रमाण का वर्णन है । इस उत्सेधांगुल से पांच सौ गुणा प्रमाणांगुल होता है जो भरतक्षेत्र में अवसर्पिणी के पहले चक्रवर्ती के अंगुल-तर्जनी की चौड़ाई का प्रमाण होता है । इसके द्वारा द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदी आदि के प्रमाण का वर्णन करते हैं । भरत, ऐरावत क्षेत्रों में अलग-अलग काल वर्तते हैं, वहां के मनुष्यों का अपने-अपने वर्तमान काल में जो अंगुल का प्रमाण होता है उसे आत्मांगुल कहते हैं । इसके द्वारा मनुष्यों के मंदिर, नगर, झारी, कलश आदि का प्रमाण बताया जाता है ।

६ अंगुल का १ पाद, २ पाद की १ विलस्ति, २ विलस्ति का १ हाथ, २ हाथ की १ बीख, २ बीख का १ धनुष, २००० धनुष का १ कोस और ४ कोस का १ योजन होता है । ये सब उत्सेधांगुल के प्रमाण से लाते हैं तो सामान्य धनुष, कोस, योजन होंगे और यदि मूल में ही प्रमाणांगुल के प्रमाण से लाते हैं तो वह महाधनुष, महाकोस, महायोजन का प्रमाण होगा ।

आत्मांगुल का प्रमाण तो अपनी-अपनी अवगाहना के प्रमाण में-उस अनुपात में-प्रपोर्शन में पाया जाता है । आदिनाथ तीर्थंकर की अवगाहना ५०० धनुष और महावीर की ७ हाथ (१ धनुष और ३ हाथ) तो सर्वार्थसिद्धि के देवों की १ हाथ प्रमाण ऊंचाई होती है, उसके अनुसार उनके आत्मांगुल का प्रमाण होगा । बच्चों का, युवानों का अपना-अपना आत्मांगुल का प्रमाण अलग-अलग होगा ।

अब वातवलयों की बात निकली है तो थोड़ा केवलीसमुद्घात को समझेंगे । मूल शरीर को छोड़े बिना आत्मप्रदेशों का बाहर फैलना समुद्घात कहलाता है । तेरहवें गुणस्थान के अंतिम अंतर्मुहूर्त में आयु कर्म से अन्य तीन अघाति कर्मों की

स्थिति अधिक हो तो सब की एक समान स्थिति होने के लिये केवली समुद्घात होता है । इसके पहले समय में केवली के आत्मप्रदेश लोकाकाश के ऊपर से नीचे तक वातवलयों को छोड़कर - नीचे ६०००० योजन और ऊपर ३ कोस और १५७५ धनुष छोड़कर कुछ कम १४ राजू ऊंचाईवाले, शरीरप्रमाण व्यासवाले दंडाकार फैलते हैं इसे दंड समुद्घात कहते हैं । दूसरे समय में कपाट समुद्घात कहते हैं इसकी मोटाई तो शरीरप्रमाण रहती है, परंतु आड़े लोकाकाश के अंत तक - पार्श्वभाग के वातवलयों को छोड़कर-वहां तक फैलते हैं । पूर्व की तरफ मुंह हो तो दक्षिणोत्तर फैलते हैं, उत्तर की तरफ मुंह हो तो पूर्व-पश्चिम फैलतै हैं । तीसरे समय में आगे-पीछे भी सर्वत्र वातवलयों को छोड़कर लोक के अंत तक फैलते हैं इसे प्रतर समुद्घात कहते हैं । चौथे समय में वातवलय सहित लोक के अंत तक सर्वत्र फैल जाते हैं । इसे लोकपूरण समुद्घात कहते हैं । पांचवें समय में फिर प्रतर, छठवें समय में कपाट, सातवें समय में दंड और आठवें समय में मूल शरीर में प्रवेश करते हैं । सभी केवलियों के ऐसा समुद्घात नहीं होता ।

इसतरह हमने वातवलयों की जानकारी ली । घनोदधिवात गोमूत्र समान वर्णवाला है, घनवात मूंग के समान वर्णवाला है और तनुवात अनेक वर्णोंवाला है । सारा लोक वातवलयों के आधार से है । शास्त्रों में भी आता है घनोदधिवातवलय घनवातवलय के आधार से है और घनवातवलय तनुवातवलय के आधार से है; तथा तनुवातवलय आकाश के आधार से है । यह केवल सापेक्ष कथन है । वस्तुस्थिति तो ऐसी है कि अधिकरण गुण होने से सब अपने-अपने आधार से रहते हैं । सिद्धों के बारे में भी कहेंगे कि वे सिद्धक्षेत्र में रहते हैं, जीव मोक्ष में गया परंतु मोक्ष नाम का कोई स्थान नहीं है, वह तो जीव की अवस्था है, हमें सभी को इस अपनी अवस्था को ही प्राप्त करना है ।

किसी का प्रश्न है कि इस एक नंबर के लोकाकाश के नक्शे में त्रसनाली नीचे तक क्यों नहीं गयी, बीच में ही क्यों लटकती है ?

इसका उत्तर ऐसा है कि त्रसनाली की ऊंचाई चौदह राजू है । यदि हम केवल सामने से देखते जैसे दो नंबर के चार्ट में दिखाया है, तो ऊपर से नीचे तक बताते । यहां दक्षिणोत्तर सात राजू के बीच में स्थित यह १ राजू × १ राजू प्रमाणवाली त्रसनाली ऊपर से लोक के तल तक फैली हुयी है । आप जो चार्ट में देख रहे हैं वह

लोक का तल है-बेस है । थ्री डायमेन्शन होने से वह ऐसा लगता है । ऊपर से नीचे तक नापो, यहां मेरे चार्ट में जो यहां बोर्ड पर लगाया है – १ राजू के लिये ४ सें.मी. नाप लेकर गिनकर ये सारे चार्टस् बनाये हैं । आपके हाथ में तो इनके झेरॉक्स है, छोटे आकारवाले हैं ।

किसी का प्रश्न है कि ये पल्य, राजू आदि के बड़े-बड़े प्रमाणों की कल्पना नहीं कर सकते, इनकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? यह बात तो हमने पहले ही विस्तार से बता दी है । ये सारी बातें सर्वज्ञ भगवान ने प्रत्यक्ष जानकर बतायी हैं । हम अल्पज्ञानी हैं, उनके कथन के अनुसार रचित जिनागम से ये बातें हम जान सकते हैं । जिनागम प्रमाण है । हम अपने अल्पज्ञान से उसको सिद्ध नहीं कर सकते । कोई बच्चा समुद्र का पानी कटोरी से नापना चाहता है, वह कैसे सम्भव हैं ? हां, यह जानने से सर्वज्ञ के केवलज्ञान की महत्ता तो आवे !

हमें जो बातें मालूम नहीं हैं वे बातें हैं ही नहीं, सर्वज्ञ कोई होते ही नहीं कहना उस कुएं के मेंढ़क के समान है । वह कथा तो सबको मालूम है । कुएं में रहनेवाला मेंढ़क एक बार बाहर चला जाता है, जाते-जाते समुद्र के तट पर पहुंचता है । वहां समुद्र का पानी देखकर आश्चर्य से चकित हो जाता है । वापस लौटकर अपने साथियों को समुद्र का वर्णन सुनाता है तो उसका कोई विश्वास ही नहीं करता । हम भी इसे शांति से सुनें, समझें । आज मोबाईल और कॉम्प्युटर सायन्स द्वारा जो अन्वेषण हुये हैं क्या आज से ५०-६० वर्ष पहले आपको ही इसकी कल्पना हो सकती थी ?

हम यहां बहुत ही स्थूल कथन कर रहे हैं । इनके गणित इतनी सूक्ष्मता से बताये हैं । जैसे गोल, चौकोर, त्रिकोण क्षेत्र का क्षेत्रफल निकालना है; तो उसमें तो आज के विज्ञान द्वारा कुछ अन्य उत्तर आयेगा ऐसा तो नहीं है । इसके गणित और उनकी पद्धति को देखते हैं तो आज के मॉडर्न गणित भी उसके सामने कुछ नहीं है यह बात ख्याल में आती है । विस्तार की रुचिवालों को मूल शास्त्रों से-आगम ग्रंथों से जानने की जरूर कोशिश करनी चाहिये । अब अपना समय पूरा हो गया है, इसलिए यहां रुकते हैं ।

बोलिये, विदेहक्षेत्र में विराजमान दूसरे तीर्थंकर श्री युगमन्धर भगवान की जय ।

३. अधोलोक-नरक

त्रिलोकसार के आधार से तीन भुवन की रचना हम यहां देख रहे हैं । दो घंटों में हमने ऊर्ध्व, मध्य, अधोलोक का थोड़ा स्वरूप देखने का प्रयत्न किया । किसी ने कहा बहुत कठीन लग रहा है, आप तो हमें सीधे सिद्धशिला तक पहुंचा दो । परंतु अपना नरक पहुंचना आसान है, इसलिए पहले नरक में जायेंगे जहां बहुत बार घूम चुके हैं, वहां की चर्चा समझना आसान है । हमें तो तीन भुवनों को जानना है । पहले क्या-क्या देखा उसको दोहराते हैं-रिव्हिजन करते हैं ।

हमने देखा कि आकाशद्रव्य अनंत-अनंत-अनंत-अनंतप्रदेशी है । अनंत अर्थात् कितना अनंत ? हमने सिद्धांत प्रवेशिका में सीखा था । जीव अनंत हैं, उनसे अनंत गुणे पुद्गलद्रव्य हैं, उनसे अनंतगुणे तीन काल के समय हैं, उनसे अनंतगुणे आकाशद्रव्य के प्रदेश हैं और उनसे भी अनंतगुणे प्रत्येक द्रव्य के-जीवद्रव्य के-पुद्गलद्रव्य के-अन्य सभी द्रव्यों के गुण हैं ।

यह जो अनंतप्रदेशी आकाशद्रव्य है उसके मध्य में आकाशद्रव्य के अनंतवें भाग प्रमाण क्षेत्र में अन्य पांचों द्रव्य पाये जाते हैं, उसे लोकाकाश कहते हैं, जो असंख्यातप्रदेशी है । लोकाकाश में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल द्रव्य पाये जाते हैं आकाशद्रव्य तो वह स्वयं ही है । इन छह द्रव्यों के समूह को लोक कहते हैं । लोक के बाहर अनंतप्रदेशी आकाशद्रव्य है जिसे अलोकाकाश कहते हैं ।

लोकाकाश में दिखनेवाला द्रव्य-रूपीद्रव्य तो एक ही है जो पुद्गलद्रव्य है, परंतु सर्वज्ञ भगवान तो सभी-छहों द्रव्यों को देखते-जानते हैं । उस लोक की रचना कैसी है यह हम सर्वज्ञ भगवान की वाणी के अनुसार जान रहे हैं । यह प्रमाण है – इसे अन्य प्रमाण द्वारा सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है । आप मुझे बताना, आप के गांव में सूरज ऊगता है, तो आप कौनसा टॉर्च-कौनसा दीपक लेकर वह ऊगा है या नहीं देखते हैं ? जो सबको प्रकाशित करता है ऐसे दैदिप्यमान सूर्य को देखने के लिये अन्य दीपक क्या काम का ?

यह लोक असंख्यातप्रदेशी है । ऊपर से नीचे तक उसकी ऊंचाई चौदह राजू,

दक्षिणोत्तर चौड़ाई सर्वत्र सात राजू, पूर्व-पश्चिम चौड़ाई नीचे सात राजू, मध्यलोक के पास एक राजू, वहां से साढ़े तीन राजू ऊपर जाकर ब्रह्मस्वर्ग के पास पांच राजू और सबसे ऊपर लोकाग्र में एक राजू है ।

यह लोकाकाश दशों दिशाओं में वातवलयों से लिपटा हुआ है । वे वातवलय सबसे नीचे बीस-बीस-बीस हजार योजन मोटाईवाले हैं । सातवीं पृथ्वी के पार्श्वभाग में सात, पांच, चार योजन हैं, मध्यलोक के पार्श्वभाग में थोड़े कम – पांच, चार, तीन योजन हैं फिर ऊपर बढ़ते हैं और पुनः कम हो जाते हैं । आठों पृथ्वियों के-प्रत्येक के नीचे भी बीस हजार योजन मोटाईवाले तीन-तीन वातवलय हैं । लोकाग्र में आठवीं पृथ्वी एक राजू और सात राजू चौड़ाईवाली है इसके ऊपर भी वातवलय हैं । पहला घनोदधिवातवलय दो कोस, घनवातवलय एक कोस और तनुवातवलय पंद्रह सौ पचहत्तर धनुष है । दो हजार धनुष का कोस होता है । यह महाधनुष, महाकोस, महायोजन की बात है । उसमें पांच सौ पच्चीस धनुष सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना है, जो सामान्य धनुष है महाधनुष नहीं है । सभी सिद्ध तनुवातवलय के अंतिम भाग में स्थित हैं ।

फिर प्रश्न है कि सिद्धशिला किसे कहते हैं ? क्यों कहते हैं ? उसके ऊपर सिद्ध जीव नहीं है, उसके अंदर भी नहीं हैं, तो उसे सिद्धशिला या सिद्धक्षेत्र क्यों कहते हैं ? देखिये, सिद्धशिला पैंतालीस लाख योजन विस्तारवाली-व्यासवाली है । इतने पैंतालीस लाख योजनवाला और क्या है ? हां मनुष्यलोक है-ढ़ाईद्वीप है - मनुष्य यहां रहते हैं ।

चार गतियों में से कौन से गति से जीव सिद्धपद को प्राप्त करते हैं ? क्या नारकी, तिर्यंच, देव उसी गति से मोक्ष जा सकते हैं ? देवों को तो सिद्धशिला अत्यंत नजदीक है, तो क्या उन्हें वहां से मोक्ष हो सकता है ? सर्वार्थसिद्धि नामक देवों के विमान से तो सिद्धशिला बारह योजन ऊपर है, उन्हें तो कितना नजदीक है फिर भी देव वहां नहीं जा सकते । सर्वार्थसिद्धि से सिद्धशिला का अंतर एक बाल के बराबर है ऐसा कई पुस्तकों में आता है-कोई कहता भी है परंतु यह बात सर्वथा गलत है । मेरुपर्वत से एक बाल बराबर ऊपर पहला स्वर्ग है – यह बात जरूर सत्य है । पहले स्वर्ग का पहला पटल सुमेरु पर्वत की चूलिका से एक बाल की मोटाई जितने अंतर पर स्थित है यह बात सही है, परंतु सर्वार्थसिद्धि से बारह योजन ऊपर सिद्धशिला है, बाल के बराबर अंतरपर नहीं ।

अन्य किसी भी गति से जीव मोक्ष नहीं जा सकता, मुनि भी नहीं हो सकता । तिर्यंच पांचवें गुणस्थान तक जा सकते हैं, देव और नारकी चौथे गुणस्थान तक ही जा सकते हैं । मनुष्य चौदहवें गुणस्थान तक जाकर पश्चात् सिद्ध भगवान हो सकते हैं । मनुष्यलोक पैंतालीस लाख योजन विस्तारवाला है और उसमें कहीं से भी जीव मोक्ष जा सकता है ।

आपका प्रश्न हो सकता है कि भोगभूमि में तो कोई सिद्ध होनेवाले जीव नहीं है, ना ही वहां कोई मुनिराज हैं, वहां तो केवल चौथे गुणस्थान तक के ही जीव हैं और भोगभूमि के सभी जीव मरकर देवगति में ही जन्म लेते हैं, तो फिर पैंतालीस लाख योजन मनुष्यक्षेत्र से कहीं से भी जीव मोक्ष जाते हैं, यह बात कैसे हो सकती है ?

उसका उत्तर है – जब कोई मुनिराज ध्यान में लीन हो तो पूर्वभव के कोई वैरी देव उन्हें उठाकर मनुष्य लोक में कहीं पर भी पटक देते हैं । समुद्रों में, पहाड़ों पर, भोगभूमि में आदि कहीं पर भी डाल सकते हैं । वहां पर वे मुनिराज क्षपकश्रेणी मांडकर अरहंत अवस्था प्राप्त कर सिद्ध अवस्था प्रकट करते हैं और आकाश की उसी श्रेणी में ऊर्ध्वगमन करके सिद्धालय में विराजमान होते हैं । उन जीवों की अपेक्षा पैंतालीस लाख योजन मनुष्यक्षेत्र में ऐसी कोई जगह नहीं है, जहां से जीव मोक्ष न गये हो, सब जगह से गये हैं, यहां से भी ।

तो फिर हम तीर्थक्षेत्रों, सिद्धक्षेत्रों की वंदना क्यों करते हैं ? वहां क्यों जाते हैं ? क्योंकि वहां से हमें सिद्धों का विशेष स्मरण होता है कि यहां से ये महापुरुष सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुये हैं । परंतु ढ़ाई द्वीप में ऐसी कोई जगह नहीं है जहां से जीव मोक्ष नहीं गये हो । जन्मत: कर्मभूमि का चौथे काल का जीव ही मोक्ष जायेगा । इसप्रकार पैंतालीस लाख योजन व्यासवाला गोलाकार मनुष्यलोक है और इतनी ही सिद्धशिला है, ढ़ाई द्वीप के समान गोलाकार है और उसीके ऊपरी वातवलय में सिद्ध जीव स्थित हैं, अत: उसे सिद्धशिला कहते हैं ।

सिद्धशिला तो पृथ्वीकायिक रचना है-पृथ्वी है-पत्थर है-शिला है । उसे धवल, सफेद, श्वेत कहो, संगमरमर अथवा स्फटिक की कहो, सब पत्थर ही तो है । हमें माहात्म्य सिद्धशिला का आता है, वहां तो पांचों ही स्थावर जीव रहते हैं, सूक्ष्म जीव

भी रहते हैं । वहां कोई जीव जन्म लेगा तो पृथ्वीकायिक या अन्य कायिक स्थावर जीव ही होगा । अनंत सिद्ध भगवान तनुवातवलय में स्थित हैं, जहां उनके आत्मप्रदेश हैं, वहां उन प्रदेशों में भी पांचों प्रकार के स्थावर जीव विद्यमान हैं ।

तो मेरा प्रश्न है कि वे जीव बड़े भाग्यवान होंगे ? सिद्धों के अनंतसुख में से इन जीवों को भी थोड़ा सुख मिलता होगा ? वहां के परमाणु, कोई व्हायब्रेशन के कारण इन जीवों को जल्दी मोक्ष होता होगा ?

प्रत्येक जीव अपने-अपने प्रदेशों में-अपने स्वक्षेत्र में-स्वचतुष्टय में अर्थात् अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में रहता है । एक ही क्षेत्र में निवास करनेपर भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, कोई असर नहीं पडता, कोई मदद, हेराफेरी नहीं कर सकता । सिद्धक्षेत्र में रहनेवाले सिद्ध जीव अनंतसुखी हैं परंतु उसी क्षेत्र में रहनेवाले स्थावर जीव अनंतदुखी हैं ।

मेरा और एक प्रश्न है कि हम अभी अरहंतों के पास नहीं जा सकते परंतु अरहंत तो हमसे मिलने आ सकते हैं या नहीं ?

उत्तर – हां, वे यहां तक आ सकते हैं । दोपहर में हमने देखा था कि जब केवली समुद्घात होता है तो पूरे लोकाकाश में उनके आत्मप्रदेश फैल जाते हैं । जहां हम बैठे हैं वहां भी उनके प्रदेश फैलते हैं । एक समय में अधिक से अधिक चालीस जीव केवली समुद्घात कर सकते हैं; परंतु उनके आने से हमें कुछ लेना-देना नहीं है । हम तो अपने राग-द्वेष में मशगुल हैं उसके कारण दुखी हो रहे हैं । उनके और हमारे आत्मप्रदेश एक ही क्षेत्र में आने से कोई फर्क नहीं पड़ता ।

आपके प्रश्नों के उत्तर में यह सब चर्चा चली । अब हम थोड़ा अधोलोक का वर्णन देखेंगे । हमने अधोलोक में जो सात पृथ्वियां हैं उनके नाम, विस्तार और मोटाई देखी थी । यहां हम पृथ्वियां कह रहे हैं, नरक नहीं । ये सभी पृथ्वियां लोकाकाश के एक अंत से दूसरे अंत तक-पार्श्वभाग के वातवलयों तक फैली हुयी हैं । उनमें रहनेवाले बादर पृथ्वीकायिकों की बात अलग है । यहां हम उन पृथ्वियों के अंदर क्या-क्या है ? कैसी रचना है ? आदि बातें देखेंगे ।

पहली पृथ्वी का नाम रत्नप्रभा पृथ्वी है । एक नंबर के चार्ट में इन सभी पृथ्वियों

के नाम, मोटाई, चौड़ाई, नरकों के पटलों एवं बिलों की संख्या, इन पृथ्वियों के अन्य नाम लिखे हुये हैं । इस पहली पृथ्वी की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन है । इसके तीन भाग हैं । इसका पहला अर्थात् ऊपर का भाग खरभाग है जो सोलह हजार योजन मोटाईवाला है, दूसरा पंकभाग चौरासी हजार योजन का है और तीसरा अब्बहुलभाग अस्सी हजार योजन का है । पहले खरभाग में सोलह पृथ्वियां हैं । एक-एक पृथ्वी हजार-हजार योजन प्रमाण मोटी है, जो लोक के अंत तक फैली हुयी है तथा इनके बीच में कोई अंतराल नहीं हैं । इनके नाम ऊपर से नीचे तक इसप्रकार हैं – (१) चित्रा, (२) वज्रा, (३) वैडूर्या, (४) लोहिता, (५) कामसारकल्पा, (६) गोमेदा, (७) प्रवाला, (८) ज्योतीरसा, (९) अंजना, (१०) अंजनमूलिका, (११) अंका, (१२) स्फटिका, (१३) चंदना, (१४) सर्वर्थका, (१५) बकुला, (१६) शैला ।

खरभाग और पंकभाग में भवन पाये जाते हैं, वहां भवनवासी और व्यंतर रहते हैं । असुरकुमार को छोड़कर शेष नौ प्रकार के भवनवासी देव ऊपर के खरभाग में रहते हैं, वहां व्यंतरों के भी भवन हैं । बीच में पंकभाग में असुरकुमार जाति के भवनवासी तथा राक्षस जाति के व्यंतर रहते हैं । भवनवासियों, व्यंतरों का प्रकरण आयेगा तब हम उनकी चर्चा करेंगे ।

हम अधोलोक के अकृत्रिम चैत्यालयों की पूजन करते हैं-नमस्कार करते हैं वे भवनवासियों के भवनों में हैं । ये भवन कहां हैं ?

मध्यलोक में एक राजू × एक राजू की जो त्रसनाली है उसमें असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं । इनमें से मध्य के ढ़ाई द्वीप और उनमें दो समुद्र हैं उन्हें छोड़कर अर्थात् मनुष्यलोक को छोड़कर उसके बाहर जो असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं, उनके नीचे भवन पाये जाते हैं । मनुष्यलोक के नीचे कोई भवन नहीं हैं ।

पहली पृथ्वी के नीचे का भाग जिसका नाम है अब्बहुलभाग जो अस्सी हजार योजन का है, उसमें पहले नरक के पटल पाये जाते हैं । पटल अर्थात् प्रस्तर-लेयर्स, जैसी हमारी मंज़िले होती हैं, परंतु नरकों के पटलों की गिनती ऊपर से नीचे की ओर करते हैं । इनमें नरकों के बिल पाये जाते हैं । देखो, पृथ्वियों के अंदर भवनवासियों के भवन और नरकों के बिल पाये जाते हैं । वैसे देखा जाये तो दोनों ही पृथ्वी के

अंदर हैं, बाहरी ओर कोई कनेक्शन-सुराग नहीं, सीढियां नहीं, खिडकियां नहीं हैं । इनकी ऐसी समानता होनेपर भी भवनवासी रहते हैं उन्हें भवन कहते हैं और नारकी रहते हैं उन्हें बिल कहते हैं । ऐसा भेदभाव-ऐसी पार्शालिटि क्यों ? आप रहते हो वह महल और हम रहते हैं वह झोपडी, ऐसा क्यों ?

इसका जवाब यह है कि नारकी जीव पापी हैं और पाप के कारण उसका फल भोगने जा रहे हैं । वहां की भूमि, वातावरण, गुफायें, वृक्ष, नदी, शारीरिक पीड़ा देनेवाले अनेक यंत्रादि सामग्री जहां हैं उसे बिल कहते हैं । जैसे चूहा रहता है उसे बिल कहते हैं, घर नहीं कहते ।

इस अस्सी हजार योजनवाले अब्बहुल भाग में पहला नरक है जिसके अनेक पटल-पाथडे हैं । एक के नीचे एक ऐसे पहला, दूसरा, तीसरा आदि पटल हैं और एक-एक पटल में लाखों बिल होते हैं । इस अस्सी हजार योजन की मोटाई में से ऊपर का एक हजार योजन छोड़ देना और नीचे का भी एक हजार योजन छोड़ देना । इसके बीच में पहले नरक के तेरह पटल हैं । यह मात्र पहले नरक की बात है । दो पटलों के बीच में भूमि है । वैसे तो एक-एक नरक बिल संख्यात-असंख्यात योजनों के होते हैं । इन तेरह पटलों में तीस लाख बिल पाये जाते हैं । पहले नरक में कुल तीस लाख बिल हैं, वहां जीवों की संख्या भी सबसे ज्यादा है । सातवें नरक से लेकर क्रम से दूसरे नरक तक के नारकियों की संख्या असंख्यातगुणा-असंख्यातगुणा है – प्रत्येक में असंख्यात है और उन सबको मिलाकर जितनी संख्या है उससे भी असंख्यातगुणा नारकी पहले नरक में हैं ।

उसमें भी प्रत्येक नरक में असंख्यात सम्यग्दृष्टि हैं । पहले नरक में तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरकर सम्यक्त्व के साथ जन्म लेता है, परंतु अन्य सभी मिथ्यात्व में जन्म लेकर वहां जाने के बाद सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं । वहां इतनी प्रतिकूलता होनेपर भी सम्यक्त्व प्राप्त होता है । सम्यग्दर्शन का ठेका केवल मनुष्यगति में ही नहीं है, चारों गतियों के जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं ।

हम तो पहले संयोगों को ठीक करने में जुड़ जाते हैं । स्वाध्याय करने की बात आती है तो कहते हैं हम भी आप जैसे बूढ़े हो जायेंगे तो स्वाध्याय करेंगे । अभी तो

हमारे कमाने के दिन हैं, बाद में जरूर फुरसत से स्वाध्याय करेंगे । मैं तो हमेशा कहती हूँ कि मुझे ऐसा एक भी नौजवान नहीं मिला जो कहता हो कि अभी मेरे कमाने के दिन हैं, मैं बुढ़ापे में शादी करूंगा । अरे, वह पैसे भी कमाता है, शादी भी करता है, बच्चे भी होते हैं, उनकी देखभाल भी करता है । वहां कोई रुकावट नहीं आती परंतु स्वाध्याय नहीं करना है इसलिए बहाने बनाता है ।

अब तेरह पटलों में तीस लाख बिल किस प्रकार होते हैं उसे देखते हैं । इसके लिये तेरह नंबर का चार्ट देखिये ।

प्रत्येक नरक के प्रत्येक पटल में अनेक बिल होते हैं, उनमें से मध्य में-सेंटर में जो बिल है उसे इन्द्रक बिल कहते हैं । एक-एक पटल में अपना-अपना इन्द्रक बिल है उनके अलग-अलग नाम हैं । शास्त्रों में वे नाम प्रसिद्ध हैं । हम यहां उसकी चर्चा नहीं करेंगे; परंतु इन्द्रक किसे कहना, श्रेणीबद्ध किसे कहना, प्रकीर्णक किसे कहना इसकी चर्चा करेंगे ।

जो सबसे मध्य में है, उसे इन्द्रक बिल कहते हैं । चार्ट में इसे लाल रंग में दिखाया है । उसके पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर दिशाओं में तथा आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान्य इन विदिशाओं में भी पंक्तियों में-लाईनबद्ध बिल होते हैं उन्हें श्रेणीबद्ध बिल कहते हैं । श्रेणी अर्थात् पंक्ति-लाईन । विदिशा समझते हो ना ? आग्नेय आदि नहीं समझते ? सुनो, आग्नेय यानि साऊथ ईस्ट, नैऋत्य यानि साऊथ वेस्ट, वायव्य यानि नॉर्थ वेस्ट और ईशान्य यानि नॉर्थ ईस्ट । दिशाओं को भी क्रम से बताना हो तो पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर कहना चाहिये, इसे क्लॉकवाइज अर्थात् घड़ी की सुई-कांटा जिस दिशा में घूमता है वैसे कहना चाहिये ।

जो किसी भी तरह इधर-उधर फैले हुये हैं, कोई छोटे कोई बड़े हैं, गोल त्रिकोण चौकोण आदि अलग-अलग अनेक आकारोंवाले बिल हैं, फूलों के समान बिखरे हुये हैं वे सब प्रकीर्णक बिल कहलाते हैं ।

प्रत्येक पटल में एक इन्द्रक अर्थात् मध्य का एक बिल होता है, आठों ही दिशाओं में श्रेणीबद्ध बिल हैं तथा जो यहां-वहां, कहीं पर भी बीच-बीच में फैले पड़े हैं वे सब प्रकीर्णक बिल हैं । यहां हम पहले नरक के पहले पटल की बात कर रहे हैं । जब

दूसरा, तीसरा आदि कहेंगे तो ऊपर से नीचे क्रम से गिनेंगे । प्रथम नरक के प्रथम पटल में पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर में ४९-४९-४९-४९ श्रेणीबद्ध बिल हैं । यहां के इन्द्रक बिल का नाम सीमन्तक बिल अर्थात् सीमन्तक इन्द्रक बिल है । वह कितना बड़ा है पता है ? पैंतालीस लाख योजन व्यासवाला है ।

अब तक हमने मनुष्यलोक पैंतालीस लाख योजन और सिद्धशिला पैंतालीस लाख योजन के देखे, अभी पहले नरक के पहले पटल का इन्द्रक बिल भी पैंतालीस लाख योजन का देखा, जब हम स्वर्ग में जायेंगे अर्थात् उसकी चर्चा करेंगे तो देखेंगे कि पहले स्वर्ग के पहले पटल का इन्द्रक विमान भी पैंतालीस लाख योजन का है । यहां नीचे नरक में इन्द्रक बिल है और ऊपर स्वर्ग में इन्द्रक विमान है ।

हमारे द्वादशांग में जिसमें समान क्षेत्र, समान संख्या आदि बतलाया है, उस अंग का नाम क्या है ? समवायांग । किसने उत्तर दिया ?

ब्र. विमलाबहनजी ने, हां, आप सामने बैठी है ना ! दूसरा कौन होगा !

अभी यहां पहले नरक की बात चल रही है, यहां से नीचे-नीचे सातवें नरक का जो इन्द्रक बिल है, वहां तो एक ही पटल है; उसका नाम अवधिस्थान इन्द्रक है, वह एक लाख योजन व्यासवाला-डायमीटरवाला है । देखिये, ऊपर का प्रथम इन्द्रक बिल पैंतालीस लाख योजन अर्थात् ढ़ाई द्वीप जितना तथा अंतिम इन्द्रक बिल एक लाख योजन अर्थात् जम्बूद्वीप जितना है । इसप्रकार इन्द्रक बिल का विस्तार नीचे घटते-घटते गया है ।

अब श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों में क्या होता है इसे देखते हैं । पहले नरक के पहले पटल में चारों दिशाओं में ४९-४९-४९-४९ श्रेणीबद्ध बिल होते हैं तथा विदिशाओं में एक-एक कम अर्थात् ४८-४८-४८-४८ श्रेणीबद्ध बिल होते हैं ।

पहले नरक के दूसरे पटल में मध्य में एक इन्द्रक बिल, दिशाओं में ४८-४८-४८-४८ बिल और विदिशाओं में ४७-४७-४७-४७ बिल होते हैं । तीसरे, चौथे पटल में इसीप्रकार घटते-घटते जाते हैं ।

अब एक नंबर के चार्ट में देखना । पहले नरक में १३ पटल, दूसरे नरक में

११ पटल, तीसरे नरक में ९ पटल, चौथे नरक में ७ पटल, पांचवें नरक में ५ पटल, छठवें नरक में ३ पटल, और सातवें नरक में १ पटल – इसप्रकार कुल पटलों की संख्या ४९ होती है । प्रत्येक पटल में १-१ कम हुआ, तो कितनी बार कम हुआ ? ४८ बार कम हुआ । प्रारंभ में दिशाओं में ४९-४९ श्रेणीबद्ध बिल थे, वहां से प्रति पटल एक-एक घटते हुये ४८-४७-४६ होते-होते ४९ में से ४८ घटनेपर दिशाओं में १-१ ही श्रेणीबद्ध बिल रहा । विदिशाओं में शुरु में ४८-४८ थे अंत में एक भी नहीं रहा । इसप्रकार सातवें नरक में मध्य में एक इन्द्रक बिल और चार दिशाओं में प्रत्येक में १-१ बिल ऐसे ४ बिल, इसप्रकार कुल पांच ही बिल हैं ।

पहले नरक के तेरह पटलों में कुल मिलाकर ३० लाख बिल हैं । यहां पहले पटल के चार दिशाओं में ४९-४९-४९-४९ बिल हैं और विदिशाओं में ४८-४८-४८-४८ बिल हैं, जो प्रतिपटल दिशा तथा विदिशाओं में १-१ घटकर अर्थात् प्रतिपटल ८ श्रेणीबद्ध घटकर तेरह पटलों के कुल श्रेणीबद्ध बिल ४४२० होते हैं, उसमें प्रत्येक पटल का १-१ इन्द्रक इसतरह १३ इन्द्रक मिलानेपर ४४३३ होते हैं, बाकी जो हैं वे प्रकीर्णक बिल हैं अर्थात् ३० लाख में से ४४३३ बाद करनेपर शेष बचे २९९५५६७ प्रकीर्णक बिल बिखरे हुये फूलों के समान पाये जाते हैं ।

पहले नरक का इन्द्रक बिल ४५ लाख योजन का अर्थात् संख्यात योजन का है, श्रेणीबद्ध बिल असंख्यात योजन के हैं और प्रकीर्णक बिल कुछ संख्यात योजन के, कुछ असंख्यात योजन के हैं । $\frac{१}{५}$ प्रकीर्णक संख्यात योजनवाले हैं तथा $\frac{४}{५}$ प्रकीर्णक असंख्यात योजनवाले हैं ।

श्रेणीबद्धों एवं प्रकीर्णकों की कुल संख्या कैसे निकालना इसके सूत्र त्रिलोकसार में दिये हुये हैं, उसके आधार से शीघ्र ही उसका उत्तर मिलता है, परंतु उसकी यहां चर्चा नहीं करेंगे ।

पहले नरक में १३ पटल और कुल ३० लाख बिल हैं, दूसरे नरक में ११ पटल और कुल २५ लाख बिल हैं, तीसरे नरक में ९ पटल और कुल १५ लाख बिल हैं, चौथे नरक में ७ पटल और कुल १० लाख बिल हैं, पांचवें नरक में ५

पटल और कुल ३ लाख बिल हैं, छठवें नरक में ३ पटल और कुल ९९९९५ अर्थात् १ लाख में ५ कम इतने बिल हैं और सातवें नरक में १ ही पटल है जिसमें केवल ५ ही बिल हैं । यह सब नरक बिलों की संख्या है ।

दूसरे नरक में २६८४ श्रेणीबद्ध बिल + ११ इन्द्रक, तीसरे नरक में १४७६ श्रेणीबद्ध + ९ इन्द्रक, चौथे नरक में ७०० श्रेणीबद्ध + ७ इन्द्रक, पांचवें नरक में २६० श्रेणीबद्ध + ५ इन्द्रक, छठवें नरक में ६० श्रेणीबद्ध + ३ इन्द्रक तथा सातवें नरक में ४ श्रेणीबद्ध + १ इन्द्रक बिल हैं । कुल बिलों में से इनको घटानेपर अपने-अपने प्रकीर्णकों की संख्या आती है ।

इन्द्रक बिलों का व्यास-विस्तार नीचे क्रम से घटता गया है, अन्य बिलों की संख्या एवं विस्तार अर्थात् साईझ दोनों ही नीचे-नीचे घटते जाते हैं ।

परंतु ऊपर के नरकों में-पटलों में आयु कम है, नीचे के नरकों में आयु ज्यादा है । नरकों में कम से कम आयु १० हजार वर्ष की तथा अधिक से अधिक आयु ३३ सागर की है । नारकियों की ऊंचाई ऊपर कम, नीचे ज्यादा है अर्थात् प्रथम नरक के प्रथम पटल में तीन हाथ से प्रारंभ होकर नीचे सातवें नरक में पांच सौ धनुष होती है ।

ऊपर के पटलों की उत्कृष्ट आयु में एक समय अधिक करनेपर नीचे के पटल की जघन्य आयु होती है । शरीर की ऊंचाई भी प्रतिपटल बढ़ती जाती है । जैसे पहले नरक के पहले पटल में जघन्य आयु १०००० वर्ष की है और उत्कृष्ट आयु ९०००० वर्ष की है । दूसरे पटल में जघन्य आयु ९०००० वर्ष अधिक एक समय और उत्कृष्ट आयु ९००००० वर्ष है । तीसरे पटल में उत्कृष्ट आयु असंख्यात पूर्व कोटी, उससे आगे $\frac{१}{१०}$ सागर इसतरह बढ़ते-बढ़ते १३ वें पटल में उत्कृष्ट आयु १ सागर है । ऊंचाई भी ३ हाथ से शुरु होकर बढ़ते-बढ़ते तेरहवें पटल में ७ धनुष ३ हाथ ६ अंगुल होती है और नीचे के नरकों के अंतिम पटलों में दोगुणी-दोगुणी होती जाती है । हम नीचे के कोष्टक में केवल प्रत्येक नरक के अंतिम पटलों में उत्कृष्ट आयु और शरीर की ऊंचाई देखेंगे ।

	ऊंचाई	उत्कृष्ट आयु
१ ली पृथ्वी	७ धनुष ३ हाथ ६ अंगुल	१ सागर
२ री पृथ्वी	१५ धनुष २ हाथ १२ अंगुल	३ सागर
३ री पृथ्वी	३१ धनुष १ हाथ	७ सागर
४ थी पृथ्वी	६२ धनुष २ हाथ	१० सागर
५ वीं पृथ्वी	१२५ धनुष	१७ सागर
६ वीं पृथ्वी	२५० धनुष	२२ सागर
७ वीं पृथ्वी	५०० धनुष	३३ सागर

यहां नरक को ही पृथ्वी कहा है । परंतु नरक तो मात्र त्रसनाली में ही है, पृथ्वियां तो लोक के अंत तक फैली हुयी हैं । बिलों का आड़ा विस्तार अधिक है – संख्यात, असंख्यात योजन का है, बिलों की ऊंचाई संख्यात योजन की है । सातों नरकों के कुल ८४ लाख बिल हैं । ये नरक बिल गोल, त्रिकोण, चौकोर आदि अनेक आकारवाले हैं और अनेक दु:ख देनेवाली सामग्री से भरे पड़े हैं । वहां अत्यंत दुर्गंध है और सदा अंधकार ही व्याप्त रहता है । इन बिलों के छत में मधुमक्खी के छत्ते के समान इन नारकियों के उपजने के उपपाद स्थान लटकते हैं । वे ऊंट आदि प्राणियों के मुख सदृश आकारवाले हैं, ऊपर अंदर से पोले और चौड़े हैं, उनके मुख सांकडे होते हैं । यहां अंतर्मुहूर्त में नारकियों के शरीर की रचना होती है और तीक्ष्ण शस्त्रों से कटते-कटते नारकी जीव उन उपपाद स्थानों से च्युत होकर नरक भूमिपर पटकते हैं, वहां से ऊपर उछलकर फिर वहींपर गिरते हैं । पहले नरक में $\frac{१२५}{१६} = ७\frac{१३}{१६}$ योजन ऊपर उछलते हैं, आगे दोगुणा-दोगुणा ऊंचे उछलते हैं । सातवीं पृथ्वी में ५०० योजन ऊपर उछलते हैं, फिर नीचे गिरकर कटते रहते हैं ।

वहां रहनेवाले पुराने नारकी आकर कठोर शब्द उच्चारते हुये उन्हें मारते हैं, घावों पर खारा जल सींचते हैं । जेसे यहां कॉलेजों में रॅगिंग करते हैं ना ? शायद इनके पूर्व के संस्कार रहे होंगे ! नये नारकी भी अवधिज्ञान द्वारा पूर्व वैर जानकर उन्हें

मारते हैं, स्वयं भी पिटते हैं ।

नारकी अपने शरीर की भेडिया, व्याघ्र, सर्प, बिच्छू, गिद्ध, कुत्ता आदिरूप तथा शस्त्र, अग्नि आदिरूप विक्रिया करते हैं । नरकों में बड़े भीमकाय पर्वत, पीड़ा देनेवाले सैंकड़ों यंत्रों से भरी हुयी गुफायें, अग्नि से व्याप्त लोहमयी प्रतिमायें हैं, शस्त्रों समान पत्रों से युक्त असिपत्र वन हैं, मिथ्या शाल्मलि वृक्ष हैं, वैतरणी नदी है जिसका जल खारा है तथा दुर्गंधित खून और पीप से युक्त है जिसमें करोड़ों कीड़े भरे हैं । यहां कोई द्वीन्द्रियादि नहीं होते, नारकी ही विक्रिया से इनके रूप धारण करते हैं । यहां भयंकर उष्णता होती है, उसके भय से नारकी नदी में कूदते हैं तो उस जल से सर्वांग जलता है, छाया के लिये असिपत्र वन में जाते हैं तो शस्त्रों समान पत्रों से शरीर छिद जाते हैं । कुम्भी में रखकर एक दूसरे को पकाते हैं । बड़ी-बड़ी कढाइयों में उबलते हुये तेल में पटक देते हैं । यहां की भूमि के स्पर्शमात्र से हजारों बिच्छुओं के एकसाथ काटने जैसी वेदना होती है । पहले नरक से पांचवें नरक के $\frac{३}{४}$ भाग तक अतिउष्णता है-अग्नि से भी अधिक तथा उसके नीचे सातवें नरक तक अतिशीत वातावरण है ।

नारकियों के शरीर अनेक रोगों से ग्रस्त होते हैं । भूख, प्यास, भय आदि की तीव्र बाधायें सहनी पड़ती हैं । वहां की अत्यंत दुर्गंधित मिट्टी खाते हैं परंतु भूख नहीं मिटती । पहले नरक के पहले पटल की मिट्टी मनुष्यक्षेत्र में डालेंगे तो दुर्गंध से आधे कोस के मनुष्य मर जायेंगे । क्यों, विश्वास नहीं होता ? यहां भोपाल में गॅसकांड हुआ तो क्या हुआ था ?

शरीर के खंड-खंड होनेपर भी पारे के समान फिर मिल जाते हैं । यहां आयु पूर्ण भोगे बिना मरते ही नहीं है । हम मनुष्य तो कषायवश या संयोगों से कंटालकर आत्महत्या कर देते हैं, वहां नरकों में ऐसा कोई चान्स-सुविधा नहीं है । मनुष्य सोचते हैं कि मैं मर जाऊंगा तो दु:खों से छुटकारा होगा, परंतु उन्हें पता नहीं है कि ऐसे परिणामों में मरकर नरकों में सागरों तक ऐसे कष्ट-वेदना भोगने पड़ते हैं जिसमें से कोई छुटकारा नहीं है । ये सारे क्षेत्रसंबंधी दु:ख हैं । वहां होनेवाले संक्लेश परिणामों के कारण आर्त रौद्र ध्यान होते रहते हैं जो मानसिक दु:ख हैं । रोगादि से उत्पन्न होनेवाली वेदना शारीरिक दु:ख हैं । असुरकुमार जाति के भवनवासी देव तीसरे नरक तक जाकर

परस्पर भिडाते हैं, एक दूसरों को पूर्व भव की याद दिलाकर झगड़ा कराते हैं ।

आपका प्रश्न है वहां जानेवाले देवों को वहां की इन परिस्थितियों से दु:ख नहीं होता ? इसके जवाब में मैं आपसे प्रतिप्रश्न करती हूँ कि क्या हमें संयोगों से सुख, दु:ख होता है ? हॉस्पिटल में रोगियों को दु:ख होता है, डॉक्टरों को क्यों नहीं होता ? जेल में कैदियों को दु:ख होता है, जेलर को क्यों नहीं होता ? हम जो दु:खी होते हैं वे अपने मोह, राग, द्वेष के कारण दु:खी हैं । शरीर में एकत्वबुद्धि के कारण संयोगों से सुख या दुख मानना ऐसी मिथ्या मान्यतारूप भ्रांति का दु:ख है ।

प्रत्येक नरक में असंख्यात नारकी सम्यग्दृष्टि हैं । नरक की तीव्र वेदना और अत्यंत प्रतिकूलता में रहते हुये भी वहां असंख्यात जीव सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं । यहां उपदेश सुनकर भी अनसुना कर देते हैं, भोगों की तीव्र रुचि, परिग्रह की तीव्र लालसा में नरकायु बांधकर वहां जन्म लेते हैं । वहां पर कोई विचार करते हैं कि मैं कौन हूँ ? तत्त्वों का भावभासन, तत्त्वचिंतन करके वहां भी सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं । ऊपर के स्वर्ग के देव भी नीचे तीसरे नरक तक जाते हैं परंतु वे पीड़ा देने के लिये नहीं अपितु उपदेश देने के लिये जाते हैं । सीता का जीव रावण को उपदेश देने जाता है ऐसा हम प्रथमानुयोग में पढ़ते हैं और हम यहां रावण को गालियां देते हैं- लोक उसके पुतले जलाते हैं ।

नरकों में इतना दु:ख है तो वहां जीव जन्मते ही क्यों हैं ? जाते ही क्यों हैं ? – पापभाव करके जाते हैं, अत्यंत संक्लेश परिणाम करके जाते हैं । तीव्र कषाय, बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह करके या करने के भाव से वहां जाते हैं । जीव यहां पैसे के लोभ में पाप करता रहता है, उस पैसे को भोग सकेगा या नहीं उसका भी पता नहीं, परंतु उन पापों को अवश्य भोगेगा । यहां की धनसंपत्ति, घर, मकान सब कुछ यहीं छोड़कर यह परभव में जाता है । साथ में कुछ भी नहीं ले जा सकता; हां उसके लिये किये हुये पाप के कारण बंधे हुये कर्म जरूर साथ में ले जाता है; कहता है मैं अपने बीबी-बालबच्चों के लिये रातदिन मेहनत कर रहा हूँ । जरा कल्पना कीजिये, यदि यहां की कमाई परभव में साथ ले जाने की कोई व्यवस्था-कोई फॅसिलिटी होती तो यह लोभी जीव अपने बीबी-बालबच्चों के लिये कितना छोड़ जाता ? क्या कहा ? आप कह रहे हैं कुछ भी नहीं छोड़ता !

अब कौन से जीव मरकर किस नरक तक जा सकते हैं इस बात को देखेंगे । असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच पहले नरक में जा सकता है, नीचे के नरकों में नहीं जा सकता । सरीसृप अर्थात् रेंगनेवाले प्राणी छिपकली आदि दूसरे नरक तक जा सकते हैं ।

किसी का प्रश्न है कि असंज्ञी तिर्यंच के समान क्या असंज्ञी मनुष्य भी जा सकते हैं ?

उत्तर – मनुष्य असंज्ञी होते ही नहीं, सभी मनुष्य-पर्याप्त हो या अपर्याप्त, संज्ञी पंचेन्द्रिय ही हैं ।

आपका प्रश्न है कि सम्मूर्च्छन लब्धिअपर्याप्त मनुष्य नरक में जायेंगे या नहीं ?

लब्धिअपर्याप्त जीव भले वह तिर्यंच हो या मनुष्य, तिर्यंच में भी एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक के लब्धिअपर्याप्त जीव ना नरकगति का बंध कर सकते हैं, ना देवगति का, इसलिए वे वहां नहीं जा सकते । वे तिर्यंचगति या मनुष्यगति में जायेंगे । सम्मूर्च्छन पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव मरकर नरक में जा सकते हैं ।

तीसरे नरक तक पक्षी आदि, चौथे नरक तक सर्प आदि, पांचवें नरक तक सिंह आदि, छठवें नरक तक स्त्री और सातवें नरक तक मनुष्य और मत्स्य जा सकते हैं । जिस जीव के वज्रवृषभनाराच संहनन है ऐसे मनुष्य और मत्स्य ही सातवें नरक में जा सकते हैं । जिसप्रकार मोक्ष में जानेवालों के लिये वज्रवृषभनाराच संहनन का नियम है, उसीप्रकार सातवें नरक में जानेवालों के लिये भी यह नियम है ।

आपका प्रश्न है तन्दुलमत्स्य सातवें नरक में जाता है ऐसा हमने सुना है, वह तो इतना छोटा है उसको वज्रवृषभनाराच संहनन कैसे हो सकता है ?

छोटे या बड़े आकार के कारण संहनन नहीं होता । वज्रवृषभनाराच संहनन तिर्यंचों में मत्स्य को ही हो सकता है, व्याघ्र, सिंह आदि को नहीं; वे तो मरकर केवल पांचवें नरक तक ही जा सकते हैं । सातवें नरक का नारकी मरकर नियम से सिंहादि हिंस्र पशु ही होता है उस जीव को सातवें नरक में जन्म लेना है तो बीच में मत्स्य होकर वहां जा सकता है । सातवें नरक से मरकर कोई मत्स्य नहीं हो सकता क्योंकि मत्स्य सम्मूर्च्छन जीव है और सभी नारकी मरकर संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज तिर्यंच या मनुष्य होते हैं, सम्मूर्च्छन में जन्म नहीं लेते ।

जो चक्रवर्ती चक्रवर्ती पद में भोग भोगते हुये-राजपाट करते हुये मिथ्यात्व में मरता है वह नियम से सातवें नरक में जन्म लेता है, सम्यग्दृष्टि तो मुनिदीक्षा लेते हैं उनमें से कोई स्वर्ग में जाते हैं तो कोई उसी भव में मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

हम तंदुलमत्स्य की बात देख रहे थे । बड़े राघवमत्स्य (महामत्स्य) के शरीर के आधार से तंदुलमत्स्य रहता है और देखता है कि यह तो मुंह खुला रखकर सोया है सैंकडों मछलियां इसके मुंह के अंदर जाकर फिर बाहर आ रही हैं । अरे, मैं होता तो मुंह बंद करके सबको निगल जाता । उसने कितनी मछलियां खायी ? एक भी नहीं । उसकी बात छोड़ दो । हम भी क्या करते हैं ? दूसरों की धनसंपत्ति, वैभव, बंगला देखकर क्या सोचते हैं ? टी.व्ही. देखते समय बैठे-बैठे टी.व्ही. सिरियल के पात्रों को क्या-क्या सीख देते हैं, अनुमोदना करते हैं । देखिये, इन सब भावों से जो कर्म का बंध होता है, उसके फल भोगने के लिये इन नरकादि स्थानों में जीव को अवश्य जाना पड़ता है ।

सातवें नरक का नारकी वहां सम्यक्त्व की प्राप्ति कर सकता है । कोई जीव जन्म के अंतर्मुहूर्त पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्त करके लगभग ३३ सागर तक सम्यग्दृष्टि रहा, फिर भी मरण के पहले वह नियम से मिथ्यात्व में जाकर तिर्यंचसंबंधी आयुबंध करके मिथ्यात्व में ही मरता है , सासादन में भी नहीं । इतना ही नहीं, वह जिस हिंस्र पशु की पर्याय में जन्म लेगा उस भव में भी उसे सम्यक्त्व नहीं होता ।

प्रश्न – तो महावीर के जीव को सिंह पर्याय में सम्यक्त्व कैसे हुआ ?

उत्तर – सिंह को सम्यक्त्व नहीं होता ऐसा कब कहा ? सातवें नरक से मरकर जो सिंहादि में जन्म लेता है, उस विवक्षित भव की बात है ।

कौन से नरक से निकला जीव लगातार कितनी बार वहां जा सकता है, आदि के भी नियम हैं । उनकी चर्चा आगे करेंगे । आपके जो भी प्रश्न हैं, वे लिखितरूप से देना विषय आनेपर उनका समाधान करूंगी ।

बोलिये, विदेहक्षेत्र में विराजमान तीसरे तीर्थंकर श्री बाहु भगवान की जय ।

४. नारकियों में गति-आगति

तीन लोक की रचना त्रिलोकसार के आधार से अर्थात् सर्वज्ञ भगवान के वचनों के आधार से हम देख रहे हैं । ये किसी की कल्पना की बातें नहीं हैं, अपितु सर्व सत्य बातें हैं । चार गतियों के जीवों की चर्चा करते हुये मनुष्यपर्याय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से कितनी दुर्लभ है इस बात की चर्चा की थी ।

किसीने पूछा है कि मनुष्यभव अत्यंत दुर्लभ है और मनुष्य ही मोक्ष का पुरुषार्थ करता है परंतु मोक्ष तो आगे की बात है, अत: हम अभी मनुष्यभव के लिये पुरुषार्थ करें और बाद में मोक्ष का पुरुषार्थ करें ?

पुरुषार्थ तो भव के अभाव के लिये किया जाता है । भव के लिये जो पुरुषार्थ करना चाहते हो वह तो मिथ्या मान्यता है, कुपुरुषार्थ है । जिसकी मान्यता में एक भव की भी चाह बाकी हो, भले ही वह जीव महाविदेह क्षेत्र का मनुष्य भी क्यों न होना चाहता हो; उसकी एक भव की अभिलाषा में अनंत भवों की अभिलाषा पड़ी है । हमें तो भव के अभाव का पुरुषार्थ करना है । पुरुषार्थ करना अर्थात् अपना स्वरूप पहचानना है, जो अत्यंत सुलभ बात है । अरे ! यहां तो हमें जो अत्यंत दुर्लभ ऐसा मनुष्यभव प्राप्त हुआ है उसे तो गंवाना चाहते हैं और जो नहीं है उसके पीछे दौड़ना चाहते हैं । जिसमें अपनी इच्छा के अनुसार कुछ नहीं चलता उसके प्रयत्न करते रहने को पुरुषार्थ मानता है, क्योंकि हमने पुरुषार्थ को ही गलत समझा है ।

मनुष्यभव पाने के लिये प्रयत्न करोगे तो इस मनुष्यभव का क्या होगा ? मनुष्य तो हम है ही, अब इस मनुष्यभव को सार्थक करना है । अनेक लोग पुरुषार्थ का सही अर्थ न समझकर अपनी-अपनी मतिकल्पना के अनुसार अलग-अलग विपरीतरूप से कुछ भी मान लेते हैं, धर्म का स्वरूप विपरीतरूप से सोचते हैं । हम अमरिका जाते हैं वहां कई जगह लोक स्वाध्याय करने के लिये इकठ्ठे होते हैं । उसमें शास्त्र का कुछ अंश पढ़कर फिर चर्चा करते हैं, प्रत्येक व्यक्ति उसपर अपना मत-अपनी कल्पना व्यक्त करता है, 'मैं ऐसा सोचता हूँ, मेरी मान्यता ऐसी है' – आदि बातें होती हैं । जहां दो, चार, अनेक लोग मिलते हैं वहां मतभिन्नता तो होती ही है । परंतु सभी ज्ञानियों का एक मत होता है । हमें तो स्वाध्याय करते समय जो परमागम में लिखा

है, आचार्यों ने-ज्ञानियों ने समझाया है उसे उन अपेक्षाओं को समझकर सही तत्त्वनिर्णय करके अपने स्वयं का निर्णय करना है । द्रव्यानुयोग के साथ-साथ इन करणानुयोग आदि अन्य अनुयोगों का भी अभ्यास करना चाहिये । द्रव्यानुयोग के बदले इसका अभ्यास करें ऐसा नहीं है । किसी भी अनुयोग का कुछ काम नहीं ऐसा नहीं है । चारों ही अनुयोगों का सार वीतरागता है । वह वीतरागता कैसे निकालनी यह समझना हमारी जिम्मेदारी है ।

इन सब जीवों की संख्या कितनी है ? वे कहां-कहां पाये जाते हैं ? – इसको देखते हैं तो हमें संसार का भय लगता है । संसार का भय लगे तो अच्छा ही है । पंचपरावर्तनरूप संसार का स्वरूप जरूर समझने जैसा है – पता तो चले कि हम अनादि से हैं तो हमने किस प्रकार काल बिताया है । हम तो पैसा कमाते हैं और खर्च करते हैं, ऐसा करते-करते सालों बीत जाते हैं और भव का अंत नजदीक आता है तो लगता है हमने क्या किया ? क्या पाया ? इस मनुष्यभव का सही उपयोग नहीं करेंगे-अपना स्वरूप पहचानने का प्रयत्न नहीं करेंगे, तो यह भव प्राप्त करके भी नहीं करने जैसा है ।

पुरुषार्थ तो मोक्ष का होता है, राग-द्वेष का नहीं । हम सोच समझकर राग-द्वेष, शुभाशुभ परिणाम नहीं कर सकते, हम उन परिणामों के स्वामी नहीं हैं । राग-द्वेष मैं चाहे जैसा कर सकता हूँ यह मान्यता ही मिथ्या है । यदि आप राग-द्वेष को कम कर सकते हो तो मैं कहूंगी कि राग-द्वेष करो ही मत, पूर्ण वीतराग हो जाओ । यहां तो भेदविज्ञान करने का पुरुषार्थ जीव करता है उसीसे सम्यग्दर्शन होता है, उसीसे मोक्षमार्गपर अग्रेसर होकर केवलज्ञान की प्राप्ति होती है । मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, शरीर से एवं अपने में उठनेवाले राग-द्वेष से भिन्न हूँ ऐसा जानकर स्वयं को ही जानते रहना यही बात करने जैसी है, यह है सरल और होती भी सहज ही है परंतु विपरीत मान्यता के कारण उसका मर्म ही ख्याल में नहीं आता ।

हमने देखा है कि ४५ लाख योजन व्यासवाले क्षेत्र में अनंत सिद्ध भगवान विराजमान हैं; क्योंकि हर छह महिने और आठ समय में छह सौ आठ जीव मोक्ष प्राप्त करते ही हैं और ऐसा अनादि से हो रहा है । अनादि से ऐसे छह महिने और आठ समय अनंतानंत बीत चुके हैं अत: अब तक अनंतानंत जीव सिद्ध अवस्था को

प्राप्त कर चुके हैं । जो बात अनंतानंत जीवों ने प्राप्त की है वह निश्चित ही अत्यंत सुगम और सुलभ होनी चाहिये ।

वर्तमान में असंख्यात जीव सम्यग्दृष्टि हैं । उनमें देव असंख्यात, नारकी असंख्यात और तिर्यंच असंख्यात हैं और मनुष्य करोडों हैं । यह बात यदि असम्भव होती तो इन जीवों ने सम्यक्त्व कैसे प्राप्त किया ? इसलिए यह पुरुषार्थ एवं उसके फलस्वरूप सम्यक्त्व की प्राप्ति दुर्लभ नहीं है, रुचि होना दुर्लभ है । इस मनुष्यभव की दुर्लभता ख्याल में आ जाये तो वहां जरूर पुरुषार्थ करने की बात सोचेगा ।

यहां नरक की बात चल रही थी कि नरक में कौन जाता है ? वहां से निकलकर कौन कहां जन्म लेता है, कहां कितनी बार जन्म लेता है इनके संबंध में करणानुयोग के कुछ नियम होते हैं । ये नियम किसी ने बनाये नहीं हैं, यह सब सहज व्यवस्था है, अरहंत भगवान ने इसे बताया है । ऐसा क्यों ? इस प्रश्न की यहां कोई गुंजाईश ही नहीं है, ऐसा प्रश्न व्यर्थ है । धवला नामक ग्रंथ में आचार्य वीरसेन स्वामी शिष्य की शंका के रूप में स्वयं ऐसे प्रश्न उठाते हैं और जवाब में लिखते हैं कि 'ऐसा ही स्वभाव है, आपके प्रश्न का जवाब देने के लिये वस्तु का स्वभाव-वस्तुव्यवस्था बाध्य नहीं है ।'

अब नरक में जानेवाले जीवों संबंधी कुछ विशेषताओं को देखते हैं ।

कोई जीव सम्यक्त्व के साथ नरक में जन्म लेगा तो वह पहले नरक में ही जायेगा क्योंकि कोई भी जीव सम्यक्त्व के साथ दूसरे से लेकर सातवें नरक तक जन्म नहीं ले सकता । सम्यक्त्व के साथ नरक में जानेवाला जीव सम्यक्त्व होने के पहले मिथ्यात्व अवस्था में नरकायु का बंध करके पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्त करता है, क्योंकि सम्यक्त्व होने के बाद किसी मनुष्य-तिर्यंच को आयु बंधती है तो नियम से देवायु ही बंधती है ।

यहां नरकायु की बात है, नरकगति की नहीं । एक बार जो आयु बंधती है फिर उसमें कोई परिवर्तन-बदलाव नहीं होता ।

जैसे, श्रेणिक राजा ने यशोधर मुनिराज के गले में मरा हुआ सर्प ड़ालकर मिथ्यात्व अवस्था में सातवें नरक की ३३ सागर की आयु बांधी थी पश्चात् सम्यग्दृष्टि हुये,

क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया, तीर्थंकर प्रकृति का बंध भी शुरु हुआ । तब नरकायु की स्थिति घटकर चौरासी हजार वर्ष रह गयी । अब वे प्रथम नरक में हैं, तीर्थंकर प्रकृति का बंध भी हर समय कर रहे हैं और वहां से आकर इस भरतक्षेत्र के उत्सर्पिणीकाल के प्रथम तीर्थंकर होंगे ।

किसी जीव ने मिथ्यात्व में दूसरे या तीसरे नरक संबंधी आयु बांधी हो, बाद में उसने सम्यक्त्व प्राप्त किया और तीर्थंकर प्रकृति का बंध भी प्रारंभ किया हो तो ऐसा जीव सम्यक्त्व के साथ नरक में नहीं जायेगा । यहां मरण के एक अंतर्मुहूर्त पहले मिथ्यात्व में जाकर मिथ्यात्व में मरकर नरक में उपजता है और एक अंतर्मुहूर्त में सम्यक्त्व प्राप्त करके तीर्थंकर प्रकृति बांधना शुरु करता है, वहां से निकलकर तीर्थंकर बनता है । अब इन जीवों का सम्यक्त्व नहीं छूटता, वहां तो वे क्षयोपशमसम्यक्त्व के साथ स्थित हैं, मनुष्य में आने के पश्चात् उन्हें क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है ।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि का सम्यक्त्व छूटता नहीं । नरक में सम्यक्त्व के साथ जानेवाले जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही होना चाहिये या जिसने क्षायिक की शुरुवात करके जो अंतर्मुहूर्त में क्षायिक होनेवाला है ऐसे कृतकृत्यवेदक सम्यक्त्व के साथ भी कोई जीव पहले नरक में उत्पन्न हो सकता है । नरक की बात छोड़ो, जिसने पहले तिर्यंच आयु बांधी हो और पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्त किया हो, वह जीव सम्यक्त्व के साथ मरकर भोगभूमि का तिर्यंच होता है । उसके लिये भी शर्त है कि वह क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करके ही सम्यक्त्व के साथ वहां जन्म लेता है ।

अब यहां पंचम काल में कोई क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकता अत: सम्यक्त्व के साथ भोगभूमि का तिर्यंच भी नहीं होगा । तिर्यंच की बात छोड़ो यदि सम्यक्त्व के साथ मरकर भोगभूमि का मनुष्य होगा तो उसे भी क्षायिक सम्यक्त्व होना आवश्यक है । हां, वेदक सम्यक्त्व के साथ मरकर देव हो सकता है । कोई भोगभूमि में जन्म लेना चाहता है, तो कोई विदेहक्षेत्र में जन्म लेना चाहता है – सोच लो, यहां से इस पंचम काल में मरकर वहां जन्म लेनेवाले जीव मिथ्यात्व के साथ ही वहां जायेंगे । देव और नारकी सम्यग्दृष्टि मरकर कर्मभूमि के मनुष्यों में जहां चौथा काल है वहां उत्पन्न होंगे । इस भरतक्षेत्र में इस पंचम काल में कोई मनुष्य सम्यक्त्व के साथ जन्म नहीं ले सकता ।

क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करनेवाला जीव कर्मभूमि का मनुष्य ही होना चाहिये जो चौथे, पांचवें, छठवें या सातवें गुणस्थानवर्ती वेदक सम्यग्दृष्टि हो जो तीर्थंकर, केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में ही क्षायिक सम्यक्त्व की प्रप्ति करता है । इसलिए पहले सम्यग्दृष्टि हो वही क्षायिक होगा । मिथ्यात्व में से कोई जीव सीधा क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता । उपशम सम्यक्त्व में से भी कोई जीव सीधे क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं कर सकता । क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है का अर्थ है अनंतानुबंधी की चार और दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का सत्ता में से नाश करता है-क्षय करता है ।

पहले अनंतानुबंधी के परमाणु चारित्रमोहनीय के शेष प्रकृतियों में संक्रमित होकर नष्ट होते हैं, इसे अनंतानुबंधी की विसंयोजना कहते हैं । यह कार्य तो चारों गतियों में हो सकता है । परंतु मनुष्य ही दर्शनमोहनीय की क्षपणा करता है अर्थात् क्रम से मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व का क्षय करता है – इतने काल में मरण नहीं होता । अब एक सम्यक्त्व प्रकृति बाकी रहती है उसका भी क्षय करता है, परंतु उस अंतर्मुहूर्त काल में मरण हो सकता है और जिस आयु का बंध पहले हो चुका है, जीव मरकर उस गति में-चारों गतियों में जन्म ले सकता है । इस अवस्था को कृतकृत्यवेदक सम्यक्त्व कहते हैं । वहां पहुंचनेपर सम्यक्प्रकृति का भी क्षय होकर जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि बनता है ।

इसतरह हमने देखा कि दर्शनमोहनीय की क्षपणा का प्रारंभ मात्र कर्मभूमि का मनुष्य ही करता है, अन्य गतियों के जीव प्रारंभ नहीं कर सकते, ना ही भोगभूमिवाले करते हैं । हां, कृतकृत्यवेदक अथवा क्षायिक होकर जीव चारों ही गतियों में जा सकता है – पूर्व में जो आयु बंधी हो वहां जायेगा अथवा बाद में आयु बांधकर देवगति में जायेगा या हो सकता है क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करके उसी भव में वह जीव मोक्ष अवस्था प्रकट करेगा ।

तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारंभ भी कर्मभूमि के मनुष्य को ही तीर्थंकर या केवली के पाद्मूल में होता है । सम्यग्दृष्टि के ही यह बंध होता है – औपशमिक, वेदक या क्षायिक तीनों प्रकार से सम्यग्दृष्टि इस बंध का प्रारंभ कर सकते हैं । एक बार तीर्थंकर प्रकृति बंधना शुरु होगी तो लगातार प्रतिसमय बंधती ही रहती है, आठवें

गुणस्थान तक बंधती रहती है । तीर्थंकर प्रकृति का बंध जिसने प्रारंभ किया है ऐसा मनुष्य मरकर देव होता है या पहले नरकायु बांधी हो तो तीसरे नरक तक जा सकता है, परंतु भोगभूमि का तिर्यंच या मनुष्य नहीं होता । देव या नरक में जाकर वहां भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध करते रहता है और वहां से मनुष्य में आकर केवलज्ञान होनेपर तीर्थंकर पद प्राप्त करता है ।

इसप्रकार हमने देखा कि तीसरे नरक तक का जीव जो वहां भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर रहा है, वहां से निकलकर तीर्थंकर हो सकता है । चौथे नरक से निकलकर कोई जीव तीर्थंकर नहीं हो सकता परंतु उसी भव में मोक्ष जा सकता है अर्थात् सामान्य केवली हो सकता है । पांचवें नरक से निकलकर कोई जीव मनुष्य होकर मुनि अवस्था तक जा सकता है । छठवें नरक से निकला जीव सकलसंयमी नहीं हो सकता परंतु पांचवें गुणस्थान तक जा सकता है । सातवें नरक से निकला जीव उस भव में तीसरा, चौथा या पांचवां गुणस्थान भी प्राप्त नहीं करता–सम्यक्त्व ही नहीं प्राप्त करेगा तो गिरकर सासादन में भी नहीं आ सकता; मात्र मिथ्यात्व गुणस्थान में ही रहता है । सातवें नरक से निकलकर जीव हिंस्र पशु-संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज तिर्यंच ही होता है, पहली से छठवीं तक के नारकी वहां से मरकर संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज तिर्यंच या पर्याप्त मनुष्यों में ही जन्मते हैं । सम्मूर्च्छन तिर्यंचों में भी नहीं जन्मते ।

आपका प्रश्न है कि तीर्थंकर प्रकृति का प्रारंभ तीर्थंकर के पादमूल में होता है, तो क्या अन्य भव में जानेवाले का मरण तीर्थंकर के सामने होता है ?

तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारंभ तीर्थंकर या केवली के सान्निध्य में-उनके पादमूल में होता है । परंतु एक बार बंधना शुरु होता है तो लगातार बंध चालू ही रहता है । बाद में तीर्थंकर की उपस्थिति की कोई जरूरत नहीं है । पूरे जीवन तक और मरकर अन्य भव में भी तीर्थंकर प्रकृति प्रतिसमय बंधती रहती है, चाहे वह कहींपर भी जाकर मरे । तीर्थंकर के सामने मरे ऐसा कुछ नहीं है । जैसे कृष्ण का मरण संक्लेश परिणामों में वनजंगल में हुआ, मरकर तीसरे नरक में गये । मरते समय मिथ्यात्व में जाकर मरण हुआ, वहां जन्म लेकर अंतर्मुहूर्त में वेदक सम्यक्त्व प्रकट करके तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारंभ किया । अब ऐसे जीव पुन: मिथ्यात्व में नहीं आते । जब तक मिथ्यात्व में जाते हैं, उस अंतर्मुहूर्त काल में तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता । दूसरे और

तीसरे नरक में जानेवाले जीव यदि तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर रहे हो तो उनके लिये ही ये नियम हैं ।

नरक से निकला जीव क्या हो सकता है यह हमने देखा, वह क्या नहीं हो सकता इसको देखेंगे । वहां से आया हुआ जीव नारायण नहीं हो सकता । नारायण क्या है पता है आपको ?

देखो, ६३ शलाकापुरुष होते हैं जिनमें २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलभद्र होते हैं । यह कर्मभूमि के आर्यखंड के अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के चौथे काल की-दुषमासुषमा काल की बात है । इनमें नरक से आया हुआ जीव नारायण नहीं होता, बलभद्र नहीं होता, प्रतिनारायण नहीं होता, चक्रवर्ती भी नहीं होता; तीर्थंकर हो सकता है । तीसरे नरक तक से निकला हुआ जीव तीर्थंकर हो सकता है ।

करणानुयोग तो ऐसे नियमों से भरा पड़ा है । आप कहेंगे कि एक बार नरक से निकला जीव पुनः अधिक से अधिक वहां कितनी बार जा सकता है ? क्योंकि हम कहीं जाकर आते हैं तो अच्छा लगा इसलिए बार-बार वहां जाते हैं, वैसे नरक में कितनी बार जायेगा ?

असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच मरकर पहले नरक में जाता है परंतु वहां से निकलकर पुनः असंज्ञी तो हो नहीं सकता, संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भज ही होगा । गर्भज अर्थात् माता-पिता के निमित्त से जन्म लेवें ।

अभी पूछा था न, गर्भज और सम्मूर्च्छन क्या होता है ?

सम्मूर्च्छन अर्थात् माता-पिता के निमित्त बिना वातावरण में से शरीर के परमाणु ग्रहण करके अंतर्मुहूर्त में शरीर की रचना होती है । एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के जीव तो नियम से सम्मूर्च्छन ही होते हैं । सभी लब्धिअपर्याप्त तिर्यंच और मनुष्य भी सम्मूर्च्छन होते हैं । पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंच-संज्ञी और असंज्ञी गर्भज भी हो सकते हैं या सम्मूर्च्छन भी हो सकते हैं । मगरमच्छ, मत्स्यादि सम्मूर्च्छन जीव हैं । स्वयंभूरमण समुद्र में असंख्यात सम्मूर्च्छन महामत्स्य पंचम गुणस्थानवर्ती हैं । जन्म के बाद एक अंतर्मुहूर्त में वे सम्यक्त्व की प्राप्ति कर सकते हैं ।

अपनी बात असंज्ञी पंचेन्द्रिय की चल रही थी, वह मरकर पहले नरक में गया, वहा से निकलकर संज्ञी पंचेन्द्रिय (तिर्यंच या मनुष्य) हुआ, फिर असंज्ञी होकर पुनः नरक में गया । वहां से निकलकर बीच में संज्ञी का जन्म लेकर पश्चात् असंज्ञी हुआ पुनः पहले नरक में गया; ऐसा अधिक से अधिक आठ बार हो सकता है । यह लगातार की बात नहीं है क्योंकि बीच में एक संज्ञी का भव है ।

दूसरे नरक तक जानेवाले सरीसृप आदि उससे नीचे नहीं जा सकते । दूसरे नरक से निकलकर, संज्ञी होकर, पुनः दूसरे नरक में गये, पुनः संज्ञी में जन्म लेकर पुनश्च मरकर दूसरे नरक में गये – ऐसे सात बार जा सकते हैं ।

देवगति में से भवनत्रिक, सौधर्म, ईशान आदि के देव मरकर एकेन्द्रिय में जा सकते हैं परंतु नरक से मरकर जीव एकेन्द्रिय नहीं होता, संज्ञी पंचेन्द्रिय ही होता है ।

प्रश्न – नरक में ऐसा कौनसा पुण्य बांध रहा है कि वह संज्ञी पंचेन्द्रिय ही होता है ?

उत्तर – अरे ! मैं पूछती हूँ कि बादर निगोद जीव मरकर मनुष्य होकर उसी भव में मोक्ष जा सकता है, तो वह कौनसा पुण्य करता होगा ? वह भी तो मनुष्यगति, मनुष्यायु, वज्रवृषभनाराच संहनन आदि बांधकर आता है । हम तो क्रियाओं में ही पुण्य ढूंढते हैं, परंतु यहां परिणामों की बात हो रही है । नरकों में भले ही अशुभ लेश्या हो, उनके परिणामों में मंदता आती है-विशुद्धि होती है-उससे पुण्यबंध भी होता है । वहां सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं, तो संज्ञी पर्याय प्राप्त होने की क्या बात है ? अपने-अपने नरक की अपनी-अपनी लेश्या होती है – पहले नरक में कपोतलेश्या, बीचवाले नरकों में नीललेश्या और सबसे नीचे कृष्णलेश्या होती है ।

प्रश्न – आप द्रव्यलेश्या की बात कर रहे हैं या भावलेश्या की ?

उत्तर – यह भावलेश्या की बात है - जीवों के परिणामों की बात है । सभी नारकियों की द्रव्यलेश्या अर्थात् शरीर का वर्ण कृष्ण ही होता है, अत्यंत काला होता है । तीसरे नरक में यह जीव छह बार जा सकता है, चौथे में पांच बार, पांचवें में चार बार, छठवें में तीन बार । सातवें नरक से निकलकर कोई मनुष्य नहीं होता, संज्ञी पर्याप्त गर्भज तिर्यंच ही होता है, फिर मत्स्य होकर पुनः सातवें नरक में जायेगा

तो दो बार जा सकता है ।

प्रश्न – क्लोन में जीव है क्या ?

उत्तर – यह अपना विषय नहीं है, फिर भी हम देखते हैं । वैज्ञानिकों ने जीव को उत्पन्न किया या पुद्गल को ? आप कहेंगे उन्होंने अपनी इच्छानुसार चाहे जैसे आकार, वर्ण के शरीर बनाये ना ? विशिष्ट नामकर्म के उदयवाले जीव वहां आकर उत्पन्न होते हैं । शरीर की रचना तो उस जीव की पर्याप्तियों से होती है ।

प्रश्न – क्लोन का जीव गर्भज है या कैसा ?

उत्तर – वहां तो अनेक गर्भ-'फर्टिलाइज्ड एग्ज' बनाये जाते हैं । स्त्रीबीज एवं पुरुषबीज का संयोग कृत्रिम रीति से लॅबोरेटरी में करके अनेक गर्भ तैयार करते हैं- उनपर अनेक प्रयोग किये जाते हैं । उनमें से कोई एक गर्भ दुबारा मां के पेट में रखा जाता है, जहां वह सामान्य गर्भ के समान बढ़ता है । ये सारे कृत्रिम गर्भ भी पर्याप्त गर्भज मनुष्यभव ही हैं । इनपर लाखों रुपये खर्चा करते हैं । वहां जो लॅबोरेटरी में अनेक गर्भ तैयार किये थे, वे नष्ट किये जाते हैं – इतने सारे पर्याप्त गर्भज मनुष्यभव वहींपर नष्ट होते हैं । उन दुर्लभ मनुष्यभवों का क्या लाभ हुआ ?

कभी-कभी एक करोड़ पूर्व की आयु बांधकर मनुष्य में जन्म लेता है, वहां भी पर्याप्ति पूर्ण होनेपर एक अंतर्मुहूर्त में कदलीघात से मरण हो सकता है । ऐसी बहुत सी बातें जो हैं जिसपर हम विचार नहीं करते, इतना ही सोचते हैं कि अभी तो हम कमायेंगे, मौज करेंगे, बाकी सब बुढ़ापे में करेंगे । किसी के भी आयु का कुछ भरोसा नहीं है, कौन कितनी आयु लेकर आया है और अपनी कितनी आयु शेष बची है इसका भी कोई पता नहीं है, अतः जो कुछ करना है अर्थात् स्वाध्याय भेदविज्ञान आदि तत्काल ही करने जैसा है, भविष्य के भरोसे रहने जैसा नहीं है ।

अब हम नरक की चर्चा में और आगे बढ़ते हैं ।

प्रश्न – पृथ्वियों के नाम रत्नप्रभादि हैं । वहां उनकी जैसी प्रभा होती है उसके अनुसार उनके नाम बताये गये है क्या ?

उत्तर – सारी पृथ्वियां स्फटिक के समान होती हैं केवल ऊपर की प्रभा अलग-

अलग होती है ।

प्रश्न – रत्नप्रभा नाम है तो क्या नरकों में अंधेरा नहीं होता ?

उत्तर – रत्नप्रभा नामक पृथ्वी के ऊपरी खरभाग में रत्नों के समान प्रभा होती है । इसमें सोलह भूमियां हैं-लेयर्स हैं जो एक-एक हजार योजन चौड़ी हैं, दो भूमियों के बीच कोई अंतराल नहीं है । इनके नाम हमने पहले देखे थे । इन सबकी लम्बाई, चौड़ाई प्रथम पृथ्वी के समान लोक के अंत तक है । इनमें भवनवासियों के भवन हैं, वहां अकृत्रिम चैत्यालय हैं, वहां जिनबिम्ब, चैत्यवृक्ष आदि कैसे हैं उसकी विस्तार से चर्चा हम भवनवासियों के प्रकरण में करेंगे । उसके पहले नरकों में से बाहर तो पडेंगे ।

रत्नप्रभा पृथ्वी के पंकभाग में कीचड़ के समान प्रभा होती है । नीचे के अब्बहुल भाग में जल की अधिकता होती है । इसमें नरकों के बिल पाये जाते हैं । जमीन में मृदंग या मटका गाड़ दो वैसे इस जमीन में बीच में पोली जगह-कॅव्हिटि अर्थात् नरक बिल है और सभी ओर से जमीन होती है । दो नरकों के बीच में जमीन है । नरकों के बिल भी असंख्यात-असंख्यात योजनों के होते हैं । जैसे चूहे के बिल जमीन के अंदर होते हैं वैसे नरकों के बिल भी जमीन के अंदर होते हैं, परंतु चूहे ऊपर आते हैं वैसे नरक बिल अन्य कहीं या आपस में जुड़े हुये नहीं है, बाहर कोई सुराग या कनेक्शन नहीं होता । जिसप्रकार हमें सूर्य, चन्द्र का प्रकाश मिलता है, भोगभूमि में और स्वर्गों में कल्पवृक्षों का प्रकाश होता है, उसप्रकार नरकों में प्रकाश नहीं होता । वहां की भूमि शीत या उष्ण है परंतु वहां अंधेरा ही होता है । हम जहां रहते हैं वह पृथ्वी के ऊपर का भाग है और नरक इन पृथ्वियों के अंदर होते हैं ।

किसी का प्रश्न है – कितने योजन खोदेंगे तो नरक मिल जायेगा ?

उत्तर – नरक में जाने के लिये एक लाख योजन तो खोदना ही पड़ेगा । एक योजन भी बहुत बड़ा है । खोदते-खोदते नरक में जाने की क्या जरूरत है ? अपने परिणामों से ही अनंत बार हम नरक में जाकर आये हैं ।

रत्नप्रभा नामक पहली पृथ्वी की प्रथम चित्रा भूमि-चित्रा पृथ्वी के ऊपर हम रहते हैं । वह स्फटिक की-रत्नों की बनी है, परंतु अभी उसपर धूल-मिट्टी जम गयी है । जहां सम्मेदशिखर है वहां उस चित्रा पृथ्वी में स्वस्तिक बना हुआ है । जब छठवें

काल के अंत में प्रलय होता है तब सारी धूल-मिट्टी उड़ जाती है और पृथ्वी रत्नों जैसी साफ हो जाती है ।

प्रश्न – नरकों में अंधेरा है तो कैसे देखते हैं ?

उत्तर – जैसे बिल्ली, व्याघ्र, सिंहादि प्राणी अंधेरे में देख सकते हैं । उसी प्रकार नारकी भी अंधेरे में देख सकते हैं ।

आपका प्रश्न है कि वहां कौनसा काल चलता है ?

उत्तर – जिसप्रकार विदेहक्षेत्र में हमेशा चौथा काल चलता है, स्वर्गों में हमेशा पहला काल चलता है, उसीप्रकार नरकों में सदैव छठवां काल चलता है । यहां भरत-ऐरावत क्षेत्रों के आर्यखंडों में छहों काल होते हैं । भोगभूमि में कहीं पहला, कहीं दूसरा, कहीं तीसरा काल होता है क्योंकि उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमि में वे अनुक्रम से पाये जाते हैं । यहां मात्र दुखरूप संयोगों की अपेक्षा छठवां काल कहा है, आयु या शरीर की लम्बाई की अपेक्षा नहीं ।

भरतक्षेत्र के आर्यखंड में अवसर्पिणी में छह और उत्सर्पिणी में छह काल होते हैं । अवसर्पिणी का पहला काल उत्तम भोगभूमि का ४ कोडाकोडीसागर का है इसे सुषमासुषमा या सुखमासुखमा कहते हैं । दूसरा काल मध्यम भोगभूमि का ३ कोडाकोडीसागर का है; इसे सुषमा कहते हैं । तीसरा काल जघन्य भोगभूमि का २ कोडाकोडीसागर का है, इसे सुषमादुषमा कहते हैं । पश्चात् यहींपर कर्मभूमि का प्रारंभ होता है, यह चौथा काल दुषमासुषमा कहलाता है । मोक्ष जाने का-श्रेणी चढ़ने का पुरुषार्थ इसी काल में हो सकता है । नरक का भी दरवाजा यहां खुलता है, क्योंकि भोगभूमि के सभी जीव मरकर देवों में ही उत्पन्न होते हैं । यह चौथा काल १ कोडाकोडीसागर में ४२००० वर्ष कम इतना होता है । पांचवां काल २१००० वर्ष और छठवां काल भी २१००० वर्ष का होता है । इनके नाम क्रमशः दुषमा एवं दुषमादुषमा हैं । इसको उलटा गिनेंगे तो उत्सर्पिणी के छह काल होंगे । सब मिलकर अवसर्पिणी का काल १० कोडाकोडीसागर और उत्सर्पिणी का काल भी १० कोडाकोडीसागर होता है, दोनों को मिलाकर एक कल्पकाल होता है जो २० कोडाकोडीसागर का होता है ।

मेरा आपसे प्रश्न है कि उत्सर्पिणी के अंतिम तीर्थंकर के पश्चात् अवसर्पिणी के प्रथम तीर्थंकर हुये तो कितने काल के बाद हुये ? हमारे यहां आदिनाथ भगवान प्रथम तीर्थंकर हुये तो वे कितने काल बाद हुये ?

उत्तर – क्यों ? नहीं पता ? यहां उत्सर्पिणी की तीन और अवसर्पिणी की तीन भोगभूमियों का काल जो १८ कोडाकोडीसागर है, उतने काल बाद वृषभदेव तीर्थंकर हुये । उनके पहले इतने काल तक भरतक्षेत्र से कोई मोक्ष नहीं गये थे, मुनि या पंचम गुणस्थानवर्ती भी नहीं हुये थे । आदिनाथ भगवान के काल में मोक्ष जाना प्रारंभ हुआ, इसलिए उन्हें आदिपुरुष कहते हैं । महावीर भगवान के काल में श्रेणिक राजा हुये थे । ८४ हजार वर्ष की नरकायु भोगकर वे उत्सर्पिणी के प्रथम तीर्थंकर होंगे अर्थात् अवसर्पिणी का पांचवां, छठवां और उत्सर्पिणी का छठवां, पांचवां काल बीत जायेगा और वे इसी भरतक्षेत्र के चौथे काल में जन्म लेकर उत्सर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर होंगे । आप कह रहे हो कि सब बराबर फिट हुआ । यह सहज ही होता है । हम सोच समझकर इसमें कुछ भी नहीं कर सकते । जब, जहां, जैसे होना है; तब, वहां, वैसे ही होगा । यदि हमारे दस भव बाकी है, तो दस भव करके ही हम मोक्ष जायेंगे । कोई जीव अभी एकेन्द्रियादि पर्याय में कहीं पड़ा है और एक भव करके कुछ ही काल में मोक्ष जानेवाला है, तो अवश्य वैसे परिणाम होंगे और मनुष्यायु आदि यथायोग्य प्रकृतियां बांधकर वह मनुष्य होकर यथासमय मोक्ष प्राप्त करेगा ही ।

हमें डर है कहीं मर न जाऊं ? अरे, मुंह से तो बोलते हो कि हमें मोक्ष चाहिये और इस भव का अंत हो जाने के डर से भयभीत हो रहे हो ! मोक्ष जाने के पूर्व का एक भव कम हुआ इसमें दु:ख की कौनसी बात है ?

भले भव उतने ही रहे, परंतु इस भव की आयु तो बढ़ा सकते हैं या नहीं ? अमरीका जाकर तो मृत्यु को टाल सकेंगे या आयु को बढ़ा सकेंगे या नहीं ?

यह मान्यता कैसी है पता है ? हम अन्य कर्मों का तो नाश करना चाहते हैं परंतु आयुकर्म को रखना चाहते हैं । शास्त्र में आयुकर्म को कारावास-बेड़ी की उपमा दी है । यह हमें उस विवक्षित पर्याय से छूटने नहीं देता । लौकिक में हम जानते हैं कि यदि कारावास की दीवार टूट जाये तो कैदी भाग जायेंगे परंतु हम ऐसे

होशियार हैं कि सारा जीवन इस कारागृह को-शरीर को सजाने में-पुष्ट रखने में व्यतीत होता है और यदि कारावास टूटने की नौबत आती है तो डॉक्टर के पास जाकर इसकी मरम्मत करते हैं । ऊपर बातें भी बनाते हैं कि शरीर बना रहेगा तो हम मोक्ष का पुरुथार्थ करेंगे, यह शरीर हमें मोक्षमार्ग प्राप्त करा देगा । अरे चेतन ! क्या यह जड़ शरीर तुझे मोक्ष देगा ?

अब आप लोगों के प्रश्नों का समाधान करके आगे बढ़ेंगे ।

प्रश्न – वर्तमान चौबीसी के सारे तीर्थंकर स्वर्ग से आये हैं और भविष्य के तीर्थंकर नरक से भी आ रहे हैं, ऐसा क्यों ?

उत्तर – ऐसी कोई बात नहीं है । नरक से आये हो या स्वर्ग से आये हो; तीर्थंकर तो तीर्थंकर ही होते हैं । स्वर्ग से आये इसलिए बड़े-महान और नरक से आये इसलिए छोटे-हीन ऐसा नहीं है ।

प्रश्न – क्षायिक सम्यग्दृष्टि प्रथम नरक में जाता है, वहां उसका व्यवहार कैसा होता होगा ? यहां भी सम्यग्दृष्टि का व्यवहार कैसा होता है ?

उत्तर – देखिये, हम बाह्य क्रिया के आधार से सम्यग्दृष्टि को पहचानना चाहते हैं यह बात गलत है । चौथे गुणस्थानवाला अविरत सम्यग्दृष्टि अर्थात् असंयमी है । वहां भी राग-द्वेष के परिणाम होते हैं किंतु वे अपने आपको राग-द्वेष से भिन्न पहचानते हैं, अनुभव करते हैं, वैसी प्रतीति बनी रहती है । अपने में होनेवाले राग-द्वेष का उन्हें स्वामित्व नहीं है । भले ही उसे क्रोध आता हो, परंतु बाह्य व्यवहार से किसी की पहचान नहीं हो सकती क्योंकि अभिप्राय के हिसाब से बाह्य का व्यवहार बदले ही ऐसा नहीं । जहां अंतरंग मे स्थिरता बढ़ती है ऐसे ऊपर के गुणस्थानों में बाह्य दशा में भी परिवर्तन होता है । हमारी दृष्टि बाह्य में ही जमी है । हम दिशा बदलना नहीं चाहते, दशा बदलना चाहते हैं । अभिप्राय में तो उस सम्यग्दृष्टि नारकी जीव के भी मैं जीव हूँ, ज्ञायक हूँ ऐसी प्रतीति, ऐसा अनुभव चलता है, परंतु अधिक मात्रा में स्थिरता नहीं है । उनके अनंतानुबंधी है ही नहीं परंतु तीन कषाय चौकड़ी अभी विद्यमान हैं और उन उठनेवाले राग के वे स्वामी नहीं है । मुनिराजों में स्थिरता अधिक होती है और तीन कषाय चौकड़ीरूप राग उनके उत्पन्न ही नहीं होता, मात्र संज्वलन के उदयरूप

राग पाया जाता है ।

प्रश्न – नारकी जीवों का अवधिज्ञान कुअवधि होता होगा ?

उत्तर – सम्यग्दृष्टि नारकियों के सुअवधिज्ञान होता है और पहले तथा दूसरे गुणस्थानवालों के कुअवधि अर्थात् विभंगज्ञान होता है । देवों और नारकियों में उस भव में अवधिज्ञान होता ही है इसलिए इसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं ।

अब उस अवधिज्ञान का क्षेत्र कितना है उसे देखते हैं ।

पहली पृथ्वी के नारकियों में अवधिज्ञान का क्षेत्र चार कोस होता है जो क्रम से प्रति पृथ्वी आधा-आधा कोस घटते-घटते अर्थात् द्वितीयादि पृथ्वियों में क्रम से साढ़े तीन, तीन, ढ़ाई, दो, डेढ़ और एक कोस अवधिक्षेत्र होता है । सातवें नरक के नारकियों में अवधिक्षेत्र की मर्यादा एक कोस है ।

प्रश्न – पांचवें, छठवें काल में धर्म का लोप हो जायेगा ?

उत्तर – अभी हम अवसर्पिणी के पांचवें-दुखमा काल में हैं, उसके अंत तक धर्म रहेगा । अंत में वीरांगद मुनि, सर्वश्री नामक आर्यिका, अग्निल नामक श्रावक और पंगुसेना नामक उत्कृष्ट श्राविका होंगे । पंचम काल के अंत में संन्यास मरण से मरकर वे सौधर्म स्वर्ग में जन्मेंगे । उसके पश्चात् धर्म का लोप होगा । छठवें काल के अंत में प्रलय होगा पश्चात् उत्सर्पिणी का पहला (हमारे छठवें समान) और दूसरा (हमारे पंचम समान) काल होगा उस दुखमा काल के अंतिम १००० वर्ष बाकी रहनेपर क्रम से सोलह कुलकरों की उत्पत्ति होगी । वे जीवों को कैसे रहना, कैसे व्यवहार करना, कैसे आचरण रखना आदि बातें सिखायेंगे ।

प्रश्न – अलोकाकाश में अंधेरा होता है या प्रकाश ?

उत्तर – अंधेरा, उजाला तो पुद्गल है । अलोकाकाश में तो मात्र आकाशद्रव्य ही है, वहां पुद्गलद्रव्य है ही नहीं । वहां न अंधेरा है, न प्रकाश है ।

अब समय हो गया, शेष प्रश्नों का यथावसर उत्तर देंगे ।

बोलिये, विदेहक्षेत्र में विराजमान चौथे तीर्थंकर श्री सुबाहु भगवान की जय ।

५. शलाकापुरुष, अन्य शंका समाधान

यहां त्रिलोकसार के आधार से तीन भुवन का स्वरूप देख रहे हैं । तीन भुवन कहो या त्रिलोक कहो एक ही बात है । छहढ़ाला के मंगलाचरण में लिखा है –

तीन भुवन में सार वीतराग विज्ञानता ।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहूं त्रियोग सम्हारिकै ।।

तीन भुवन में-इस लोक में छह द्रव्य पाये जाते हैं । जीव अनंत हैं, पुद्गल अनंतानंत हैं, धर्म, अधर्म, आकाश एक-एक हैं, कालद्रव्य असंख्यात हैं । आकाशद्रव्य तो लोक-अलोक मिलकर है । इन सबमें सारभूत वीतराग विज्ञानता है । हम सब स्वयं वीतराग विज्ञान स्वरूप हैं और अपना आश्रय करने से पर्याय में भी वीतराग विज्ञानता प्रकट होती है । जिन्होंने ऐसी वीतराग विज्ञानता प्रकट की है उन अरहंत और सिद्धों को भी हम उनके जैसा बनने के लिये नमस्कार करते हैं ।

यहां त्रिलोकसार के मंगलाचरण में तीसरे छंद में अभी हमने गाया था – 'तीन भुवन थिति जानि कै, आप आपमय होय' – तीन भुवन की स्थिति अर्थात् स्वरूप जानकर, पूरे विश्व का स्वरूप जानकर ऐसा कहा है, तो उसे क्यों जानना ? – अहो ! जानना तो हमारा स्वभाव है । जीव अपने को भी जानता है और पर को भी जानता है । जो कहते हैं कि बस मैं ही मैं हूँ, अन्य कुछ है ही नहीं, सब माया है; तो ऐसी भ्रामक कल्पना के साथ कोई अपना अनुभव करना चाहे, सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहे तो वह तीन काल में भी नहीं हो सकता । जो हैं-जिनका अस्तित्व है तथा जो वस्तुयें जैसी हैं उनका वैसा ज्ञान में स्वीकार होना चाहिये ।

करणानुयोग के विषय में जो गणित हैं उनकी तो हम जांच पड़ताल-परीक्षा कर सकते हैं । जैसे द्वीपों के-समुद्रों के क्षेत्रफल निकालना हो, गोल, त्रिकोण, चौकोर, शंखाकृति क्षेत्र का क्षेत्रफल निकालना हो, तो हम निकाल सकते हैं, उसकी सत्यता की परीक्षा कर सकते हैं, परंतु मेरुपर्वत की ऊंचाई कितनी है, नरक में बिल कितने हैं ये बातें हम नाप नहीं सकते, केवली की वाणी के अनुसार ही जानना होता है – जिसे आगमप्रमाण कहते हैं । केवली भगवान ने इन सभी वस्तुओं को प्रत्यक्ष जानकर

बताया है और यदि किसीके उनकी वाणी का विश्वास नहीं है तो यह बात निश्चित होती है कि उसे भगवान की भी श्रद्धा नहीं है ।

हम पॅथॉलॉजिस्ट के पास खून की या शरीर के अन्य अवयवों की जांच करने के लिये जाते हैं । खून की जांच करके डॉक्टर हमें रिपोर्ट लिखकर देते हैं जैसे कि ब्लड शुगर इतनी-इतनी है । उस पर हमारा कितना प्रतिशत भरोसा होता है ? क्या कहा ? शत प्रतिशत-सौ टका ! हो सकता है कि रिपोर्ट टाईप करने में टाइपिस्ट ने गलती की हो । उस रिपोर्ट को देखकर जीव दूसरे स्पेशॅलिस्ट के पास दौड़ता है और जैसा वह कहे, ठीक वैसे ही सारी बातें आचरण में लाता है । क्या खाना और क्या नहीं खाना, क्या करना आदि बातें जैसी बतायी जायें ठीक उसीप्रकार आचरण शुरु कर देता है । वहां जरा भी शंका नहीं करता । उनसे नहीं पूछता कि किसने देखा है ? इसका कारण एक ही है कि उसकी 'मैं शरीर हूँ' ऐसी मान्यता अनादि से दृढ़ है, जिसे कोई हिला नहीं सकता-अरहंत भगवान भी हिला नहीं सकते ।

प्रत्येक द्रव्य अनादिनिधन है, अनंत गुणस्वरूप है, वह अपने से ही अपने में ही परिणमन करता रहता है, उसकी पर्याय स्वयं से ही होती है, अन्य कोई उसे मदद करे-असर करे-धक्का देकर स्टार्ट करे-पुश करे ऐसा है ही नहीं । निमित्त से कोई कार्य नहीं होता । छह द्रव्यों के समूहरूप यह लोक भी अनादिनिधन है, अनादि से है और अनंतकाल तक रहेगा, उसका रक्षणकर्ता, धारणकर्ता, संहारकर्ता कोई भी नहीं है । कोई भी नये जीव पैदा नहीं होंगे, कोई नये पुद्गल उत्पन्न नहीं होंगे । संसार में ये जो अनंत जीव परिभ्रमण कर रहे हैं-हमारी भाषा में जन्ममरण कर रहे हैं वे कहीं से मरकर अन्यत्र कहीं जन्म लेते हैं – उनकी संख्या न बढ़ती है, न घटती है ।

एक ही कुटुंब के अनेक सदस्य यहां पर मनुष्यपर्याय में इकठ्ठे हुये हैं, कोई नरक से आया होगा, कोई स्वर्ग से, कोई तिर्यंच से या कोई मनुष्य से । मोक्ष से भी कोई आता होगा कि नहीं ? ना, वह तो वन वे ट्राफिक है । एक बार निर्वाण हो जाये वह जीव दुबारा जन्म धारण नहीं करता । अन्यमति मानते हैं कि भगवान यहां अवतार लेते हैं, यह बात झूठी है ।

किसीका प्रश्न आया है कि कल जो त्रेसठ शलाका पुरुषों की बात की वह कुछ हमारे ख्याल में नहीं आयी । यह शलाका क्या है ?

उत्तर – कल जो त्रेसठ शलाका पुरुषों की बात की थी, वे महापुरुष-श्रेष्ठ पुरुष होते हैं । हम तो यहां की-भरतक्षेत्र की बात कर रहे हैं । यहां आर्यखंड में छह काल बताये थे – अवसर्पिणी के छह और उत्सर्पिणी के छह । अभी यहां अवसर्पिणी का पंचम काल चल रहा है । जब यहां चौथा काल प्रारंभ होता है तब क्रमसे चौबीस तीर्थंकर होते हैं । उनके नाम तो याद है ना ? वृषभदेव अर्थात् आदिनाथ से लेकर महावीर तक एक के बाद एक ऐसे कुल चौबीस तीर्थंकर हुये हैं । शुरु-शुरु में दो तीर्थंकरों के बीच में काल का अंतर बहुत बड़ा होता है । पहले आदिनाथ और दूसरे अजितनाथ तीर्थंकर इनके बीच कितना अंतर था ? हां, ५० लाख करोड सागर । एक सागर गिनते-गिनते नहीं, सुनते-सुनते भी हमें पसीना छूट जाता है ।

चौथा काल तो एक कोडाकोडी सागर का है । कोडाकोडी का अर्थ है १ करोड × १ करोड । शुरु-शुरु में आयु भी बड़ी होती थी । वृषभदेव की आयु कितनी थी मालूम है ना ! हां, चौरासी लाख पूर्व । तिरासी लाख पूर्व तक तो वे राजपाट में थे । यह पूर्व क्या होता है उसे देखते हैं । चौरासी लाख पूर्वांगों का एक पूर्व होता है और चौरासी लाख वर्षों का एक पूर्वांग होता है । दूसरी भाषा में कहना हो तो ८४ लाख वर्ष × ८४ लाख वर्ष = १ पूर्व = ७० लाख ५६ हजार करोड वर्ष । ऐसे १ पूर्व, २ पूर्व, हजार पूर्व, लाख पूर्व, ८४ लाख पूर्व की आदिनाथ भगवान की आयु थी । कर्मभूमि के मनुष्य, तिर्यंच की उत्कृष्ट आयु तो एक करोड पूर्व की होती है । भोगभूमि में तो पल्यों की आयु होती है । कर्मभूमि, भोगभूमि आदि की चर्चा हम बाद में करनेवाले हैं । कुछ बातें ऐसी हैं जो पहले सुनेंगे, बाद में समझेंगे; कुछ बाते ऐसी भी होती हैं जो पहले विस्तार से समझते हैं बाद में उनका विवेचन होता है ।

कर्मप्रकृतियों में भी ऐसा होता है । कई प्रकृतियां पहले बंधती हैं और बाद में उदय में आती हैं । आप कहेंगे इसमें क्या आश्चर्य है ? पहले बंधेगी, बाद में ही तो उदय होगा ! हां सुनना, कुछ प्रकृतियां ऐसी हैं कि बाद में बंधती हैं और पहले उदय में आती है । पता है आपको ? ये देखो हमारे बहुत सारे स्वाध्यायी यहां बैठे हैं, उत्तर देने के लिये तैयार हैं परंतु मौन लेकर बैठे हैं – हमारी रोज की ऐसी ही पद्धति है । क्योंकि हम चाहते हैं कि नये लोगों को विचार करने के लिये अधिक समय दिया जाये, उन्हें उत्तर देने का पहले मौका दिया जाये ।

हां बोलो प्रेरणाबेन ! सही उत्तर है । आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग नामक प्रकृति बंधती हैं सातवें, आठवें गुणस्थान में और उनका उदय होता है छठवें गुणस्थान में । ऊपर के गुणस्थान में बंधती हैं और पश्चात् नीचे के-छठवें गुणस्थान में आनेपर उसका उदय होता है । मुनिराज सातवें से छठवें में और छठवें से सातवें में आते-जाते रहते हैं । अंतर्मुहूर्त-अंतर्मुहूर्त में छठवां-सातवां होता रहता है ।

आपका प्रश्न है कि आठवें मे बांधनेवाला वापिस छठवें में कैसे आयेगा ? कौन उत्तर देना चाहते है ? हां, बराबर है; उपशमश्रेणी में आठवां, नौवां, दसवां, ग्यारहवां और फिर क्रम से ही दसवां, नौवां, आठवां, सातवां, और छठवां गुणस्थान प्राप्त होता है । कोई भी जीव ग्यारहवें गुणस्थान से सीधा मिथ्यात्व में नहीं जाता, छठवें तक तो क्रम से ही आता है, मरनेपर सीधा चौथे में जाता है । आहारक संबंधी प्रकृति बांधी हो उन मुनिराज को यदि कोई प्रश्न हो या तीर्थवंदना का विकल्प हो तो उनके मस्तक से एक हाथ प्रमाण, सप्तधातु रहित, सफेद, पुरुषाकार पुतला निकलता है और तीर्थों की वंदना करके या यदि प्रश्न के समाधान के लिये तीर्थंकर से समीप जाकर जाते ही उनका समाधान होकर, एक अंतर्मुहूर्त में वापिस लौटकर मूल शरीर में प्रवेश करता है । छठवें गुणस्थान के अंतर्मुहूर्त काल से भी इस आहारक शरीर का बनना और जाकर वापिस लौटने का काल छोटा है ।

हमारी बात तो शलाकापुरुषों की चल रही थी । जिन जीवों ने पहले तीर्थंकर प्रकृति बांधी है, उन जीवों को केवलज्ञान होनेपर अर्थात् तेरहवें गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति का उदय होता है, उनके समवसरण की रचना होती है, उनकी दिव्यध्वनि छूटती है, उनके महान पुण्य के उदय से अन्य भी अनेक अतिशय होते हैं ।

तीर्थंकर प्रकृति के बंध का प्रारंभ कौन करता है यह बात तो हमने पहले देखी ही थी, याद है ना ? कर्मभूमि का मनुष्य, चौथे से सातवें गुणस्थानवर्ती, तीर्थंकर या केवली के पादमूल में इस प्रकृति के बंध का प्रारंभ करता है । बाद में वह हर समय तीर्थंकर प्रकृति को बांधता ही रहता है भले वह राजपाट करे, गृह व्यापार करें या पूजापाठ करें । आठवें गुणस्थान तक इसका निरंतर बंध होता है ।

परंतु यह प्रकृति बंधती कैसे है ? क्योंकि समवसरण में तो अनेक जीव जाते

हैं, सबके तो नहीं बंधती ! शास्त्र में तो उसके कारणों की चर्चा करते हुये षोडशकारण भावना-सोलह भावनाओं का वर्णन आता है । आपमें से कोई तीर्थंकर प्रकृति बांधना चाहता है ? एकदम शॉर्टकट बताऊंगी-संक्षेप में बताऊंगी । अपने पास-अपने आगम में सब रास्ते हैं । कितने जीव हैं यहां जो तीर्थंकर प्रकृति बांधना चाहते हैं ?

देखिये, जो जीव कोई भी प्रकृति बांधना चाहता है उसे बंध अच्छा लगता है । जिसे कर्म के-पुण्यकर्म के उदय में प्राप्त संयोग अच्छे लगते हैं, जो कहता है कि हमने पूर्व में बहुत पुण्य किया था तभी तो यह अच्छा संयोग प्राप्त हुआ है; उस जीव को पुण्यप्रकृतियों का बंध अच्छा लगता है । जिसे बंध अच्छा लगता है उसे मोक्ष अच्छा नहीं लगता । हमें तो अपने ही अभिप्राय को देखना है, किसी पर व्यंग नहीं करना है । यदि अंदर मान्यता में यह मिथ्या अभिप्राय पड़ा है और ऊपर से आचरण में कुछ सुधार करना चाहते हैं, तो कुछ भी लाभ नहीं होता । जैसे अंदर कोई शल्य-कांटा या फॉरेन बॉडी शरीर में घुसा पड़ा है और ऊपर से मलमपट्टी लगावें तो उलटा इन्फेक्शन होगा-जख्म ठीक नहीं होगी ।

हम राग-द्वेष को कंट्रोल करना चाहते हैं और कुछ शुभ भाव हुये तो मानते हैं हम आगे बढ़ गये-अच्छे हो गये । तीर्थंकर प्रकृति भी सहज बंधती है, उसके बंधयोग्य परिणाम सहज होते हैं, बांधने की इच्छावालों के तो नहीं बंधती क्योंकि यह तो सम्यग्दृष्टि के ही बंधती है ।

आप कहेंगे हम तो सोच समझकर यहां देवलाली में शिबिर के लिये आये हैं और आप कहती हो कि ये शुभ भाव सहज होते हैं ?

उत्तर – यहां बैठे-बैठे या पूजन करते समय या ध्यान के नामपर बैठते हैं तब अन्य विकल्प-कोई अशुभ भाव क्यों आते हैं ? मंजूबेन ! अशुभ विकल्प सहज आते हैं या आप करती हो ? वे तो सहज आते हैं, है ना ! अशुभ तो सहज आते हैं, और शुभ ? शुभ भाव तो हम करते हैं । हम शुभ भावों के कर्ता बने बैठे हैं, यह हमारी भूल है । सारा ही सहज का खेल है । नाटक समयसार में आता है 'ज्ञानी कहे सहज का धंदा'।

तीर्थंकर प्रकृति भी सहज ही बंधती है । ये शुभ-अशुभ भाव तो सहज ही आते

हैं, शुद्धभाव भी सहज ही होता है । धर्म तो सहज ही होता है ।

जो जीव तीर्थंकर प्रकृति बांधता है, वह तीर्थंकर होता ही है । जिस भव में तीर्थंकर प्रकृति बांधना शुरु किया है, उसी भव में वह जीव तीर्थंकर होकर मोक्ष जा सकता है अथवा एक भव देव का या नरक का करके मनुष्य में आकर तीर्थंकर होकर मोक्ष जा सकता है । तिर्यंचों के तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता और तीर्थंकर प्रकृति बांधनेवाला मनुष्य मरकर भोगभूमि का मनुष्य भी नहीं हो सकता । हमारे यहां भरतक्षेत्र में सभी तीर्थंकरों के पांच-पांच कल्याणक होते हैं । गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक, तपकल्याणक (दीक्षाकल्याणक), केवलज्ञानकल्याणक, मोक्षकल्याणक – इन कल्याणकों में इन्द्रादि देव आकर पूजा करते हैं । जन्मकल्याणक आदि की बातें हम मेरुपर्वत संबंधी प्रकरण में देखेंगे । जिनके पांचों कल्याणक होते हैं वे जीव स्वर्ग से या नरक से आनेवाले तीर्थंकर प्रकृति बांधनेवाले जीव हैं, जिन्होंने उससे भी पूर्व के मनुष्यभव में तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारंभ किया था ।

विदेहक्षेत्र में ऐसे भी जीव हो सकते हैं कि वे जन्म होने के पश्चात् तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारंभ करते हैं और उसी भव में तीर्थंकर होते हैं – उनके गर्भ और जन्म तो हो चुके अब यदि उनके चौथे, पांचवें गुणस्थानवर्ती होनेपर तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारंभ होता है तो उनके तपकल्याणक, केवलज्ञानकल्याणक और मोक्षकल्याणक ये तीन कल्याणक होते हैं और यदि मुनि होने के पश्चात् तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारंभ होता है तो उनके अंतिम दो ही कल्याणक होते हैं ।

जिनके देवायु का बंध हुआ हो ऐसे तीर्थंकर प्रकृति बांधनेवाले मनुष्य मरकर सौधर्मस्वर्ग से सर्वार्थसिद्धि तक कहीं भी उत्पन्न हो सकते हैं । जिनके सम्यक्त्व होने के पहले नरकायु बंधी हो और पश्चात् सम्यग्दर्शन होकर जिनके तीर्थंकर प्रकृति बंधना शुरु हुआ हो वे जीव मरकर पहले, दूसरे या तीसरे नरक में उत्पन्न होते हैं । तीर्थंकर प्रकृति बांधनेवाले मनुष्य अल्प-संख्यात होनेपर भी मरकर देव या नारकी होते हैं और वहां की तो सागरों की आयु होती है, इसकारण पूर्वोक्त स्वर्गों में और नरकों में प्रत्येक में असंख्यात-असंख्यात जीव ऐसे पाये जाते हैं जो तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर रहे हैं और वहां से मनुष्य में आकर तीर्थंकर होनेवाले हैं ।

केवलज्ञान होनेपर तीर्थंकर प्रकृति का उदय शुरु होता है, तेरहवें और चौदहवें

दोनों गुणस्थानों में उसका उदय निरंतर रहता है । केवलज्ञान होनेपर जितनी शेष आयु हो उतना उनका तीर्थंकरपद का काल है । उसका सबसे कम काल पृथक्त्ववर्ष तो होता ही है । सामान्यकेवली के तेरहवें गुणस्थान का जघन्य काल एक अंतर्मुहूर्त हो सकता है, वैसे तीर्थंकरों का इतना अल्पकाल नहीं होता ।

हम शलाका पुरुषों को देख रहे थे, अपना मूल विषय नहीं छूट जाये । उनमें से २४ तीर्थंकरों की बात की । १२ चक्रवर्ती होते हैं, वे छह खंडों के अधिपति होते हैं । हमारे पास भी बहुत खंड हैं – श्रीखंड, वेखंड, लोखंड, दोरखंड । क्या कहते हो ? हां, पाखंड; वह तो अनादि से है । परंतु उनकी बात नहीं है । भरत, ऐरावत, विदेह इन सभी क्षेत्रों में पांच-पांच म्लेच्छखंड और एक-एक आर्यखंड होते हैं, ढ़ाई द्वीप-मनुष्यलोक के प्रकरण में इसपर अधिक चर्चा करेंगे ।

पूर्व में जो सम्यग्दृष्टि पुरुष होते हैं, वे देवों में जन्म लेकर वहां से मनुष्य में जन्म लेकर बाद में चक्रवर्ती पद प्राप्त करते हैं । यहां चौथे काल में ऐसे बारह चक्रवर्ती होते हैं । आपका प्रश्न है कि तीर्थंकर प्रकृति के समान चक्रवर्ती नाम की भी कोई प्रकृति होती है क्या ?

उत्तर – इस नाम की कोई प्रकृति १४८ कर्मप्रकृतियों में तो नहीं है । यह पद तो महान सातिशय पुण्यप्रकृति के उदय में प्राप्त होता है, ऐसा पुण्य सम्यग्दृष्टि के ही बंधता है । चक्रवर्ती के अतुल वैभव प्राप्त होता है । उनके चौदह रत्नों की प्राप्ति होती है उनमें से एक है चक्ररत्न, उसके कारण वे सब राजाओं को अपने आधीन कर लेते हैं । उनके पुण्य की विभूति ऐसी होती है कि उन्हें कोई लड़ाई-झगड़ा नहीं करना पड़ता । यह तो इस हुंडावसर्पिणी में ऐसा हुआ कि चक्रवर्ती का भी मानभंग हुआ – भरतचक्रवर्ती और बाहुबली का युद्ध होकर भरत की हार हुयी ।

कल हमने अवसर्पिणी की बात की थी, ऐसी असंख्यात अवसर्पिणी चली जाने के बाद एक ऐसा काल आता है जिसे हुंडावसर्पिणी कहते हैं, जो हमारे यहां अभी चल रहा है । इस काल में बहुत सारी ऐसी बातें हुयी जो अन्य अवसर्पिणियों में नहीं होती । आदिनाथ भगवान तीसरे काल के अंत में हुये, तीर्थंकरों के पुत्री नहीं होती आदिनाथ (वृषभदेव) के हुयी, भरत चक्रवर्ती का मानभंग हुआ, चौथे काल के बीच

में ही कितने ही काल तक धर्म का लोप हुआ, कुछ-कुछ बातें ऐसी हुयी है ।

चक्रवर्ती की सम्पदा इसप्रकार होती है –

चक्रवर्ती के पास चौरासी लाख हाथी होते हैं, उतने ही रथ होते हैं, अठारह करोड घोडे होते हैं, छह ऋतुओं के योग्य वस्तु का देनेवाला कालनिधि, भाजन-पात्र का दायक महाकालनिधि, अन्न का दायक पांडुनिधि, आयुध का दायक माणवक निधि, वाजित्र का दायक शंखनिधि, मंदिर का दायक नैसर्पनिधि, वस्त्र का दायक पद्मनिधि, आभूषण का दायक पिंगलनिधि, नानाप्रकार के रत्नसमूह का दायक नानारत्ननिधि इसप्रकार नवनिधि होती हैं । गाडे के आकार की निधि होती है उसमें से ऐसी वस्तु निकलती रहती हैं । चक्रवर्ती के चौदह रत्नों की प्राप्ति होती है, वे इसप्रकार हैं – (१) चक्ररत्न, (२) असिरत्न, (३) छत्ररत्न, (४) दंडरत्न जो सैन्यों की भूमि को स्वच्छ कर देता है, (५) मणिरत्न-चूडामणि होता है जो इच्छित पदार्थों का दान देता है, (६) चर्मरत्न (७) काकिणीरत्न ये सात अचेतन रत्न हैं । जब चक्रवर्ती अपनी सेनासहित विजयार्ध की गुफा तक आते हैं तब इस रत्न से गुफाओं के कपाट खुल जाते हैं । इन गुफाओं में दो नदियां हैं जो गंगा नदी में मिलती हैं । जिनके नाम हैं उन्मग्ना और निमग्ना । उन्मग्ना में कोई भी वस्तु गिर जाये तो वह बाहर आती है और निमग्ना में अत्यंत हलकी भी वस्तु गिर जाये तो वह अंदर चली जाती है । गुफाओं को पार करने में ये अलग-अलग रत्न काम आते हैं । अन्य सात सचेतन रत्न इसप्रकार हैं – (१) ग्रहपतिरत्न, (२) सेनापतिरत्न, (३) हाथिरत्न, (४) घोडेरत्न, (५) पुरोहित, (६) स्थपति याने स्थापत्यविशारद (इंजिनीयर) और (७) स्त्रीरत्न।

चक्रवर्ती के ९६ हजार रानियां, ३२ हजार पुत्र आदि होते हैं । यह सब उनके पुण्य का वैभव है जो सुनकर हमें बहुत अच्छा लगता है । परंतु यह नियम है कि जो चक्रवर्ती चक्रवर्ती पद में मरता है वह मरकर सातवें नरक में जन्म लेता है, जहां ३३ सागर की आयु है । यहां तो चक्रवर्ती पद अच्छा लग रहा था, क्षणभर में मरकर सातवें नरक में चला जाता है । वहां कैसी-कैसी परिस्थिति होती है और कैसे-कैसे परिणाम होते हैं यह सब हमने कल देखा था । हमें भी अपने अनुकूल संयोग बहुत अच्छे लगते हैं, उन्हें कुछ समय के लिये छोड़कर अपने ही कल्याण की बातें सुनना अच्छा नहीं लगता । वे चक्रवर्ती भी अनुकूलता में रचे पचे रहते हैं,

भोग उन्हें सुहाने लगते हैं तभी तो वे चक्रवर्तीपद में ही रहते हैं । अन्य चक्रवर्ती जो राजपाट का त्याग कर मुनिपद लेते हैं उनमें से कितने ही मोक्ष जाते हैं, कितने ही स्वर्ग में जाते हैं । ऐसे १२ चक्रवर्ती इस भरतक्षेत्र में चौथे काल में होते हैं- अवसर्पिणी में तथा उत्सर्पिणी में भी ।

अन्य भी शलाका पुरुष कौनसे देखे थे ? हां, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलभद्र । बलभद्र पहचाने से लगते हैं ना ? यहां देवलाली में ? सुबह दर्शन किये ? कितनों के ? आठ के । कितने हुये थे ? नौ । एक बलभद्र बलराम जो कृष्ण के भाई थे स्वर्ग में गये हैं, शेष आठ मोक्ष गये हैं । नारायण को ही वासुदेव कहते हैं । और प्रतिनारायण को प्रतिवासुदेव कहते हैं । नारायण, प्रतिनारायण और बलभद्र एक ही काल में होते हैं ।

नारायण और बलभद्र भाई-भाई होते हैं । कैसे भाई ? चचेरे नहीं, सौतेले भाई होते हैं-दोनों की माँ अलग-अलग होती हैं । जैसे राम बलभद्र और लक्ष्मण नारायण दोनों ही दशरथ राजा के पुत्र थे परंतु दोनों की मातायें अलग-अलग थी । राम कौशल्या के पुत्र थे और लक्ष्मण सुमित्रा के पुत्र थे । नारायण और बलभद्रों में अत्यंत प्रेम होता है ।

दूसरे किसी नारायण और बलभद्र का नाम मालुम है ? कृष्ण और बलराम ।

ऐसा नियम है कि प्रतिनारायण त्रिखंडी होते हैं-तीन खंडों के अधिपति-अर्धचक्री होते हैं । जैसे चक्रवर्ती छह खंडों के अधिपति होते हैं, वैसे प्रतिनारायण तीन खंडों के अधिपति होते हैँ । ये प्रतिनारायण दुष्ट प्रवृत्ति के होते हैं और नारायण इनका वध करते हैं ।

नारायण बलभद्रों के पहले मरते हैं, जैसे कृष्ण की मृत्यु उनके भाई बलराम के पहले और लक्ष्मण की मृत्यु रामचन्द्र के पहले हुयी थी । बलदेवों का अपने भाई नारायण के प्रति अत्यंत अनुराग, अत्यंत प्रेम सहज होता है, अत: वे मर गये ऐसा मानने के लिये भी वे तैयार नहीं होते और छह-छह महिने तक उनका शव कंधेपर लेकर उन्हें नहलाने, खिलाने की कोशिश करते हैं, उनको मनाते हैं, बहुत शोक करते हैं ।

हमें सवाल उठता है कि क्या सम्यग्दृष्टि भी ऐसा कर सकते हैं ? हम उनकी बाह्य क्रियायें देखते हैं और सोचते हैं कि जो क्रिया हम जैसे अज्ञानी भी नहीं कर सकते, वह क्रिया वे कैसे करते हैं ? क्या उनको इतना भी नहीं समझता था ? प्रथमानुयोग पढ़ते हैं तो ऐसा ही लगता है कि ऐसे कैसे सम्यग्दृष्टि, जो छह-छह महिने उनका शव लेकर घूमते हैं ? उसका समाधान यह है कि ऐसा ही उनका आपस में प्रेम होता है और छह महिने तक ऐसी ही उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है । फिर भी चारित्रमोहनीय कर्म के वश होकर ऐसा होता है, वहां मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी का उदय नहीं है । अन्य जो चारित्रमोहनीय है, उसकारण ऐसा होता है।

इसतरह हर चतुर्थ काल में ६३ शलाका पुरुष होते हैं । मेरा आपसे प्रश्न है कि इस अवसर्पिणी काल में भी ६३ शलाका पुरुष हुये होंगे ना क्योंकि यह तो अबाधित नियम है ?

उत्तर – नहीं, चार कम हुये हैं, ५९ ही हुये हैं । इनमें किसी-किसी का डबलरोल हुआ है, यदि सब अलग-अलग जीव होते तो ६३ हो जाते । हमारे कुछ तीर्थंकर ऐसे थे जो चक्रवर्ती भी थे, कौनसे ? – शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरनाथ । महावीर का जीव पहले त्रिपृष्ठ नारायण था । कब था ? श्रेयांसनाथ तीर्थंकर के काल में । बाद में वह जीव कहां गया होगा ? हां, नरक में । नारायण और प्रतिनारायण मरकर नियम से नरक में जाते हैं और बलभद्र कोई मोक्ष में या कोई स्वर्ग में जाते हैं । इन ६३ शलाकापुरुषों के अलावा अन्य भी महापुरुष होते हैं । जैसे कामदेव, तीर्थंकर के माता-पिता, नारद, रुद्र आदि । इनकी भी अपनी-अपनी विशेषतायें पायी जाती हैं ।

रुद्र भी आगे जाकर मोक्ष जाते हैं परंतु उस भव में भावलिंगी संत होकर भी बाद में भ्रष्ट हो जाते हैं-नरक चले जाते हैं । देखो ! जीवों के परिणाम कैसे-कैसे हो सकते हैं ? कोई भावलिंगी संत हो, करोड पूर्व की आयु में अधिक तर काल भावलिंगी मुनि की अवस्था में बीत जाये परंतु परिणाम ऐसे बिगड़ जाते हैं कि मिथ्यात्व में चले जाते हैं, मिथ्यात्व में आयुबंध करके नरक-निगोद में भी चले जा सकते हैं । अत: हमारे परिणाम कब कैसे हो जायेंगे इसका भरोसा नहीं है ।

हम बुढ़ापे में धर्म करना चाहते हैं । हम किसके भरोसे रहते हैं ? अभी के

परिणामों की गॅरन्टी नहीं और भविष्यकाल में बुढ़ापे के परिणामों के भरोसे रहना चाहते हैं । मराठी में कहावत है कि तवा गरम हो तभी रोटी सेकी जा सकती है । नहीं समझे ? सुनो, आप महिलायें रोटी बना रही हो इतने में किसी का फोन आता है तो गॅस बंद करके बातें करने लगते हैं – आधा पौना घंटे की अब छुट्टी ही समझो । बाद में क्या करती हो ? ठंडे तवे पर ही रोटी सेकती हो क्या ? नहीं ना ? वैसे अभी तो स्वाध्याय करने के, शास्त्र सुनने के परिणाम हैं, पता नहीं भविष्य में कब कैसे परिणाम होंगे ? यदि अब नहीं सुनेंगे तो सुनकर समझना, उसपर विचार करना, यह ऐसा ही है इसतरह तत्त्वनिर्णय करना आदि बातें कब करेंगे ? दूसरों को मरते हुये देखते हैं किंतु अपने आप को अमर मानकर बैठे हैं ।

किस परिणाम में कब किस प्रकार की आयु बंधेगी और कहां जाकर जन्म लेगा इसका कोई पता नहीं है । पूरे लोक में जीव कहां जाकर पटकेगा पता नहीं है – नरक में-निगोद में कहीं भी जा सकता है । अभी तो जो संयोग प्राप्त हुये हैं उन्हें छोड़ना नहीं चाहता और आगे जाकर पता नहीं कैसे संयोग प्राप्त होंगे ? न जाने आगे कैसी गति मिलेगी जिसमें अपने कल्याण की बात भी सोच सकते हैं या नहीं ?

इसतरह हमने शलाकापुरुष के बारे में देखा । अभी तक हमने देखा कि सम्पूर्ण लोक में ऊपर ऊर्ध्वलोक है, बीच में मध्यलोक है, नीचे अधोलोक है । अधोलोक में नरकों की रचना, वहां की प्रतिकूलता की बातें देखी । ऐसी प्रतिकूलता में भी असंख्यात जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं – वेदक सम्यक्त्व या प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं । किसी भी संयोग से हमारा मार्ग रुका रहता नहीं इस बात का पता चलता है । हमें तो संयोगों में रुचि पड़ी है । वहां नरकों के प्रतिकूल संयोंगों की तो उन्हें रुचि नहीं हो सकती । वहां भी अनेक जीव विचार करते हैं कि यह कैसी परिस्थिति बन रही है ? कैसी तीव्र वेदना हो रही है ? कैसे परिणाम हो रहे हैं ? इन राग-द्वेष-संक्लेशादि परिणामों से मैं भिन्न हूँ – ऐसे तत्त्वविचारों में जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है ।

एक प्रश्न ऐसा आया है कि एकेन्द्रिय जीव नरक में नहीं जाते ? वहां भी तो पृथ्वी होती है ।

देखिये नरक का क्षेत्र अलग बात है और नारकी होना अलग बात है । जहां

नरक हैं वहां पृथ्वी तो है ही, वहां बादर पृथ्वीकायिक जीव हैं, उन सातों पृथ्वियों के आधार से पांचों ही प्रकार के बादर एकेन्द्रिय जीव रहते हैं परंतु वे नरकगति के जीव नहीं हैं । इन पृथ्वियों के नीचे तीन-तीन वातवलय हैं, बीच में असंख्यात योजनों के अंतराल हैं । पांचों प्रकार से सूक्ष्म जीव तो सर्वत्र हैं – पूरे लोकाकाश में स्थावर जीव रहते हैं । पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक सभी जीव पूरे लोक में असंख्यात-असंख्यात हैं और निगोद शरीर भी असंख्यात हैं परंतु एक-एक निगोद शरीर में अनंत-अनंत जीव पाये जाते हैं । कितने अनंत हैं पता है ? तीन काल में जितने सिद्ध होंगे उनसे भी अनंतगुणे जीव एक निगोद शरीर में रहते हैं – सूक्ष्म निगोद में भी और बादरनिगोद में भी । बादरनिगोद जो आलू, प्याज, गाजर, मूलि, लहसण, गंवारफाटा अर्थात् ऑलोव्हेरा में पाये जाते हैं – छोटीसी कटकी में असंख्यात शरीर और एक-एक शरीर में अनंत जीव । एक शरीर में पाये जानेवाले जीवों के अनंतवें भागप्रमाण जीव भी तीन काल में सिद्ध नहीं बनते । जीवों की अनंतता हमारे ख्याल में नहीं आती अत: लोगों को लगता है कि इतने जीव सिद्ध हो जायेंगे तो यहां कौन बचेगा ? कोई, कहता भी है कि आप लोग इतना स्वाध्याय करते-कराते हो, यदि सब स्वाध्याय करके सिद्ध हो जायेंगे तो क्या होगा ? हमारी मालमत्ता कौन सम्हालेगा ? भगवान ने इतना सब निर्माण किया, उसको भोगेगा कौन ? खायेगा कौन ? ऐसा पूछनेवालों ने सारे विश्व को अपना भोग्य मान रखा है ।

आपके अनेक प्रश्नों के उत्तर में यह चर्चा हो रही थी । एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के जीव मरकर नारकी नहीं होते, ना ही वे देवगति में जा सकते हैं । ये सब नियम हैं । कौनसे गति के या मार्गणा के जीव कौनसी कर्मप्रकृति कब बांध सकते हैं ? किसे कौनसी प्रकृतियों का कब उदय होता है ? इनके सब नियम हैं जो निश्चित हैं; उनमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता, हम केवल उनको जान सकते हैं । हम उनको या उन भावों को बदल नहीं सकते ।

अब नरकों का वर्णन समाप्त हुआ परंतु अधोलोक का वर्णन समाप्त नहीं हुआ है । पहली रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर के दो भागों में अर्थात् खरभाग और पंकभाग में भवनवासी और व्यंतर जाति के देवगति के देव रहते हैं, जो अधोलोक में रहनेवाले देवगति के जीव हैं । हमें लगता है कि सभी देव ऊर्ध्वलोक में और नारकी अधोलोक

में रहते हैं, परंतु ऐसा नहीं है । नारकी तो मात्र अधोलोक में अपने-अपने नरक बिलों में पाये जाते हैं परंतु देवगति के जीव तो ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक में यथायोग्य स्थानों में रहते हैं । ज्योतिषि मध्यलोक में रहते हैं ।

ये भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषि क्या है देखते हैं । तीनों को मिलकर भवनत्रिक कहते हैं । आपने छहढ़ाला में पढ़ा-सुना होगा कि सम्यग्दृष्टि मनुष्य या तिर्यंच सम्यक्त्व के साथ इन भवनत्रिकों में जन्म नहीं लेता, वहां के जीव जन्म से सम्यग्दृष्टि नहीं होते; भले ही वे बाद में सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती हो सकते हैं, परंतु असंयत सम्यग्दृष्टि या देशसंयत-पंचम गुणस्थानवर्ती जीव पूजनीय नहीं होते-उनके अर्घ्य-पूजा-आरती नहीं की जा सकती – चरणानुयोग के भी नियम होते हैं, उनको जानकर विवेकपूर्ण आचरण रखना योग्य है, नहीं तो मिथ्यात्व का दोष लगता है । भवनत्रिकों के यक्ष, देव, देवियों को भगवान मानना, उनकी पूजा करना गृहित मिथ्यात्व है । वे तो भगवान के भक्त हैं, भगवान नहीं हैं । हम बिना सोचे देखा देखी इन बातों को करते हैं-कुछ विचार नहीं करते ।

भवनवासी देव भवनों में रहते हैं । हमारे यहां जैसे गर्भगृह या तलघर होते हैं वैसे प्रथम पृथ्वी के खरभाग और पंकभाग में पृथ्वी के बीच में ही इन देवों के रहने के स्थान-भवन होते हैं । वहां उन देवों के रहने के प्रासाद, जिनमंदिर, अकृत्रिम चैत्यालय आदि होते हैं । हम तीन लोक के अकृत्रिम जिनचैत्यालयों की पूजा करते हैं तब अधोलोक के ७ करोड ७२ लाख जिनचैत्यालयों को नमस्कार करते हैं, अर्घ्य चढ़ाते हैं, ऊर्ध्वलोक के ८४ लाख ९७ हजार २३ अकृत्रिम चैत्यालयों को और मध्यलोक के ४५८ अकृत्रिम चैत्यालयों को हम अर्घ्य चढ़ाते हैं, इनकी रचना एवं वर्णन हम बाद में देखेंगे । व्यंतरों में कितने ही व्यंतरों के भवन होते हैं, कितनों के आवास होते हैं और कितनों के भवनपुर भी होते हैं । इनकी भी चर्चा आगे आयेगी । व्यंतरों के और ज्योतिषियों के भी अकृत्रिम चैत्यालय होते हैं जो असंख्यात हैं । इनके अलावा चैत्यवृक्ष, मानस्तंभ, जिनबिम्ब, चैत्य अनेक जगह होते हैं, सर्वत्र जिनबिम्ब विराजमान हैं, जिनधर्म ही चलता है ।

यह हुंडावसर्पिणी काल ऐसा आया है कि जिसमें अन्यमतियों के देवी देवताओं की इतनी प्रचुरता है । विदेहक्षेत्र में ऐसे कुलिंगी और कुधर्मी नहीं होते । हमारे यहां

इस काल में कुधर्मियों की अधिकता है, अत: हमें चिंता होती है कि हमारे जैनधर्म का क्या होगा ? आपको होती है या नहीं चिंता ?

किसी को यह चिंता नहीं होती कि मेरा क्या होगा ? जो जिनधर्म का अवलम्बन लेगा वह टिकेगा । धर्म तो शाश्वत रहनेवाली चीज है, वस्तुव्यवस्था शाश्वत है और उसका उपदेश देनेवाले तीर्थकरों का हमेशा ही सद्भाव रहेगा, कभी भी उनका अभाव नहीं रहेगा ।

इस काल में यहां भरतभूमि में कोई तीर्थंकर नहीं, मुनिराज के दर्शन भी दुर्लभ है परंतु विदेहक्षेत्र में तीर्थंकर हमेशा विराजमान रहते हैं । धर्म का और धर्म का उपदेश देनेवालों का तीन काल में कभी अभाव नहीं होता । हम तो ऐसे दुर्भागी हैं कि ऐसे निकृष्ट काल में यहां जन्मे, परंतु फिर भी इतने भाग्यवान हैं कि तीर्थकरों ने जो उपदेश दिया है वह आचार्यों की परम्परा से हमें आज तक उपलब्ध हुआ है, ज्ञानियों ने उसे सरल करके समझाया है । कुंदकुंदाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, जयसेनाचार्य, नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती, वीरसेनाचार्य और कितने ही दिग्गज आचार्यों ने ग्रंथरचना करके मूलमार्ग सुरक्षित तो रखा ही है, उसे और अधिक सरल करके समझाया भी है । ये ग्रंथ तो हमारे मंदिरों में, शास्त्रों की अलमारियों में रखे जाते हैं । हमारे यहां भी ऐसे ही पड़े रहे थे, बचपन में हम उनकी पूजा करते थे, परंतु उनके अभ्यास से ही वे बातें आज हमारे ज्ञान में आ रही हैं – हम अपने कल्याण की बात सोच सकते हैं ।

हमें शास्त्रों का जरूर जतन करना चाहिये । धर्मी जीवों को शास्त्र के प्रचार-प्रसार के, तीर्थक्षेत्रों की रक्षा के भाव जरूर आते हैं परंतु मात्र शास्त्र छपवाने से उनकी रक्षा नहीं होगी, पैसे देने से उनकी रक्षा नहीं होगी परंतु शास्त्र तो जाननेवालों के आधार से रहेंगे, पुस्तकों के आधार से नहीं । शास्त्रों का अभ्यास करने से उनका अर्थ जरूर समझ में आता है । व्यवहार में तो हम कुशल हैं, नयी चीजें जल्दी सीख जाते हैं । इन शास्त्रों की रुचि होगी तो कुछ समझ में न आये ऐसी बात बन ही नहीं सकती ।

भवनों की चर्चा हम बाद में करेंगे ।

बोलिये, विदेहक्षेत्र में विराजमान पांचवें तीर्थंकर श्री संजातक भगवान की जय ।

६. अधोलोक के देव-भवनवासी

त्रिलोकसार के आधार से यहां हम त्रिलोक का स्वरूप देख रहे हैं । मैंने बताया था कि त्रसनाली १ राजू × १ राजू चौड़ी, मोटी होती है और १४ राजू ऊंची होती है । इस संबंध में अनेक लोगों ने प्रश्न पूछे और कहा कि वह १३ राजू ऊंची होनी चाहिये क्योंकि नीचे एक राजू तो निगोद है । किसी ने मुझे छपा हुआ चार्ट भी दिखाया जिसमें उसकी ऊंचाई १३ राजू लिखी है । इसलिए मैं त्रिलोकसार का आधार देना चाहती हूँ । त्रिलोकसार की गाथा नं. १४३ है । हम पहले गाथा पढ़ेंगे फिर उसका अर्थ करेंगे ।

लोयबहुमज्झदेसे रुक्खे सारव्व रज्जुपदरजुदा ।
चोद्दसरज्जुत्तुंगा तसणाली होदि गुणणामा ।।१४३।।

लोकबहुमध्यदेशे वृक्षे सार इव रज्जुप्रतरयुता ।
चतुर्दशरज्जुत्तुंगा त्रसनाली भवति गुणनामा ।।१४३।।

लोकबहुमध्यदेशे अर्थात् लोक के बहुमध्य प्रदेश में याने बिल्कुल सेंटर में **वृक्षे सार इव** अर्थात् जैसे वृक्ष के अंदर सार होता है, छाल आदि तो ऊपर-ऊपर होते हैं परंतु बीच में सार होता है, वैसे त्रसनाली लोक के सेंटर में-मध्य में होती है । वह कितनी है ? **रज्जुप्रतरयुता** – रज्जुप्रतर अर्थात् एक प्रतररज्जू-एक स्क्वेअर राजू – १ राजू × १ राजू इसे भुज और कोटी कहते हैं । और कैसी है ? **चतुर्दश रज्जु उत्तुंगा** – चौदह राजू उत्तुंग अर्थात् ऊंची है । **त्रसनाली भवति गुणनामा** – जैसा उसका नाम है वैसी है अर्थात् त्रसजीवों का सद्भाव त्रसनाली में ही है, बाह्य में नहीं । उपपाद, मारणांतिक और केवली समुद्घात करनेवाले त्रसजीवों का त्रसनाली के बाहर भी अस्तित्व पाया जाता है उनकी मुख्यता नहीं है । त्रसनाली के बाहर मात्र स्थावर जीव पाये जाते हैं, स्थावर तो त्रसनाली में भी सर्वत्र हैं ।

इसका अर्थ ऐसा नहीं कि पूरी त्रसनाली में त्रस जीव होने ही चाहिये, उसके कुछ हिस्सों में नहीं भी रहेंगे । द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव भी मात्र मध्यलोक में ढ़ाई द्वीप में तथा अंतिम स्वयंभूरमण समुद्र में एवं स्वयंभूरमण द्वीप के अपरार्ध में पाये जाते हैं । इसे त्रसनाली या त्रसनाडी भी कहते हैं – एक ही बात है । हमने

पहले देखा था कि लोकाकाश का घनफल ७ राजू × ७ राजू × ७ राजू अर्थात् जगत्श्रेणी का घन अर्थात् ३४३ घनराजू है । उसमें से त्रसनाली का घनफल १ राजू × १ राजू × १४ राजू अर्थात् १४ घनराजू घटा देंगे तो ३२९ घनराजू रहा जहां त्रस जीव नहीं रहते । स्थावर तो पूरे ३४३ घनराजू क्षेत्र में रहते हैं ।

किसी के मन में शंका रह जाती है कि यहां अथवा वहां वैसा पढ़ा था, उस शंका को दूर करने के लिये यहां त्रिलोकसार के आधार से चर्चा चल रही है ।

एक बार मैंने फलटण में जैन भूगोल का विषय शिबिर में चलाया था । वहां मंदिरजी की दीवार पर जो चित्र बनाया था उसमें लोकाकाश के ऊपर आठवीं पृथ्वी के ऊपर बीस-बीस हजार योजन मोटाईवाले तीन वातवलय दिखाये थे । जब मैंने वहां के श्री. सुभाषजी गांधी के निदर्शन में वह बात लायी तब उन्होंने मोक्षशास्त्र नामक रामजीभाई की टीका के अंतिम कव्हर पेज पर छपा चित्र बताया जिसमें यही भूल है । उन्हें आगम का आधार दिखाने पर उन्होंने तत्काल ही उन चित्रों को सुधारने के आदेश दिये थे । पं. टोडरमलजी ने भी कहा है कि लिखने में कहीं कोई भूल रह जाती है, तो जिसके ज्ञान में-पकड में वह आती है उसका कर्तव्य है कि आगम के आधार से उसे सुधारें ।

अब अधोलोक के प्रकरण में हमें खरभाग और पंकभाग की चर्चा करनी है, वे हैं तो अधोलोक में परंतु वहां देवगति के जीव भवनवासी और व्यंतर रहते हैं । हमने वहां के अकृत्रिम चैत्यालयों की बात की थी । यह भी देखा था कि भवनवासियों के भवन होते हैं किंतु व्यंतरों के भवन, आवास और भवनपुर भी होते हैं । भवन किसे कहना, आवास किसे कहना और भवनपुर किसे कहना ? भवन तो पृथ्वी के अंदर होते हैं – बड़े-बड़े अनेक योजन विस्तारवाले चौकोर, लगभग ३०० योजन ऊंचाईवाले होते हैं । प्रत्येक भवन में सौ-सौ योजन ऊंचा एक पर्वत होता है जिसके ऊपर अकृत्रिम जिन चैत्यालय होता है । एक-एक चैत्यालय में १०८-१०८ जिनबिम्ब विराजमान हैं जो ५०० धनुष ऊंचाईवाले हैं, जो रत्नमयी हैं । वहां चैत्यवृक्षादि होते हैं उसे भी बाद में देखेंगे । भवनों का विस्तार भी बाद में देखेंगे । पहले आवास क्या है देखते हैं ।

पृथ्वी के ऊपर ऊंचे स्थानों में – तालाब, वृक्ष, पर्वत आदि के ऊपर व्यंतरों के

जो निवासस्थान हैं उन्हें आवास कहते हैं । व्यंतर तो अनेक जगहों में रहते हैं – खरभाग और पंकभाग में तो रहते ही हैं परंतु जैसे हम पृथ्वी के ऊपर रहते हैं वैसे वे भी पृथ्वी के ऊपर, वृक्षों, पर्वतों एवं समुद्रों के ऊपर भी रहते हैं । मेरुगिरी, नाभिगिरी, वृषभगिरी, यमकगिरी, कंचनगिरी इत्यादि अनेक पर्वतों पर भी व्यंतरों के निवासस्थान हैं । समुद्र के तथा भूमि के ऊपर अलग-अलग सतहों पर-अलग-अलग लेव्हल पर १ लाख योजन की ऊंचाई तक अलग-अलग जाति के व्यंतरदेवों के निवासस्थान हैं उन्हें आवास कहते हैं । पृथ्वी के अंदर होते हैं वे भवन, पृथ्वी से ऊंचे स्थानों में अलग-अलग सतहों पर पाये जाते हैं वे आवास हैं । तथा जो समभूमिपर होते हैं जैसे हम समभूमिपर रहते हैं वैसे जो उनके रहने के स्थान हैं उन्हें भवनपुर कहते हैं ।

इन एक-एक भवन में, असंख्यात-असंख्यात देव रहते हैं । देवगति में जो चार प्रकार के देव हैं – भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषि और विमानवासी अर्थात् वैमानिक । सौधर्मादि स्वर्गों में रहनेवाले वैमानिक देव कहलाते हैं । प्रत्येक स्वर्ग में-प्रत्येक विमान में, ये विमान याने हवाई जहाज नहीं है, तो प्रत्येक में असंख्यात देव रहते हैं फिर भी वैमानिकों से भवनवासी अधिक हैं, उनसे भी व्यंतर अधिक हैं और सबसे अधिक संख्या ज्योतिषि देवों की है । हम जिन्हें ग्रह, तारे, नक्षत्र, चन्द्र, सूर्य कहते हैं, वे तो ज्योतिषि देवों के विमान हैं । १ लाख योजन ऊंचाईवाले मध्यलोक में ७९० से लेकर ९०० योजन तक के ११० योजन के पट्टे में ये-सारे पाये जाते हैं । मध्यलोक के प्रकरण में हम उनकी संख्या का हिसाब लगायेंगे ।

ये विमान तो पृथ्वी के खंड हैं । जैसे नींबू काटकर उसे ऊपर सीधा और नीचे गोल रखे वैसे ये पृथ्वी के बड़े-बड़े खंड देवों के विमान कहलाते हैं । पृथ्वी तो लोकाकाश के एक अंत (छोर) से दूसरे अंत तक फैली हो उसे कहते हैं, ये तो खंड हैं । सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिषि देवों के विमान हैं, परंतु उन्हें वैमानिक देव नहीं कहते ।

जैसे नरकों में ४९ पटल देखे, वैसे स्वर्गों में भी ६३ पटल होते हैं, प्रत्येक पटल में अनेक विमान होते हैं । इन विमानों में रहनेवाले विमानवासी देवों के भी दो भेद होते हैं – (१) कल्पवासी और (२) कल्पातीत । सोलहवें स्वर्ग तक के जीव कल्पवासी हैं और ऊपर नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश एवं पांच अनुत्तर विमानों के देव कल्पातीत हैं ।

जहां इन्द्र, प्रतीन्द्र, लोकपाल, त्रायस्त्रिंश, अनीक आदि भेद पाये जाते हैं उन देवों को कल्पवासी कहते हैं । जैसे हमारे यहां कोई राजा है उसके नगर में कोई सेनापति है, सभापति है, मंत्री हैं, सैनिक हैं, नगरवासी हैं वैसे वहां भी भेद पाये जाते हैं । तथा जहां स्वामी-सेवक का कोई भेद नहीं है, प्रत्येक जीव अहमिन्द्र है उन्हें कल्पातीत कहते हैं । ये १६ स्वर्ग युगलों में पाये जाते हैं, जैसे सौधर्म-ईशान अर्थात् पहला और दूसरा स्वर्ग । प्रत्येक जोड़ी में जिसका नाम पहले लेते हैं वह दक्षिण दिशा का स्वर्ग है और दूसरा उत्तर दिशा का । इन विमानों की रचना, संख्या आदि की चर्चा हम ऊर्ध्वलोक में वैमानिकों के प्रकरण में विस्तार से करेंगे । अभी तो भवनवासियों की चर्चा करेंगे ।

कल्पवासियों के समान भवनवासियों के भी १०-१० प्रकार के भेद हैं – उनकी ग्रेड(पद) अलग-अलग है । वहां एक इन्द्र होता है, एक प्रतीन्द्र होता है । इन्द्र के समान प्रतीन्द्र होता है । जैसे हमारे यहां राजा होता है वैसे वहां इन्द्र होता है । प्रतीन्द्र अर्थात् युवराज । ध्यान रखना यहां तो राजा के पुत्र को युवराज कहते हैं वहां देवों के कोई पुत्र-पुत्री नहीं होती । देवों में उत्पत्ति के स्थान-उपपाद गृहों में रत्नजडित उपपाद शय्या होती है, जहां जीव अंतर्मुहूर्त में पर्याप्ति पूर्ण करके युवा ही जन्म लेते हैं । वहां कोई बालक नहीं जन्मते कि जिनका बालसंगोपन करके उन्हें बढ़ाना पड़े । यह चिंता न देवों के है ना देवियों के । हमारा तो अधिकतर समय बालकों की एवं बालों की निगरानी, देखरेख, संवारने में ही चला जाता है, चिंता भी उनके बारे में ही होती है । स्वर्गों में ना बालक है, ना बाल है । वहां तो नख केश रहित सुंदर सप्तधातुरहित शरीर होते हैं । यहां तो नखसौंदर्य (!) एवं केशसौंदर्य (!) के लिये कितना समय बरबाद होता है वह उस-उस पार्लर में जानेवाले ही जाने ! शरीर ही मैं हूँ माना है तो ये बातें ऐसी ही चलेगी ।

तो हमने देखा कि एक इन्द्र होता है, एक प्रतीन्द्र होता है । चार लोकपाल होते हैं, इन्हें दिगिन्द्र भी कहते हैं – दिशाओं के इन्द्र, ये सेनापति समान होते हैं । सोम, यम, वरुण और कुबेर ऐसे उनके चार प्रकार हैं । पूर्व दिशा में सोम, दक्षिण में यम, पश्चिम में वरुण, उत्तर में कुबेर होते हैं । ये सब रहते तो हैं अपनी-अपनी जगह में-अपने-अपने स्वर्गों में परंतु विहार करके अन्यत्र जाते हैं – पंचकल्याणकों में, क्रीडा

के लिये असंख्यात द्वीप समुद्रों में किंतु अपना स्थान नहीं छोड़ते, विक्रिया से एक या अनेक शरीर बनाते हैं-डुप्लिकेट शरीर बनाते हैं । सभी शरीरों में आत्मप्रदेश अखंड रीती से फैलते हैं ।

त्रायस्त्रिंशत् अर्थात् ३३, ये राजा के पुत्र के समान होते हैं; सामानिक अर्थात् राजा के परिवार के समान, तनुरक्षक अर्थात् अंगरक्षक के समान ।

प्रश्न – अंगरक्षक क्यों होते हैं ? वहां कोई लड़ाई-आक्रमण होता है क्या ?

उत्तर – यहां लड़ाई होने न होने का सवाल नहीं है । उनके अंगरक्षक, उनकी बड़ी-बड़ी सेना यह तो उनका वैभव है-पुण्य का उदय है । जैसे हमारे प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति के साथ उनके अंगरक्षक-कमांडोज् चलते हैं । अंगरक्षक, वाहन आदि देव हीन जाति के देव होते हैं वे इन्द्रों का सम्मान करते हैं, उनकी आज्ञा में रहते हैं ।

पारिषद नाम के देव होते हैं । जैसे राजा के सभा में बैठनेवाले होते हैं वैसे इनमें अंत:पारिषद जो उत्कृष्ट अंदर की सभा में बैठते हैं, मध्यपारिषद जो मध्य की सभा में बैठते हैं और बाह्यपारिषद जो बाहर की सभा में बैठते हैं । राजा की जैसी सेना होती है वैसे अनीक जाति के देव होते हैं । उनके भी सात प्रकार बताये हैं जैसे हाथी की सेना, घोडों की सेना आदि । ये अनीक जाति के देव ही उनका रूप लेते हैं । वहां कोई हाथी, घोडा आदि तिर्यंच नहीं होते । जैसे ऐरावत हाथी है, वह तो विक्रिया से उसका रूप धारण किया हुआ होता है । नहीं तो इतना लाख योजन बड़ा, हजार सूंड वाला हाथी कहां रखते होंगे ? क्या खिलाते होंगे ? शास्त्र में ऐरावत हाथी का वर्णन आता है । उसके एक-एक सूंडपर सरोवर, सरोवरों में कमल, कमलपर नृत्य करती हुयी, वाद्य बजाती हुयी देवांगनायें होती हैं ।

यहां बात अनीक जाति के देवों की हो रही थी । एक ही देव हजारों हाथी आदि के रूप धारण कर सकता है । एक प्रकीर्णक जाति के देव होते हैं जैसे यहां नगरवासी होते हैं । जैसे यहां दास-दासी होते हैं वैसे वहां आभियोग्य जाति के देव होते हैं । किल्विषक जाति के देव होते हैं, जैसे हमारे यहां गायनादि क्रिया से आजीविका करनेवाले होते हैं । वहां कोई आजीविका याने रुपये, पैसे, डॉलर का व्यवहार नहीं होता, बस वे गायनादि करते हैं। इसप्रकार इन दस-दस प्रकार के देव भवनवासियों में

और कल्पवासियों में भी पाये जाते हैं । परंतु ज्योतिषि और व्यंतरों में इनमें से आठ ही प्रकार के देव पाये जाते हैं । उनमें चार प्रकार के लोकपाल और त्रायस्त्रिंशत् नहीं होते, उनमें इन्द्र-प्रतीन्द्र, सामानिक, तनुरक्षक, पारिषद, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषक ऐसे आठ प्रकार के देव पाये जाते हैं । इनकी जो अवस्था-जो पोझिशन है वह वही रहती है, जो हीन जाति के देव हैं वे वैसे ही रहेंगे । वहां तो कोई हड़ताल-स्ट्राइक करने की सहुलियत नहीं है, ना ही वे इन्द्रों की आज्ञा को ठुकरा सकते हैं । आज हम काम पर नहीं आयेंगे, वह काम मेरा नहीं है आदि बातें वहां नहीं चलती । यह सहुलीयत यहीं पर है – भोग लो !

देवों के वैक्रियिक शरीर होता है जो आठ गुणों से युक्त होता है, उनके अणिमादि ऋद्धियां होती हैं । वे इसप्रकार हैं – अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व । इनका अर्थ इसप्रकार है –

(१) अणिमा – शरीर को अणु के समान छोटा बना लेने में समर्थ होना ।

(२) महिमा – अपने शरीर को मेरु के समान बहुत बड़ा बना सकते हैं जैसे ऐरावत हाथी जो जम्बुद्वीप जितना एक लाख योजन बड़ा होता है । वह भरतक्षेत्र के अयोध्या में कैसे आता होगा ? यहां आकर छोटा रूप धारण कर लेते हैं ।

(३) गरिमा – गुरु याने भारी । शरीर को वज्र के समान भारी बना सकते हैं ।

(४) लघिमा – लघु याने हलका । शरीर को एकदम हलका बना सकते हैं । जैसे मकड़ी के जाल पर भी चले तो कुछ नहीं होता, अपने शरीर को वायु से भी हलका बना लेते हैं ।

(५) प्राप्ति – भूमिपर स्थित रहकर सूर्य चन्द्र आदि को अंगुली के अग्रभाग से स्पर्श कर सकें ऐसी सामर्थ्य । वैक्रियिक शरीर में तो यह होती ही है परंतु मुनियों के भी तप के प्रभाव से ऐसी वैक्रियिक ऋद्धि प्राप्त होती है जो औदारिक शरीर में भी ऐसा कर सकते हैं । विष्णुकुमार मुनि की कथा तो सबको पता ही है । तुम्हें नहीं पता ? अकम्पनाचार्य आदि ७०० मुनियों के मुनिसंघ पर घोर उपसर्ग हो रहा था । बलि नामक मंत्री ने राजा से सात दिन का राज्य मांगा था, राजा होकर उसने

मुनियों के संघ के चहूं ओर से आग जलायी थी । किसी अन्य मुनि ने अवधिज्ञान से जाना था कि विष्णुकुमार मुनि के विक्रिया ऋद्धि प्राप्त हुयी है । विष्णुकुमार ने ब्राह्मण का रूप लेकर विक्रिया से चमत्कार दिखाकर बलिराजा को शरण में लाया था और उपसर्ग का निवारण किया था । रक्षाबंधन की यह कथा प्रसिद्ध है । हां, उन्हें दुबारा मुनिपद अंगीकार करना पड़ा था क्योंकि यह कार्य मुनिपद के योग्य नहीं था । यह प्राप्ति ऋद्धि है ।

(६) प्राकाम्य – जल के समान पृथ्वी में और पृथ्वी के समान जलपर चलने की सामर्थ्य ।

(७) ईशित्व – सारे जगत में अपना प्रभुत्व स्थापित करने की सामर्थ्य का होना ।

(८) वशित्व – सारे जगत को वश में करने की सामर्थ्य का होना ।

इसतरह ये आठ गुण या सामर्थ्य देवों में पाये जाते हैं ।

तत्त्वार्थसूत्र में प्रतीन्द्र का नाम अलग नहीं बताया वह तो इन्द्र ही के समान है । इन्द्र और प्रतीन्द्र हर जगह पर है – भवनत्रिकों में तथा कल्पवासियों में भी होते हैं । जब समवशरण में उपस्थित रहनेवाले सौ इन्द्रों की संख्या गिनते हैं तब इन्द्र-प्रतीन्द्र दोनों को मिलाकर गिनते हैं ।

अभी तो हमने इनके दस भेद देखे – ग्रेडस् देखे-जाति देखी । भवनवासियों के दस प्रकार के कुल पाये जाते हैं, वे इसप्रकार हैं – (१) असुरकुमार, (२) नागकुमार, (३) सुपर्णकुमार, (४) द्वीपकुमार, (५) उदधिकुमार, (६) विद्युतकुमार, (७) स्तनितकुमार, (८) दिक्कुमार, (९) अग्निकुमार, (१०) वातकुमार । इनमें से असुरकुमार देव पहली पृथ्वी के पंकभाग में रहते हैं और शेष नौ प्रकार के देव खरभाग में रहते हैं । व्यंतरों के भी आठ प्रकार के भेद जो हम बाद में देखेंगे, उनमें से राक्षस जाति के व्यंतरदेव पंकभाग में रहते हैं, अन्य खरभाग में तथा अन्यत्र भी रहते हैं ।

हमें तो वे ही व्यंतर पता है जो भूत बनकर हमारी टी.व्ही. सिरियल्स में दिखाये जाते हैं । हम उनकी सारी काल्पनिक कहानियां सुनते-देखते हैं । किंतु जब हम उनकी आगमोक्त चर्चा सुनेंगे, उनके रत्नमहलों का स्वरूप सुनेंगे तो हमें भी व्यंतर बनने

का विकल्प आयेगा, परंतु ऐसा विकल्प मत लाना । अरे ! ऋद्धिधारी भावलिंगी संतों के भी परिणाम बिगड़ जाये, संयोगों की महिमा आ जाये, कषाय हो जाये तो सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर असुरकुमारादि देवों में इन्द्र बनकर वहां उत्पन्न होते हैं । वहां के इन्द्र भी बहुत पुण्योदय के कारण ही बनते हैं । वहां के साधारण जाति के देव तो अज्ञानवश किये तपश्चरणादि से भी बनते हैं परंतु वहां के महाऋद्धिधारी इन्द्रादि होकर वे ही जन्म लेते हैं जिन्होंने पूर्व भव में संयम धारण किया होता है, तप किया होता है, भावलिंगी संत भी संयम एवं सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर वहां के इन्द्रादि महर्द्धिक देव होकर जन्मते हैं ।

ये जो हमने दस प्रकार के भवनवासी के कुल देखे इनमें प्रत्येक में दो-दो इन्द्र होते हैं – एक दक्षिणवाले इन्द्र और एक उत्तरवाले इन्द्र । जैसे असुरकुमार जाति के देवों मे दक्षिणेन्द्र का नाम है चमर और उत्तरेन्द्र का नाम है वैरोचन । इसप्रकार दस प्रकार के कुल देखे उनमें प्रत्येक में दो-दो इन्द्र इसतरह बीस इन्द्र और बीस प्रतीन्द्र मिलकर भवनवासियों के चालीस इन्द्र होते हैं । व्यंतरों में आठ प्रकार हैं, उनके प्रत्येक के दो-दो इन्द्र अत: सोलह इन्द्र और सोलह प्रतीन्द्र मिलकर बत्तीस इन्द्र हुये ।

सोलह स्वर्गों में कितने इन्द्र होंगे ? सोलह ? नहीं ! वहां तो बारह ही इन्द्र होते हैं और उतने ही प्रतीन्द्र मिलकर चौबीस हुये । तो मेरा सवाल है कि हमारे यहां पंचकल्याणकों में सोलह इन्द्र क्यों बनाये जाते हैं ? मैंने यह प्रश्न प्रतिष्ठाचार्यों को तथा प्रतिष्ठा करानेवालों से भी पूछा था कोई हंसकर टाल देते हैं, कोई कहते हैं ऐसी पद्धति पड़ गयी है, कोई सच कारण भी बताते हैं कि पैसा इकठ्ठा करने के लिये करते हैं । उनकी बोली से अधिक राशि मिलती है ।

हमें कुल सौ इन्द्र देखने हैं ना ! ज्योतिषियों में चन्द्र इन्द्र है और सूर्य प्रतीन्द्र, कुल ९८ हुये । मनुष्यों में चक्रवर्ती और तिर्यंचों में सिंह या अष्टापद को इन्द्र गिनकर कुल सौ इन्द्र होते हैं । तीर्थंकरों के समवशरण में ये सौ इन्द्र उपस्थित रहते हैं ।

हमने भवनवासियों के दस प्रकार के कुल देखे । उनमें प्रत्येक के दो-दो इन्द्र होते हैं – दक्षिण के एवं उत्तर के इन्द्र । उनके नाम तथा उनकी आज्ञा में कितने भवन होते हैं उसे निम्नप्रकार से देखते हैं ।

	कुल का नाम	दक्षिणेन्द्र के		उत्तरेन्द्र के		कुल भवन
		नाम	भवन	नाम	भवन	
(१)	असुरकुमार	चमर	३४ लाख	वैरोचन	३० लाख	६४ लाख
(२)	नागकुमार	भूतानन्द	४४ लाख	धरणानन्द	४० लाख	८४ लाख
(३)	सुपर्णकुमार	वेणु	३८ लाख	वेणुधारी	३४ लाख	७२ लाख
(४)	द्वीपकुमार	पूर्ण	४० लाख	वशिष्ट	३६ लाख	७६ लाख
(५)	उदधिकुमार	जलप्रभ	४० लाख	जलकांत	३६ लाख	७६ लाख
(६)	विद्युतकुमार	घोष	४० लाख	महाघोष	३६ लाख	७६ लाख
(७)	स्तनितकुमार	हरिषेण	४० लाख	हरिकांत	३६ लाख	७६ लाख
(८)	दिक्कुमार	अमितगति	४० लाख	अमितवाहन	३६ लाख	७६ लाख
(९)	अग्निकुमार	अग्निशिखी	४० लाख	अग्निवाहन	३६ लाख	७६ लाख
(१०)	वातकुमार	बलंब	५० लाख	प्रभंजन	४६ लाख	९६ लाख
भवनों की कुल संख्या – ७ करोड ७२ लाख						

इन भवनों का विस्तार जघन्य तो संख्यात करोड योजनों का तथा उत्कृष्ट असंख्यात करोड योजनों का होता है । मध्यलोक के मध्य के असंख्यात द्वीपसमुद्र छोड़कर बाहरी असंख्यात द्वीपसमुद्रों के नीचे के भाग में ये भवन पाये जाते हैं । ये चौकोर अकारवाले होते हैं । इनका बाहुल्य ३०० योजन का है अर्थात् भवनों के छत इतने ऊंचे होते हैं । सुगंधित फुलों से शोभायमान इनकी रत्नमयी भूमि होती है, उसीप्रकार रत्नमयी भित्तियां होती हैं जो नित्य प्रकाश युक्त होती हैं । सभी इन्द्रियों को सुखदायक चंदनादि वस्तुओं से ये भवन सिंचित होते हैं ।

प्रत्येक भवन के मध्य में सौ योजन ऊंचा पर्वत है और उसके ऊपर एक अकृत्रिम जिनचैत्यालय है । प्रत्येक चैत्यालय में १०८ जिनप्रतिमायें हैं जो रत्नों से निर्मित हैं-रत्नजड़ित नहीं हो – किसीने बनायी नहीं हैं-शाश्वत हैं । ये प्रतिमायें ५०० धनुष्य ऊंची पद्मासनस्थ विराजमान हैं ।

यहां किसी ने प्रश्न पूछा है कि आप अकृत्रिम चैत्यालयों को नमस्कार करते हो, परोक्ष पूजन भी करते हो, उसका इतना वर्णन करते हो कि वहां रत्नमयी, व्रजमयी, नाना वर्णों के रत्नों से बनी प्रतिमायें हैं । हम भी तो यहां मूर्तिपर रत्न जड़ते हैं, अंगी चढ़ाते हैं तो क्या दोष है ?

देखिये, एक बार इसका खुलासा किया था कि रत्नमयी होना अलग बात है और रत्नजड़ित होना अलग बात है । आपने अनेक जगह रत्नों से बनायी मूर्ति देखी होगी – जैसे संगमरमर या स्फटिक के पाषाण में से बनाते हैं । परंतु यदि रत्नों से मूर्ति का श्रृंगार करे, रत्नजडित मुकुट या आभूषण पहनायें तो वीतरागता कहां रही ? जैसे यदि हमें श्रृंगार की इच्छा होती है, हम अपने राग का पोषण करना चाहते हैं तो हम बच्चों का श्रृंगार करते हैं, उन्हें वैसे कपडे पहनाते हैं, हमारी अतृप्त इच्छायें बच्चों पर लादते हैं, वैसे हमारे राग का प्रदर्शन और प्रयोग अरहंतों पर भी करना क्या उचित है ?

ये मूर्तियां किसीने बनायी हुयी नहीं हैं, यह रचना हमेशा वैसी की वैसी रहती है । सिर्फ अरहंतों की ही प्रतिमायें हैं ऐसा नहीं अपितु चंवर ढ़ारनेवाली देवों की मूर्तियां भी जिनबिम्बों के पार्श्वभागों में बनी हुयी हैं । किसी का प्रश्न है कि ये कौन से भगवान की प्रतिमायें हैं ? किसी विशिष्ट तीर्थंकरों की ये प्रतिमायें नहीं हैं, परंतु सामान्य से तीर्थंकर अरहंतों के प्रातिहार्य आदि वैभव वहां रचित हैं, चंवर ढ़ारनेवाले इन्द्रों की मूर्तियां भी हैं । हम यहां मंदिरों में जो मूर्ति विराजमान करते हैं वहां चिन्ह बनाकर, भगवान के नाम से स्थापना करके उनकी पूजा करते हैं । ये तो हमने बनायी हुयी हैं । यदि आप कहेंगे कि पूर्व में जो तीर्थंकर हो गये उनकी ये मूर्तियां हैं, तो वे तीर्थंकर हुये उनके पहले भी ये मूर्तियां थी । यह जिनधर्म, वस्तुव्यवस्था अनादि से है तो ये अकृत्रिम चैत्यालय, जिनबिम्ब भी अनादि से हैं, अकृत्रिम हैं । अरहंत, सिद्ध अनादि से हैं, मोक्षमार्ग अनादि से है । अरे ! पूजा करनेवाले हम जीवद्रव्य भी अनादि से हैं, अकृत्रिम हैं । भवनवासियों की और भी कुछ बातें – मुकुटचिन्ह, चैत्यवृक्ष, मानस्तंभ आदि बातें हम आगामी व्याख्यान में देखेंगे ।

बोलिये, विदेहक्षेत्र में विराजमान छठवें तीर्थंकर श्री स्वयंप्रभ भगवान की जय ।

७. अधोलोक के देव-व्यंतर

सर्वज्ञ भगवान के वचन के अनुसार त्रिलोकसार ग्रंथ की रचना हुयी है, उसीके आधार से हम त्रिलोक का स्वरूप देख रहे हैं । अधोलोक की चर्चा में हम भवनवासियों की बात कर रहे थे । उनमें इन्द्र, सामानिक, लोकपाल आदि दस प्रकार की तो जाति देखी और असुरकुमार, नागकुमार आदि दस प्रकार के कुल देखे । इन दस भेदों की पहचान के लिये उनके मुकुटों में अलग-अलग चिन्ह होते हैं, उनकी ध्वजायें अलग-अलग होती हैं, हर एक के चैत्यवृक्ष अलग-अलग होते हैं । चैत्यवृक्ष के मूल में प्रत्येक दिशा में पांच-पांच पद्मासनस्थ जिनप्रतिमायें होती हैं । प्रत्येक प्रतिमा के आगे उत्तुंग रत्नमयी मानस्तंभ होता है इसप्रकार एक-एक दिशा में पांच-पांच मानस्तंभ होते हैं और उन मानस्तंभों में एक-एक दिशा में सात-सात प्रतिमायें होती हैं । यदि आप कभी देवगिरी में गये हो तो देखा होगा कि वहां के मानस्तंभ में एक-एक दिशा में पांच-पांच प्रतिमायें विराजमान हैं । इसलिए इन वृक्षों को चैत्यवृक्ष कहते हैं । देव वहां जाकर नित्य ही इनकी पूजा करते हैं ।

इन दस प्रकार के देवों के मुकुट में पाये जानेवाले चिन्ह तथा उनके चैत्यवृक्षों के नाम निम्नप्रकार हैं –

भवनवासी के भेद	**मुकुट के चिन्ह**	**चैत्यवृक्ष**
(१) असुरकुमार	चूडामणि रत्न	अश्वत्थ वृक्ष
(२) नागकुमार	सर्प	सप्तपर्ण वृक्ष
(३) सुपर्णकुमार	गरुड	शाल्मली वृक्ष
(४) द्वीपकुमार	हाथी	जम्बू वृक्ष
(५) उदधिकुमार	मत्स्य	वेतस वृक्ष
(६) विद्युतकुमार	स्वस्तिक	कदंब वृक्ष
(७) स्तनितकुमार	वज्र	प्रयंगु वृक्ष
(८) दिक्कुमार	सिंह	सरिसों वृक्ष

(९) अग्निकुमार	कलश	पलाश वृक्ष
(१०) वातकुमार	घोडा	राजद्रुम वृक्ष

किसी का प्रश्न है कि पंक याने कीचड, तो पंकभाग में कीचड में ये रचना कैसी बनायी होगी ?

उत्तर – पंकभाग तो उसका नाम है । हमने देखा था कि यहां की भूमि, दीवारें सभी रत्नों की होती हैं । इसे किसी ने बनाया नहीं हैं, वैसी ही अकृत्रिम सहज रचना है । हम मुंबईवासियों को इतना आश्चर्य क्यों लगता है ? लगभग सारी मुंबई भी तो कीचड में-पानी को हटाकर उसमें खड़ी कर दी गयी है ।

शास्त्रों में प्रत्येक जाति के देवों की, देवांगनाओं की संख्या, उनके नाम, उनके वाहकदेवों के नाम आदि बहुत चर्चा है, उसे छोड़कर आगे बढ़ते हैं । असुरकुमारों की उत्कृष्ट आयु १ सागर है । दक्षिणेन्द्र की १ सागर और उत्तरेन्द्र की कुछ अधिक १ सागर है । सर्वत्र उत्तर के भवनवासियों की आयु कुछ अधिक जानना । भवनवासियों में असुरकुमारों की उत्कृष्ट आयु सबसे अधिक है । दूसरे नागकुमार देवों की उत्कृष्ट आयु ३ पल्य, तीसरे सुपर्णकुमार की ढ़ाई पल्य, चौथे द्वीपकुमार की दो पल्य तथा पांचवें से दसवें तक के शेष छह प्रकार के देवों की डेढ़ पल्य होती है । इन सभी भेदों में उनकी जघन्य आयु दस हजार वर्ष होती है ।

असुरकुमार देवों की ऊंचाई २५ धनुष तथा शेष नौ प्रकार के देवों की ऊंचाई १० धनुष है । असुरकुमार देवों का पंद्रह दिन बाद एक बार श्वासोच्छ्वास होता है तथा एक हजार वर्ष के बाद एक बार आहार होता है । देवों मे यह नियम है कि जितने सागर की आयु होती है उतने पक्ष (पंद्रह दिन) जानेपर श्वासोच्छ्वास होता है तथा उतने हजार वर्ष बीतने पर आहार होता है । नागकुमार आदि तीन प्रकार के देवों में साढ़े बारह मुहूर्त जानेपर उच्छ्वास और साढ़े बारह दिन जानेपर आहार होता है, आगे के तीन प्रकारों में इसका प्रमाण साढ़े सात मुहूर्त और साढ़े सात दिन है ।

अब अधोलोक के प्रकरण में व्यंतरों की चर्चा करते हैं । इनकी संख्या असंख्यातों में होती है । ये अधोलोक तथा मध्यलोक में रहते हैं । भवनवासी और कल्पवासी

देवों के हमने जाति अपेक्षा दस-दस भेद देखे थे, याद है ना ! इन्द्र, लोकपाल, सामानिक, त्रायस्त्रिंशत् आदि । इनमें से लोकपाल और त्रायस्त्रिंशत् को छोड़कर शेष आठ भेद व्यंतरों में होते हैं अर्थात् व्यंतरों में (१) इन्द्र (प्रतीन्द्र), (२) सामानिक, (३) पारिषद, (४) तनुरक्षक, (५) अनीक, (६) प्रकीर्णक, (७) आभियोग्य, (८) किल्विषक – ये आठ भेद जाति अपेक्षा होते हैं । व्यंतरों में कुल की अपेक्षा भी आठ भेद होते हैं; भवनवासियों में हमने असुरकुमारादि दस भेद देखे थे । व्यंतरों के आठ प्रकार के कुल इसप्रकार हैं – (१) किन्नर, (२) किम्पुरुष, (३) महोरग, (४) गंधर्व, (५) यक्ष, (६) राक्षस, (७) भूत, (८) पिशाच ।

इनमें से राक्षसों के भवन पंकभाग में पाये जाते हैं, अन्य सात प्रकार के व्यंतरों के भवन ऊपर खरभाग में पाये जाते हैं तथा इनके आवास चित्रा पृथ्वी एवं समुद्रों के ऊपर लाख योजन तक पाये जाते हैं ।

व्यंतरों के शरीर का वर्ण देखते हैं । किन्नरों का वर्ण प्रियंगु फल के समान, किम्पुरुषों का धवलवर्ण, महोरगों का श्यामवर्ण, गंधर्वों का सुवर्ण के समान वर्ण; यक्ष, राक्षस, भूतों का श्यामवर्ण और पिशाचों का कृष्णवर्ण होता । ये सभी देव अलंकारादि से युक्त होते हैं ।

व्यंतरों के भवनों में भी चैत्यवृक्ष होते हैं । इन वृक्षों के मूल में एक-एक दिशा में चार-चार प्रतिमायें होती हैं, भवनवासियों के वहां पांच-पांच प्रतिमायें होती हैं । यहां ध्वजा, तोरण आदि होते हैं, प्रतिमाजी के आगे मानस्तंभ भी होते हैं । तीन पीठ पर मानस्तंभ होते हैं, तीन कोट होते हैं । उनमें मोतियों की मालायें दिव्य घंटा आदि होते हैं । इनके चैत्यवृक्षों के नाम इसप्रकार हैं –

व्यंतरों के कुल	**दक्षिणेन्द्र**	**उत्तरेन्द्र**	**चैत्यवृक्ष**
(१) किन्नर	किम्पुरुष	किन्नर	अशोक वृक्ष
(२) किम्पुरुष	सत्पुरुष	महापुरुष	चम्पा वृक्ष
(३) महोरग	महाकाय	अतिकाय	नागकेशरी वृक्ष
(४) गंधर्व	गीतरति	गीतयशा	तुंवडी वृक्ष

(५) यक्ष	माणिभद्र	पूर्णभद्र	वट वृक्ष
(६) राक्षस	भीम	महाभीम	कंटतरु वृक्ष
(७) भूत	सुरूप	प्रतिरूप	तुलसी वृक्ष
(८) पिशाच	काल	महाकाल	कदम्ब वृक्ष

इन इन्द्रों की दो-दो वल्लभिका देवांगना होती हैं और उस एक-एक की हजार-हजार परिवार देवांगना होती हैं । मनुष्यगति में तप करके, पश्चात् जीव भ्रष्ट होकर व्यंतरों में, ज्योतिषियों में जाते हैं ।

शास्त्र में इन वल्लभिका के नाम, सामानिक, तनुरक्षक आदि की संख्या, एक-एक अनीक की सात प्रकार की सेना होती हैं उनके नाम विस्तार से लिखे हैं, इनकी चर्चा छोड़कर व्यंतरों के इन्द्रों के नगरों के बारे में वर्णन देखते हैं । जहां ये नगर पाये जाते हैं उन द्वीपों के नाम क्रम से इसप्रकार हैं – (१) अंजनक, (२) वज्रधातुक, (३) सुवर्ण, (४) मन:शिलक, (५) वज्र, (६) रजत, (७) हिंगुलक, (८) हरिताल ।

किन्नर कुल के इन्द्रों के अंजनक द्वीप में नगर हैं, उसमें किम्पुरुष इन्द्र के नगर दक्षिण दिशा में हैं और किन्नर इन्द्र के नगर उत्तर दिशा में हैं – ऐसे ही सब में जानना । प्रत्येक के पांच-पांच नगर होते हैं – मध्य में एक और चार दिशाओं में चार नगर होते हैं । मध्य का नगर है उसे इन्द्र का नाम देकर आगे पुर कहते हैं और पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर के नगरों के नाम में इन्द्र के नाम के आगे क्रम से प्रभ, कांत, आवर्त, मध्य शब्द लगाते हैं । जैसे किन्नर इन्द्र के पांच नगरों में से मध्य के नगर का नाम किन्नरपुर, पूर्व दिशा में किन्नरप्रभ, दक्षिण दिशा में किन्नरकांत, पश्चिम दिशा में किन्नरावर्त और उत्तर दिशा में किन्नरमध्य है । इनका प्रत्येक का विस्तार एक लाख योजन का है।

जम्बूद्वीप जितना बड़ा उनका एक-एक नगर है । वे समतल भूमिपर हैं । जैसे हम जम्बूद्वीप पर हैं, वैसे उनके अपने-अपने द्वीपों पर नगर बने हुये हैं अर्थात् पर्वतादि प्रदेशों पर या अन्य जगह नहीं हैं परंतु विवक्षित द्वीपों में भूमि पर बने हैं । उन नगरों के चारों ओर कोट होते हैं जिनकी ऊंचाई ३७$\frac{१}{२}$ योजन, चौड़ाई १२$\frac{१}{२}$ योजन

और मोटाई २$\frac{१}{२}$ योजन होती है । उन कोटों के मध्य में प्रवेश करने के लिये दरवाजे होते हैं । द्वार के ऊपर ७५ योजन ऊंचा सुंदर प्रासाद होता है । उसके अभ्यंतर सुधर्मा नामक सभा होती है । वह १२$\frac{१}{२}$ योजन लम्बी, ६$\frac{१}{४}$ योजन चौड़ी और ९ योजन ऊंची होती है ।

आपने सुधर्मा सभा नाम सुना होगा – इन्द्रों की सभा को सुधर्मा सभा कहते हैं । वहां इन्द्र, सामानिक, लोकपाल आदि सब बैठते हैं । वहां कौनसी दिशा में कौन बैठेगा, उनकी देवियां कहां बैठेगी इनके भी निश्चित स्थान होते हैं ।

नगर के बाहर दो-दो हजार योजन आगे जाकर चारों दिशाओं में एक लाख योजन लम्बे और पचास हजार योजन चौड़े रमणीक वनखंड अर्थात् बाग होते हैं ।

इन इन्द्रों की जो गणिका महत्तरी होती हैं उनके नगर भी अपने-अपने इन्द्रों के द्वीप में ही, अपने-अपने इन्द्रों के इन्द्रपुरी के दोनों पार्श्वभागों में होते हैं । वे चौरासी हजार योजन लम्बे-चौड़े होते हैं ।

अन्य व्यंतरों के नगर अनेक द्वीप और अनेक समुद्रों में होते हैं । इन नगरों को भवनपुर कहते हैं ।

रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग में व्यंतरों के चौदह हजार भवन हैं और पंकभाग में राक्षस कुल के व्यंतरों के सोलह हजार भवन हैं । जमीन या समुद्र से एक हाथ की ऊंचाई से लेकर लाख योजन की ऊंचाई तक व्यंतरों के रहने के जो स्थान हैं उन्हें आवास कहते हैं । इनमें रहनेवाले व्यंतरों के नाम इसप्रकार हैं –

पृथ्वी से एक हाथ ऊपर क्षेत्र में जिनके आवास हैं वे नीचोपपाद हैं, उनके ऊपर दस हजार हाथ ऊपर के क्षेत्र में दिग्वासी हैं, उनके ऊपर दस हजार हाथ ऊंचे क्षेत्र में अंतरनिवासी हैं, उनके ऊपर दस हजार हाथ ऊंचे क्षेत्र में कुष्मांड हैं, उनके ऊपर बीस हजार हाथ ऊंचे क्षेत्र में उत्पन्न नाम के व्यंतर हैं, इससे आगे ऊपर-ऊपर बीस-बीस हजार हाथ के अंतराल से क्रम से अनुत्पन्न , प्रमाणक, गंध, महागंध, भुजंग, प्रीतिक, आकाशोत्पन्न व्यंतर हैं । इनके आवास हमें दिखायी नहीं देते तथा इनके लिये किसी

आधार की जरूरत नहीं होती ।

व्यंतरों का उच्छ्वास कुछ अधिक पांच मुहूर्त होनेपर तथा उनका आहार कुछ अधिक पांच दिन होनेपर होता है । नीचोपपाद आदि वानव्यंतरों की आयु इसप्रकार है – नीचोपपादों की दस हजार वर्ष, दिग्वासियों की बीस हजार वर्ष, अंतरनिवासियों की तीस हजार वर्ष, कुष्मांडों की चालीस हजार वर्ष, उत्पन्नों की पचास हजार वर्ष, अनुत्पन्नों की साठ हजार वर्ष, प्रमाणकों की सत्तर हजार वर्ष, गंधों की अस्सी हजार वर्ष, महागंधों की चौरासी हजार वर्ष, भुजंगों की पल्य का आठवां भाग, प्रीतिकों की पल्य का चौथा भाग और आकाशोत्पन्नों की आधा पल्य आयु है ।

भवनवासी और व्यंतरों की चर्चा हमने अधोलोक में की, ज्योतिषियों की चर्चा मध्यलोक में करेंगे, अब हम स्वर्ग में जायेंगे अर्थात् ऊर्ध्वलोक की ओर चलते हैं । वहां हम वैमानिक देवों की चर्चा करेंगे । देवगति के जीवों के ये चार भेद हमने पहले ही देखे थे । वैमानिकों में भी कल्पवासी और कल्पातीत दो भेद हैं । पहले स्वर्ग से सोलहवें स्वर्ग तक कल्पवासी देव हैं और ऊपर नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर विमानवासी देव कल्पातीत हैं । कल्पवासियों में इन्द्रादि दस भेद पाये जाते हैं।

यह ऊर्ध्वलोक ७ राजू प्रमाण ऊंचा है – मेरुतल से इसकी ऊंचाई इतनी है । यहां त्रसनाली में ये सभी विमान हैं – विमान अर्थात् पृथ्वी के खंड, जिसके ऊपर असंख्यात-असंख्यात देव रहते हैं । नरकों के समान स्वर्गों में भी पटल पाये जाते हैं । सोलहवें स्वर्ग तक के स्वर्ग आठ युगलों में पाये जाते हैं । प्रत्येक युगल में जो पहला नाम है वह दक्षिण का स्वर्ग है और दूसरा उत्तर का है । जैसे सौधर्म स्वर्ग दक्षिण में है, ईशान स्वर्ग उत्तर में है – ये दोनों एक ही सतह पर-एक ही लेव्हल पर हैं । आगे के युगलों में भी ऐसा ही समझना । इनके नाम इसप्रकार हैं – (१-२) सौधर्म-ईशान, (३-४) सनत्कुमार-माहेन्द्र, (५-६) ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, (७-८) लान्तव-कापिष्ठ, (९-१०) शुक्र-महाशुक्र (११-१२) शतार-सहस्रार, (१३-१४) आनत-प्राणत, (१५-१६) आरण-अच्युत ।

चार्ट नं. १४ में इनके नाम देखना । इन स्वर्गों के पटलों की संख्या तथा विमानों

की संख्या हम बाद में देखेंगे ।

इन सोलह स्वर्गों के ऊपर नौ ग्रैवेयक हैं , उनके तीन-तीन के तीन ग्रुप्स हैं – नीचे के तीन अधस्तन ग्रैवेयक, मध्य के तीन मध्यम ग्रैवेयक और ऊपर के तीन उपरिम ग्रैवेयक कहलाते हैं । इन तीनों के प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं – अधो, मध्य और ऊर्ध्व । अधो अर्थात् अधस्तन-नीचे का, ऊर्ध्व अर्थात् उपरिम-ऊपर का ।

इनके ऊपर एक ही सतह पर नौ अनुदिश हैं और उनके ऊपर एक ही सतह पर पांच अनुत्तर विमान हैं ।

अब इनका स्थान देखते हैं – मेरुतल से डेढ़ राजू ऊपर तक सौधर्म-ईशान युगल है, इसके ऊपर डेढ़ राजू तक सनत्कुमार-माहेन्द्र युगल है, इसके ऊपर आधे-आधे राजू में क्रम से एक-एक ऐसे छह युगल हैं । इसतरह छह राजू में सोलह स्वर्ग हैं । ऊपर एक राजू में क्रम से नौ ग्रैवेयक, अनुदिश और अनुत्तर विमान हैं ।

आपने ग्रैवेयक का नाम बहुत बार सुना होगा । हां, छहढ़ाला में आता है ना ! क्या सुना है ?

मुनिव्रत धार अनंत बार ग्रैवेयक उपजायो ।
पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो ।।

प्रश्न – ऐसा क्यों कहते हैं ?

उत्तर – मिथ्यात्व अवस्था में कोई जीव अधिक से अधिक ऊपर कौनसे स्वर्ग तक जा सकता है ? तो नौवें ग्रैवेयक तक जा सकता है; परंतु उसमें भी नियम है कि जिनेन्द्र भगवान के आगम में जैसा मुनि का स्वरूप कहा है – जैसा अंतरंग स्वरूप और बाह्य आचरण कहा है – वैसा बाह्य आचरण तो यथोचित पालन करे किंतु अभी सम्यक्त्व हुआ नहीं है उनको मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनि कहते हैं । ये सच्चे द्रव्यलिंगी हैं । द्रव्यलिंग धारण किये बिना भावलिंगी नहीं हो सकते । यह भी हो सकता है कि द्रव्यलिंग धारण करने के बाद जीव चौथे या पांचवें गुणस्थान में हो अथवा चौथे, पांचवें गुणस्थानवर्ती जीवों ने द्रव्यलिंग धारण किया है परंतु अभी सातवां गुणस्थान प्राप्त नहीं हुआ है-भाविलंग प्रकट नहीं हुआ है ।

ऐसे द्रव्यलिंगी मुनि नौवें ग्रैवेयक तक जा सकते हैं । यहां मिथ्यात्व सहित ऊपर कहां तक जा सकते हैं उसकी बात हो रही थी । वे जीव मुनियों के आचारों का आगमानुसार पालन करते हैं, अत्यंत मंदकषायी होते हैं परंतु अभी अभिप्राय में मिथ्याबुद्धि चलती है । कितने ही शास्त्रों के अभ्यासी हैं – ग्यारह अंगों के पाठी भी हो सकते हैं, संयम पालन करते हुये दिखते हैं परंतु उन्हें संयमी नहीं कह सकते । चौथे गुणस्थान तक के जीव असंयमी ही होते हैं । धवला ग्रंथ में आचार्य वीरसेनस्वामी ने इनके आचारों को द्रव्ययम कहा है, संयम नहीं कहा । छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती और ऊपर के गुणस्थानवर्ती जीवों को ही संयमी कहते हैं ।

जैसे हम अलग-अलग शक्तियों के प्रयोग देखते हैं, उसमें रेकॉर्ड बनानेवालों के नाम भी गिनिज बुक में आता है, वैसे ये जीव भी मुनि के आचार पालते हैं परंतु अभी शरीर में-राग में एकत्वबुद्धि पड़ी है । इन अठ्ठाइस मूलगुणों को पालन करने का और उस मुनियोग्य आचरण करने के शुभराग का मैं कर्ता हूँ, वह राग करने योग्य है और राग करते-करते वीतरागता होगी और मैं मोक्षमार्गी हूँ-मुनि हूँ – ऐसी उनकी मान्यता में मिथ्याबुद्धि चलती है । वे विचार करते हैं देखो मैं कितना कष्ट सहन करता हूँ ! यह दु:ख का सहन करना तो आर्तध्यान हुआ । मोक्ष अनंत सुखरूप अवस्था है तो मोक्षमार्ग में दु:ख होता होगा ? जहां सम्यग्दर्शन होते ही अतींद्रिय सुख प्रकट होता है, निराकुलता होती है और आगे के गुणस्थानों में बढ़ती जाती है, वहां मुनिराजों को तो प्रचुर सुख है-वे प्रचुर आनंद में लीन रहते हैं ।

हमें संयोगों में इष्ट-अनिष्टता लगती है यह हमारी मिथ्या मान्यता है और उसी मान्यता के साथ मुनियों के संयोगों की तरफ देखकर हम कहते हैं – 'बिचारे मुनिराज ! इतनी ठंड़ी में नग्न रहकर सब कुछ सहन कर रहें हैं !' यह मिथ्यादृष्टि की मान्यता है । मुनियों की यह मान्यता नहीं होती । कष्ट सहन करना उनका स्वरूप नहीं है । उनकी सभी क्रियायें सहज होती हैं । जितनी अंतरंग में स्थिरता होती है उतने प्रमाण में बाह्य में शुभ परिणाम एवं वृत्ति सहज होती है । यह सहज निमित्त नैमित्तिक संबंध है ।

'मैं कौन हूँ' इस बारे में मिथ्या मान्यता तो मूल में भूल है । मैं आपको एक

गणित बताती हूँ, वह सही है या नहीं आपको बताना है । २ + २ = ५, ५ + ५ = १०, १० + १० = २०, २० + २० = ४०, ४० + ४० = ८०, ८० + ८० = १६० ..... । यह गणित बराबर है ना ? नहीं, मूल में ही दो और दो चार के बदले दो और दो पांच गिना है, आगे करोडों तक गिनते जाओ तो भी मूल में ही भूल हुयी है तो आगे का सारा हिसाब गलत ही होगा । वैसे ही मिथ्या मान्यतारूप भूल मूल में पड़ी है और मोक्षप्राप्ति के लिये तप करता है - बाह्यतप करता है उसे तो शास्त्र में बालतप कहा है-अंक बिना की बिंदी कहा है । वह कुछ कार्यकारी होगा या नहीं ? हां, संसार बढ़ाने के लिये बहुत कार्यकारी है, मोक्षप्राप्ति के लिये कुछ काम का नहीं है । जो निर्जरा मोक्षमार्ग में कुछ काम की नहीं उसे अकामनिर्जरा कहते हैं – यह संवरपूर्वक की निर्जरा नहीं है, उदयरूप निर्जरा है । अज्ञानी करोडों भवों तक तप तपेंगे तो भी उनकी जितनी निर्जरा हो सकती है उससे असंख्यातगुणी निर्जरा ज्ञानी की - मुनि की एक क्षणमात्र में होती है ।

यह निर्जरा क्या होती है ? और असंख्यातगुणी क्या है ? देखो, हम हर समय में अनंत कर्मपरमाणु बांधते हैं जिसे एक समयप्रबद्ध कहते हैं और पूर्व में बंधे हुये कर्म में से उतने ही अनंत परमाणु निकल जाते हैं, खिर जाते हैं जिसको उदय कहते हैं और हमारे पास-हमारे स्टॉक में अनंतानंत परमाणु सत्ता में पड़े रहते हैं । इसका तात्पर्य है कि जितने कर्मपरमाणु नये बंधते हैं उतने ही पुराने में से निकलकर खिर जाते हैं । परंतु मुनियों का ऐसा नहीं है उनके तो बंधते हैं एक समयप्रबद्ध और खिरते हैं असंख्यातगुणा ।

मिथ्यादृष्टि जीव तो मिथ्यात्व अवस्था में बंधयोग्य सभी प्रकृतियों को बांधता रहता है अर्थात् मिथ्यात्व, १६ कषाय आदि सभी कर्मप्रकृतियां तथा अन्य भी बंधती हैं परंतु मुनियों को तो पचपन प्रकृतियों का बंध ही नहीं होता । उनके इतनी सारी प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति हुयी है । मिथ्यादृष्टि तप करेगा तो भी कुछ काल के लिये पुण्यप्रकृति का बंध करेगा । कुछ काल के लिये क्यों कहा ? आप बताना शुभभाव करके कोई पहले स्वर्ग में गया, वहां तो कोई हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप तो नहीं कर रहा, तो वह जीव मरकर ऊपर कौनसे स्वर्ग तक जा सकता है ? क्यों, किस बात की चर्चा हो रही है ? अरे, स्वर्ग का कोई भी जीव मरकर स्वर्ग में उत्पन्न नहीं

होता, उसे तो नियम से नीचे मनुष्य या तिर्यंच में आना पड़ता है । शुभ करके स्वर्ग में गया है तो वहां शुभ के फल इच्छा से भोग रहा है । वहां की आयु तो पल्यों और सागरों की होती है इसलिए तो उनको अमर कहते हैं । कभी सुना है कि नहीं ? भक्तामर स्तोत्र में उन्हें भक्त अमर कहा है ।

उनकी आयु के छह महिने बाकी रहनेपर उनके गले की माला मुरझा जाती है तब पता चलता है अब यहां की आयु पूरी हुयी है । तब मिथ्यादृष्टि जीव इतना शोक-इतने संक्लेश परिणाम करते हैं कि कोई मरकर एकेन्द्रियों में-बादर पृथ्वीकायिक, बादर जलकायिक या प्रत्येक वनस्पतिकायिक में जाकर जन्म लेते हैं । स्वर्ग से कोई जीव सीधा निगोद में नहीं जाता ।

अज्ञानी जीव के ऐसे तप से क्या लाभ हुआ ?

यहां बात ग्रैवेयकों की चल रही थी । वहां भावलिंगी मुनी तो जाते ही है परंतु मिथ्यात्व के होते हुये भी द्रव्यलिंगी वहां तक जन्म ले सकते हैं उसकी बात हमने देखी । उसमें भी एक नियम यह है कि ग्रैवेयक में जानेवाले उन मनुष्यों के ऊपर के तीन उत्तम संहनन में से कोई एक संहनन होना आवश्यक है, जो इस पंचमकाल के मनुष्यों के नहीं पाया जाता । इस पंचमकाल के द्रव्यलिंगी हो या भावलिंगी हो, ग्रैवेयक में जा नहीं सकते ।

संहनन नाम सुना है ना ? मनुष्यों में और द्वीन्द्रियादि तिर्यंचों में संहनन नामकर्म के उदय में विशिष्ट संहनन अर्थात् शरीर एवं हड्डियों की मजबूति पायी जाती है, उसे संहनन कहते हैं । उसके छह भेद हैं – (१) वज्रवृषभनाराच संहनन, (२) वज्रनाराच संहनन, (३) नाराच संहनन, (४) अर्धनाराच संहनन, (५) कीलित संहनन और (६) असंप्राप्तासृपाटिका संहनन ।

इनमें से पहले तीन उत्तम संहनन हैं । भरतक्षेत्र में चौथे काल में छहों संहननवाले जीव होते हैं, परंतु पंचमकाल में नीचे के तीन संहननवाले ही होते हैं ।

वैसे तो मोक्ष जानेवाले जीव के उस अंतिम भव में वज्रवृषभनाराच संहनन ही होता है । कोई भी संहनन जीव को ना स्वर्ग में ले जाता है ना मोक्ष में । सातवें

नरक जानेवाले जीव के भी वज्रवृषभनाराच संहनन ही होना चाहिये । ये तो सहज निमित्त नैमित्तिक संबंध होते हैं । करणानुयोग में ऐसे निमित्तों के नियमों को देखकर वहां के कार्य का अंदाजा लगाया जा सकता है । जैसे कर्मभूमि के स्त्री को नीचे के तीन संहनन ही होते हैं, इसलिए स्त्री को मोक्ष नहीं होता – चौथे काल में भी स्त्री को मोक्ष नहीं होता । तिर्यंच या मनुष्यगति के स्त्रियों को अधिक से अधिक पांचवां गुणस्थान प्राप्त हो सकता है ।

फिर भी यदि किसी मत में कहते हो कि स्त्री को मुक्ति होती है तो हमें ख्याल में आता है कि यहां निमित्त का भी सच्चा ज्ञान नहीं है, अतः इनका कथन सर्वथा झूठ है – ऐसा सच्चा निर्णय हम कर सकते हैं ।

नौ ग्रैवेयकों के ऊपर एक सतह पर अनुदिश नाम के नौ विमान हैं – मध्य में एक, चार दिशाओं में एक-एक ऐसे चार और चार विदिशाओं में एक-एक ऐसे चार । इनकी चर्चा बाद में करेंगे ।

अनुदिशों के ऊपर पांच अनुत्तर विमान हैं । मध्य में एक है और चार दिशाओं में एक-एक ऐसे चार हैं । इसप्रकार हमने स्वर्गों के नाम देखे । इनमें कहां, कितने पटल होते हैं ? कितने विमान होते हैं ? आदि की चर्चा हम यथावसर करेंगे ।

बोलिये, विदेहक्षेत्र में विराजमान सातवें तीर्थंकर श्री वृषभानन भगवान की जय ।

८. ऊर्ध्वलोक-स्वर्गों के विमान

यहां त्रिलोकसार के आधार से हम तीन लोक की रचना और उसका स्वरूप देख रहे हैं । देखिये, यह सर्वज्ञ भगवान की वाणी है । भगवान के वचन के अनुसार इसका विवेचन हो रहा है । भगवान वीतरागी और सर्वज्ञ होते हैं । सर्वज्ञ भगवान ने अपने केवलज्ञान में प्रत्यक्ष-साक्षात् जानकर इसका कथन किया है । ये कोई मनगढंत बातें नहीं हैं ।

सर्वज्ञ की वाणी स्वयं प्रमाण है, उसे अन्य प्रमाणों के द्वारा प्रमाणित याने सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है । मुझे बताना, प्रात:काल में सूर्य ऊग गया यह आप कौनसे टॉर्च से देखकर कहते हो ? वह तो स्वयं प्रकाशित है और उसके निमित्त से अन्य चीज़ें भी प्रकाशित होती हैं । जो अपने अल्पज्ञान से सर्वज्ञ की वाणी को प्रमाणित करना चाहते हैं यह उनकी भूल है, मिथ्यामान्यता है, उन्हें सर्वज्ञ के स्वरूप का निर्णय नहीं है । सर्वज्ञ के वचन के अनुसार वस्तुस्वरूप और त्रिलोकरचना को जानकर अपनी मान्यता में कोई भूल हो तो सुधारना है, परंतु लोग उलटा करना चाहते हैं । वे अपनी मिथ्यामान्यता या झूठा या अल्पज्ञान है उसके आधार से सर्वज्ञ की वाणी सच्ची है या नहीं वह प्रमाणित करना चाहते हैं ।

यह चर्चा पहले ही व्याख्यान में हो चुकी है । 'विज्ञान के आधारपर, आजकल के भूगोल के आधारपर ये बातें समझाओ' – ऐसा कहनेवाले एक तो शुरु से शिबिर में आये नहीं है यह उनकी भूल है । यहां जो प्रमाण की बात हो रही है उसे जानो और अपने ज्ञान में जो कुछ त्रुटि है उसे दूर करो । आप अपने ज्ञान से ही सिद्ध करना चाहते हो तो अपनी ही मान्यता पर अड़े रहो, उसमें तो आपका ही नुकसान होनेवाला है ।

यहां कुछ प्रश्न आये हैं, उनका समाधान बताकर हम आगे बढ़ेंगे, क्योंकि उसके बिना विषय भी समझ में नहीं आता ।

प्रश्न – दो नंबर का चार्ट जो वातवलय संबंधी है उसमें यह ७, ५, ४ वगैरा-वगैरा क्या लिखा है ?

उत्तर – वातवलय के चार्ट नं. २ में लोकाकाश सामने से दिखाया है, जिसमें उसका पूर्व-पश्चिम विस्तार दिखायी देता है । लोकाकाश तो घनस्वरूप है वह हमने एक नंबर के चार्ट के आधार से बहुत बार देखा है । लोकाकाश का दक्षिणोत्तर विस्तार सात राजू प्रमाण चौड़ा सर्वत्र है जो यहां दिखाया नहीं है । केवल 'फ्रंट व्ह्यू' दिखाया है ।

लोकाकाश के तल में तथा प्रत्येक पृथ्वी के नीचे बीस हजार योजन मोटाईवाला घनोदधिवातवलय है । उसके नीचे जो यहां पीले रंग में बताया है वह घनवातवलय है वह भी बीस हजार योजन मोटाईवाला है । सबसे नीचे तनुवातवलय भी बीस हजार योजन मोटाईवाला है ।

लोकाकाश का तल सात राजू दक्षिणोत्तर और सात राजू पूर्व-पश्चिम है उसमें तीनों वातवलय २०-२०-२० हजार योजनवाले हैं । चारों ओर पार्श्वभागों में अर्थात् साईडस् में एक राजू ऊंचाई तक उनकी मोटाई उतनी ही अर्थात् २०-२०-२० हजार योजन रहती है । वहां घटकर साईड में क्रम से घनोदधिवातवलय ७ योजन, घनवातवलय ५ योजन और तनुवातवलय ४ योजन अर्थात् तीनों मिलकर सोलह योजन रह जाते हैं । साठ हजार योजन से घटकर सोलह योजन रह जाते हैं । उसके ऊपर थोड़ा-थोड़ा घटते हुये जहां मध्यलोक है वहां घनोदधिवातवलय ५ योजन, घनवातवलय ४ योजन और तनुवातवलय ३ योजन रह जाते हैं । ऊपर फिर बढ़ते हुये ब्रह्मस्वर्ग के निकट वे क्रम से ७ योजन, ५ योजन और ४ योजन हो जाते हैं । ऊपर फिर भी घटते हुये पार्श्वभागों में चारों ओर साईडस् में क्रमसे ५ योजन, ४ योजन और ३ योजन रह जाते हैं ।

लोकाकाश के अग्रभाग में यह आठवीं ईषत्प्राग्भार पृथ्वी है उसके नीचे तो २० हजार-२०हजार योजनों के तीन वातवलय हैं ही परंतु इस पृथ्वी के ऊपर भी उलटे क्रम से ये तीन वातवलय हैं । घनोदधिवातवलय दो कोस मोटा है जो पृथ्वी को लगता हुआ है, बीच में घनवातवलय एक कोस मोटा है तथा अंत में तनुवातवलय १५७५ धनुष मोटा है । इसकी चर्चा हुयी थी फिर भी समझ में नहीं आया इसलिए पुनः चर्चा की है ।

प्रश्न – अनुत्तर विमानों में जो मध्य का सर्वार्थसिद्धि विमान है वहां से सिद्धशिला

कितनी ऊपर है ?

उत्तर – बारह योजन ऊपर है । सिद्धशिला आठवीं ईषत्प्राग्भार पृथ्वी के बीचोंबीच है । इस पृथ्वी के नीचे तीन वातवलय हैं उनमें से घनोदधिवातवलय में अनुत्तर विमान हैं ।

प्रश्न – सर्वार्थसिद्धि के देव सिद्धशिला तक जा सकते हैं क्या ?

उत्तर – नहीं जा सकते ।

प्रश्न – वे नीचे कहां तक जा सकते हैं ?

उत्तर – उनके गमन करने की शक्ति इतनी है कि नीचे सातवीं पृथ्वी तक जा सकते हैं परंतु गमन करने के उनके भाव ही नहीं होते, वे कभी गमन करके नीचे नहीं जाते । पंचकल्याणकों में भी वे नहीं जाते । सौधर्म इन्द्र तो जन्मकल्याणक के समय आकर नृत्य करता है, सभी इन्द्र पांचों कल्याणकों में आकर पूजा करते हैं, समवशरण में भगवान की दिव्यध्वनि सुनते हैं, तो उनमें से कौन अच्छा ? वहां अच्छा या बुरा कुछ नहीं हैं । दोनों ही चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव हैं । यहां पर भी कोई जोर शोर से नाच गाकर पूजा करता है तो कोई शांत भाव से नमस्कारादि करता है, स्वाध्याय करता है । बाह्य क्रिया से अच्छा बुरा नहीं होता, फल तो परिणामों से, अभिप्राय से लगता है ।

पूजा, भक्ति आदि क्रियायें दिखायी देती हैं । हम या तो किसीको दिखाने के लिये ये क्रियायें करते हैं या किसी अन्य की क्रियायें देख-देखकर उनमें दोष ढूंढ़ते हैं जो बिल्कुल गलत बात है । हमें तो अपनी बात-अपने परिणाम देखना है, अपना कल्याण करना है ।

प्रश्न – चित्रा पृथ्वी कहां है ?

उत्तर – रत्नप्रभा नामक पहले पृथ्वी का खरभाग सोलह हजार योजन मोटाईवाला है । उसमें हजार-हजार योजन मोटाईवाली सोलह पृथ्वियां हैं । उनमें से सबसे ऊपर की पहली पृथ्वी का नाम चित्रा है, दूसरी वज्रा है जिनके नाम हमने पहले देखे हैं । हम आप सब इस चित्रा पृथ्वी के ऊपर रहते हैं ।

प्रश्न – खरभाग, पंकभाग और अब्बहुलभाग केवल पहली पृथ्वी में ही हैं या सभी सातों पृथ्वियों में पाये जाते हैं ?

उत्तर – ये तीन भाग मात्र पहली रत्नप्रभा पृथ्वी में ही होते हैं, अन्य द्वितीयादि पृथ्वियों में नहीं होते । वहां केवल नरकबिल ही होते हैं ।

एक प्रश्न बहुत मार्मिक है । बात यह है कि देवों की जितने सागर वर्षों की आयु होती है, उतने हजार वर्ष बीतनेपर उनके आहार की इच्छा होती है और वे आहार लेते हैं अर्थात् उनके कण्ठ से अमृत झरता है और उनकी तृप्ती हो जाती है । उनका आहार हमारे जैसा नहीं होता, ना वे कुछ बनाते हैं और ना ही खाते हैं अर्थात् उनके कवलाहार नहीं होता । इस हिसाब से सर्वार्थसिद्धि के देवों की आयु तैंतीस सागर की होती है तो उनके तैंतीस हजार वर्ष बाद आहार की इच्छा होती है । इसपर एक माताजी का प्रश्न है कि देव इतने वर्षों तक आहार नहीं लेते तो उसको तप कहेंगे या नहीं ?

उत्तर – देव हजारों वर्षों तक आहार नहीं लेते, इतना ही नहीं उन्हें तो इतने वर्षों तक आहार की इच्छा भी नहीं होती फिर भी उनके तप नहीं होता, उसे तप नहीं कहते और हमें तो इच्छा बहुत होती है, बहुत भूख लगती है फिर भी हम इच्छाओं को दबा-दबाकर चौबीस घण्टे उपवास करते हैं-खाना नहीं खाते तो हमें लगता है कि हमने तप किया । दशलक्षण पर्व में-पर्युषण पर्व में एक, पांच, दस दिन के उपवास करके मानते हैं हमने बड़ा तप किया । हम भोजन नहीं करने का नाम तप है ऐसा समझते हैं, इसलिये प्रश्न उठ रहा है कि देवों ने हजारों वर्षों तक भोजन नहीं किया तो उनके तप क्यों नहीं होता ?

देखिये, तप कहो या संयम कहो वह तो अंतरंग में जो मुनियोग्य स्थिरता होती है उसे कहते हैं । उपवास किसे कहना ? उप अर्थात् नजदीक-पास और वास अर्थात् रहना । अपनी आत्मा के पास रहना अर्थात् आत्मा में लीन होना । ऐसी अवस्था में बाह्य में आहारादि के विकल्प नहीं आते, इच्छा ही उत्पन्न नहीं होती । इच्छा के उत्पन्न नहीं होने का नाम 'इच्छानिरोधस्तपः' है, इच्छा को दबाने का नहीं । उपवास में तो कषाय एवं आहार को कम किया जाता है । हम उपवास के नामपर भोजन को तो छोड़ देते हैं परंतु कषायों की वृद्धि होती रहती है । लोग सोचते हैं कि चलो दुकान

चलेंगे या ताश आदि खेलकर टाइमपास करेंगे । आज कल तो टी.व्ही. है उसके सामने बैठकर लोग समय बरबाद करते हैं ।

कोई स्वाध्याय करते हैं परंतु वह मुनियोग्य तप नहीं है, क्योंकि तप का फल निर्जरा है । तत्त्वार्थसूत्र में सूत्र आया है 'तपसा निर्जरा च' । तो जिस अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि ने भोजन का त्याग किया तो उसके कितनी निर्जरा होगी ? उपवास करके जो ज्यादा कृश हो जावे क्या उसकी ज्यादा निर्जरा होती होगी ? ऐसा है नहीं । मिथ्यात्व अवस्था में कुछ भी क्रिया करें उससे उसकी निर्जरा होती ही नहीं । निर्जरा तो चौथे गुणस्थान से प्रारंभ होती है और जिसे तप और संयम कहते हैं वह तो छठवें गुणस्थान से लेकर ऊपर के गुणस्थानों में होता है ।

देवों के सम्यक्त्व तो हो सकता है परंतु उनका गुणस्थान चौथा ही रहेगा, ऊपर का नहीं । इसलिए उनके तप होता ही नहीं । चौथे गुणस्थान तक तो असंयम है । न खाने को संयम या तप नहीं कहते, वस्त्र नहीं पहनने को संयम नहीं कहते । सं + यम अर्थात् सम्यक्रूप से जो अपनी आत्मा में स्थित हैं उन मुनिराजों के संयम होता है । अपने आत्मस्वरूप में स्थिरता होना ही सच्ची आराधना है, वही सामायिक है, वही आलोचना है, वही प्रतिक्रमण है, वही प्रत्याख्यान है, वही समाधि आदि है ।

प्रश्न – आप कहते हो कि आत्मा की दृष्टि करनी है और ये सारी तो बाहर की बातें हैं; फिर हम आत्मा में जायें या बाहर जायें ?

उत्तर – आप आत्मा में जाना चाहते हैं तो अभी आप कौन हो ? कहां हो ? हमें कहीं अंदर-बाहर जाना नहीं है । अरे ! हम स्वयं आत्मा ही तो हैं ।

प्रश्न – तो लोकाकाश का स्वरूप समझने में हमें बाहर दृष्टि करनी है या अंदर की ओर करनी है ?

उत्तर – वास्तव में ये प्रश्न ही इसलिए उठ रहे हैं कि जीवों को यह पता ही नहीं है कि ज्ञान क्या है और दृष्टि क्या है ? इस त्रिलोकसार की तथा अन्य आगम ग्रंथों की रचना मुनिराजों ने की है, तो उनकी अंदर की दृष्टि थी या बाहर की दृष्टि थी ? बाह्य चीजों के ज्ञान को बाह्य दृष्टि नहीं कहते । दृष्टि तो प्रतीति को-श्रद्धा को कहते हैं । दृष्टि अर्थात् जिसमें हम 'मैं' पना स्थापित करते हैं । अपने

शुद्धात्मस्वरूप में-त्रिकाली स्वभाव में 'मैं' पना स्थापित होने को सम्यक् दृष्टि अर्थात् यथार्थ दृष्टि कहते हैं तथा बाह्य वस्तुओं में-रागादि भावों में 'मैं' पना स्थापित करने को बहिर्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि कहते हैं ।

समयसार ग्रंथ में दृष्टिप्रधान कथन है, दृष्टि का विषय जो अपना शुद्धात्मा उसकी चर्चा है । प्रवचनसार में ज्ञानप्रधान कथन है । उसमें छह द्रव्य, उनका स्वरूप, उत्पादव्यय ध्रुवता इसप्रकार सभी ज्ञेयों का तथा ज्ञान का वर्णन है । यह लोकालोक हमारे ज्ञान का ज्ञेय है और ज्ञेय को जाननेवाला आत्मा है, मैं आत्मा हूँ ये सारे पदार्थ मेरे ज्ञेय हैं । ये मेरे भोग्य या उपभोग्य नहीं हैं, मैं इनका कर्ता या भोक्ता नहीं हूँ । मैं ज्ञान हूँ, ये ज्ञेय हैं । ये मेरे से भिन्न हैं । मंगलाचरण में हम रोज गा रहे हैं कि 'तीन भुवन थिति जानी कैं ...' जानकर कहा है, यहां ज्ञान का निषेध नहीं है । 'आप आपमय होय' मैं तो अपने स्वस्वरूप हूँ । ये सारी वस्तुयें भिन्न हैं । भिन्न वस्तुओं को जाननेवाला मैं हूँ । ये वस्तुयें ज्ञान में आती हैं, इनसे तो ज्ञान की सिद्धि होती है ।

अत: अपने को आपरूप और परवस्तुओं को पररूप समझना यह स्व-पर भेदविज्ञान है । स्व तथा पर को जानना यह तो ज्ञान का कार्य है तथा मैं 'मैं' स्वरूप हूँ ऐसा स्वीकार-ऐसी प्रतीति होना यह दृष्टि का कार्य है । ऐसी जब दृष्टि हो जाती है तब ज्ञान क्या आराम करता होगा ? अभी दृष्टि का काम चल रहा है तो ज्ञान को थोड़ा आराम करना है ना? अरे, ज्ञान तो जानने का कार्य करता ही रहेगा । प्रत्येक गुण में निरंतर परिणमन होता है । मैं स्वस्वरूप हूँ ऐसी जब दृष्टि है तब ज्ञान स्व को भी जानता है और पर को भी जानता है-स्व को स्वरूप से जानता है और पर को पररूप से जानता है । दृष्टि दृष्टि का कार्य करती है और ज्ञान ज्ञान का कार्य करता है ।

स्कूल में हम अपने बच्चे को लेने जाते हैं वहां सेंकडों बच्चे ज्ञान में आते हैं, उनमें अपना बच्चा भी है उसको भी जानते हैं, परंतु उसको वह 'अपना है' ऐसा जानते-मानते हैं ।

यह देखिये, मेरे हाथ में यह पेन है । बोलो बहन, आपको क्या दिख रहा है ?-'मुझे पेन दिख रहा है' यह आप ही का जबाब है । आपने कहा 'मुझे' दिख रहा है इसका अर्थ आप अपने को जान रही हैं । आपके बाजूवाले को दिख रहा है

ऐसा तो आपने नहीं कहा । इतनी सारी बातें हमारे जानने में आती हैं वहां तो 'मेरे' ज्ञान में आती है इसप्रकार स्व का एहसास तो सभी प्राणिमात्र को होता है । यह ज्ञायक-जाननेवाला आत्मा आबालगोपाल सबके ज्ञान में आ रहा है परंतु यही मैं हूँ ऐसी प्रतीति नहीं हो रही । हम सबको जानने का निषेध करके अपने ज्ञानलक्षण को मिटाना चाहते हैं-वह मिटता नहीं परंतु अपने अभिप्राय में हम वैसा मान लेते हैं ।

हमें कहीं अंदर बाहर नहीं करना है । हम तो अंदर ही अंदर हैं कहीं बाहर गये ही नहीं हैं । मैं मुझस्वरूप हूँ, ज्ञानमात्र हूँ ऐसी दृष्टि-प्रतीति बनी रहेगी । पर को जानने से कोई नुकसान होनेवाला नहीं है । अज्ञानी मानता है कि इन सभी चीजों का ज्ञान बंद हो जायें तो हम आत्मा में चले जायेंगे । यह विपरीत मान्यता है । जो सब को जानता है वही तो मैं हूँ उस 'मैं' की दृष्टि करनी है । दृष्टि और ज्ञान का भेद नहीं जानने से यह सवाल उठा है ।

यह और एक प्रश्न है जिसमें प्रश्नकार की और भी अधिक उलझन-कन्फ्यूजन है ।

प्रश्न – यह जो त्रसनाली है वह बाहर की रचना है, वैसे अपने अंदर भी रचना है ऐसा कहना था ? जैसे बाहर यह त्रसनाली है वैसे हमारे में यह करोड रज्जू है-स्पायनल कॉर्ड है ?

यह स्पायनल कॉर्ड अर्थात् मज्जारज्जू शरीर का अंग है या आपका ? शरीर मैं हूँ मानकर यह सब भ्रांति चल रही है । कोई नाडी या कुंडलिनी जागृत होती है ऐसी सब झंझट छोड़ दीजिये । हम अपने स्वरूप के प्रति जागृत हो जायेंगे तो जिसे जागृत होना है वह हो जायेगा । शरीर की रचना से हमें कोई लेना-देना नहीं है । शरीर तो बिल्कुल भिन्न परपदार्थ है हम तो केवल अभी उसके द्वारा पहचाने जा रहे हैं-अन्य लोग इस शरीर के द्वारा हमें पहचान रहे हैं, परंतु यह हमारी असली पहचान नहीं है ।

हमारे जहां आत्मप्रदेश हैं वहींपर शरीर के परमाणु हैं और उनमें भी अनंत परमाणुओं का आना जाना चल रहा है । जैसे हमने कर्मों के बारे में सीखा था कि अनंत कर्म परमाणु प्रतिसमय बंधते हैं और खिरते हैं, वैसे ही शरीर के भी अनंत

परमाणु हर समय आते हैं और जो हैं उनमें से अनंत परमाणु प्रतिसमय चले जाते हैं । हम तो दर्पण में शरीर को देखकर सब ठीकठाक है मैं वैसा ही हूँ मान लेते हैं ।

जैसे हम अपने गांव की नदी पच्चीस साल से देखते आये हैं । वह बिल्कुल वैसी की वैसी दिखती है । परंतु आप मुझे बताओ कि आधे घण्टे से आप किसी नदी के किनारे खड़े हो तो वही का वही पानी है या नहीं ? ना, वैसा का वैसा दिखायी देनेपर भी पहलेवाला पानी मीलों दूर बहकर दूर चला गया है और ऊपर से प्रवाहरूप से नया पानी आया है । शरीर में भी नये-नये अनंत परमाणु आते हैं, पुराने परमाणुओं में से अनंत चले जाते हैं तो किसका बर्थ डे मनाते हो ? वह भी सादा नहीं 'हॅप्पी' बर्थ डे ! यहां तो कायम वही का वही रहनेवाला तो मैं स्वयं आत्मा शाश्वत हूँ, परंतु शरीर को स्व मानकर उसकी गुलामी में खुशी माननेवाले को इतना विचार भी कहां आता है ?

प्रश्न – यह अनुप्रेक्षा क्या होती है ? आत्मचिंतन करना अर्थात् कौनसी अनुप्रेक्षा ज्यादा करना ? आत्मचिंतन में और अनुप्रेक्षा के चिंतन में किसमें कितना समय देना ?

उत्तर – देखो ! जब शास्त्र का स्वाध्याय होता है तो ऐसे प्रश्न नहीं उठते, परंतु प्रश्न उठते हैं तो हमें सही स्वाध्याय करने से सभी प्रश्नों का उत्तर ख्याल में आता है । प्रथम में प्रथम आत्मा का स्वरूप कैसा है इस बात का हमें समयसारादि शास्त्रों से निर्णय करना है । करणानुयोग के शास्त्रों से भी यही निर्णय करना है कि आत्मा क्या है ? कर्म क्या है ?

यहां तो हम क्षेत्र की चर्चा कर रहे हैं, त्रिलोक की चर्चा कर रहे हैं । उसमें कौनसे द्रव्य कहां स्थित हैं यह जान रहे हैं । इसमें आत्मा का स्वरूप कैसा है, वह कौनसी पर्यायों में कहां स्थित है, कहां-कहां कौन-कौनसे शरीर धारण करके अनादि से घूम रहा है इस बात का पता चलता है । आत्मा क्या कर सकता है और क्या नहीं कर सकता – इसका ज्ञान हमें स्वाध्याय से होता है । स्वाध्याय से हमारी भ्रांतियां दूर होती है, हमारे प्रश्नों के जबाब तो मिलते ही है, तत्त्वों का सम्यक् निर्णय होकर हमें आत्मदर्शन अर्थात् सम्यक्त्व होता है ।

किसी विवक्षित चिंतन से सम्यग्दर्शन होने की बात नहीं है । आत्मा का निर्णय

नहीं होता-तत्त्वों का निर्णय नहीं होता तब तक तत्त्वचिंतन-विकल्प कार्यकारी है । विकल्प करने से सम्यग्दर्शन नहीं होता, तत्त्वनिर्णय होनेपर, विकल्पातीत होनेपर सम्यक्त्व होता है । जीव विकल्परहित भी सहज होता है । लोगों का यह प्रश्न होता है कि कौनसे विकल्प करें ? या इन विकल्पों को कैसे छोड़े ? विकल्प होते भी हैं अपने आप और छूटते भी हैं अपने आप ही ।

ज्ञानी के भी जब आत्मस्थिरता नहीं है तब विकल्प होंगे । द्रव्यानुयोग के छह द्रव्य, सात तत्त्व, निमित्त नैमित्तिक संबंध, उत्पादव्ययध्रुवता, पांच समवाय, क्रमबद्धपर्याय आदि अनेक सिद्धांतों का सही निर्णय होना अत्यंत आवश्यक है ।

प्रश्न – तो फिर यह झमेला क्यों ? ये भूगोल की बातें हमें क्यों समझा रही हो ? इन बातों से क्या लेना-देना ? अपनी ही दृष्टि करना है तो इन बातों से क्या प्रयोजन ?

उत्तर – जानना आत्मा का स्वभाव है, तो सही जानना उसका स्वभाव है या नहीं जानना उसका स्वभाव है ? मुनिराज आत्मज्ञानी होते हैं उनके आत्मस्थिरता बहुत है, प्रचुर अतींद्रिय आनंद का वेदन उन्हें होता है । शुद्धोपयोग को मुनि का लक्षण कहा है । फिर भी जब उनके आत्मस्थिरता नहीं होती तब शुभोपयोग के काल में उनके तत्त्वों का स्वरूप, कर्मों की अवस्थायें, त्रिलोक की रचना आदि संबंधी चिंतन होता रहता है । अरहंतादि प्रति उनके भक्ति होती है, उनके प्रवचनवत्सलता होती है । यहां आचार्य, उपाध्याय, साधु को प्रवचन कहा है और उनके प्रति जो वात्सल्यभाव है उसे प्रवचनवात्सल्य कहा है । 'धवला' में तो पंचम गुणस्थानवर्ती और चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को भी प्रवचन कहा है । उनके प्रति जो गुणानुराग होता है वह प्रवचनभक्ति या प्रवचनवात्सल्य है । ज्ञानी जीव जब शुद्धोपयोग में टिक नहीं पाते, शुभोपयोग में आते हैं तब उनके अलग-अलग प्रकार के शुभभाव सहज आते हैं । कौनसा चिंतन करना यह प्रश्न निरर्थक है । ये भाव-ये विकल्प इच्छा से नहीं होते । आपका प्रश्न है कि सोच समझकर कौनसा भाव करे ? कौनसे भाव करें और कौनसे नहीं करें ?

जो आनेयोग्य भाव हैं वे ही होते हैं तथा आनेयोग्य भाव होते ही हैं । हमें तो यह निर्णय करना है कि रागभाव से मैं भिन्न हूँ, राग भी मेरा ज्ञेय है, मैं तो मात्र

उसको जाननेवाला हूँ, मैं उसको करनेवाला-उसका स्वामी नहीं हूँ । इन प्रश्नों में हम बहुत उलझ गये फिर भी मुझे लगता है कि जब तक सही तत्त्वनिर्णय नहीं होता तब तक शिबिरों के माध्यम से इन प्रश्नों का समाधान एवं भ्रांतियों का निराकरण करना योग्य है । यहां सामूहिकरूप से ही प्रश्नोंसंबंधी चर्चा करूंगी क्योंकि रोज छह घण्टे बोलना है इसलिए व्यक्तिगतरूप से अधिक चर्चा करने के लिये मैं असमर्थ हूँ ।

अकृत्रिम चैत्यालयों संबंधी दुबारा प्रश्न आया है कि वहां जो जिनप्रतिमायें हैं वे रत्नजड़ित हैं क्या ?

वे रत्नों से बनी हुयी हैं-रत्नमयी हैं, किसीने बनायी नहीं हैं, वे रत्नजड़ित नहीं हैं । जड़ित समझते हो ? जैसे अंगूठी में हीरा जड़ा हो तो उसे हीरे से जड़ित कहेंगे । इसकी विस्तार से चर्चा तो हो गयी है ।

कोई पूछता है कि हम भगवान की मूर्तियों को अलंकारादि पहनाते हैं, मूर्तियों को फूल, रत्न, वस्त्रादि से शोभायमान करते हैं, हमारे समाधान के लिये उनके पैरोंपर चंदनादि के टीके लगाते हैं तो आप उसका निषेध क्यों करते हो ?

निषेध किसी व्यक्ति का नहीं होता-विपरीत मान्यता का निषेध किया जाता है । हम वीतरागी भगवान को अपनी मान्यता में सरागी मान लेते हैं । हम स्वयं रागी हैं इसलिए हमारी मान्यता में हम वीतरागी भगवान का स्वरूप बिग़ाड देते हैं अर्थात् भगवान संबंधी हमारी मान्यता गलत होती है । सच्चे देव, गुरु, धर्म के स्वरूप का निर्णय हमें करना है, उनसंबंधी हमारी मान्यता हमें सही है या नहीं यह देखना है, इस थर्मामीटर से पूरी दुनिया को जांचने नहीं जाना है । यह मुनि सच्चा है या नहीं इसकी चर्चा छोड़कर सच्चे मुनि के स्वरूप का, सच्चे देव (भगवान) के स्वरूप का निर्णय करना है ।

कुछ लोग कहते हैं कि जब हम मुनि बनेंगे तब इसका निर्णय करेंगे, अभी क्या करना है ? अभी तो हमें श्रावक ही रहने दो । ऐसा नहीं चलेगा । हमें यदि मोक्षमार्ग प्रकट करना है तो मोक्षमार्ग चतुर्थ गुणस्थान से शुरु होता है वहां से लेकर पूरे मोक्षमार्ग एवं मोक्ष के स्वरूप को जानना जरूरी है, उन जीवों के अंतरंग-बहिरंग स्वरूप कैसा होता है इस संबंध में ज्ञान एवं निर्णय होगा तो ही मोक्षमार्ग प्रकट होगा ।

यदि सच्चे देवादि का निर्णय न हो और कुलाचार से कोई मात्र सच्चे देवों की ही पूजन, भक्ति, वंदना करते हैं तो भी शास्त्र में इसे गृहित मिथ्यात्व कहा है । बहुत कडक बात है । जब तक जीव वीतरागता एवं सर्वज्ञता का स्वरूप जानकर उसका निर्णय नहीं करता तब तक उसकी मान्यता ही कुदेव है, कुगुरु है, कुधर्म है ।

एक प्रश्न और है कि देवगति के देव भगवान की पूजा किसप्रकार करते हैं ? इसका समाधान-इसका वर्णन अकृत्रिम चैत्यालयों के प्रकरण में आगे आयेगा । अभी अपना विषय आगे बढ़ेगा ।

विमानवासी देवों की चर्चा में हमने विमानों के नाम देखे थे । जैसे नरकों में पटल होते हैं वैसे स्वर्गों में भी पटल होते हैं । अलग-अलग सतह पर-मंजिलों जैसे अलग-अलग लेयर्स पर विमान होते हैं । सौधर्म-ईशान युगल में सौधर्म में ३२ लाख और ईशान में २८ लाख विमान हैं परंतु ये सब इकतीस पटलों में विभाजित हैं । आप यहां चार्ट नं. १४ में देखना । इसमें स्वर्गों के नाम, उनके पटलों की एवं विमानों की संख्या लिखी है । इनके नाम नीचे से ऊपर पढ़ना । पहला-दूसरा स्वर्ग नीचे है, शेष स्वर्ग क्रम से ऊपर-ऊपर हैं ।

जिसतरह नरकों में प्रत्येक पटल के बीचवाला इन्द्रक बिल कहा था उसतरह स्वर्गों के विमानों में प्रत्येक पटल में मध्य में इन्द्रक विमान होता है । चारों दिशाओं में पंक्तिबद्ध रचना होती है, उन्हें श्रेणीबद्ध विमान कहते हैं तथा उनके बीच में बिखरे हुये फूलों के समान कहीं पर भी पाये जाते हैं उन्हें प्रकीर्णक विमान कहते हैं । प्रत्येक पटल का इन्द्रक विमान, पूर्व-दक्षिण-पश्चिम इन तीन दिशाओं के श्रेणीबद्ध विमान तथा उनके बीचवाले प्रकीर्णक विमान ये सारे दक्षिणेन्द्र की आज्ञा में होते हैं-उसके आधिपत्य में हैं । पहले स्वर्ग का पहला पटल सबसे नीचे हैं, वहां से ऊपर की ओर गिनेंगे ।

इस पहले पटल के इन्द्रक विमान का नाम है ऋतुइन्द्रक । यह ४५ लाख योजन व्यासवाला है । ऐसे ही ४५ लाख योजन विस्तारवाले और क्या-क्या है ? पहले नरक के पहले पटल का सीमन्तक नामक इन्द्रक बिल, ढाई द्वीप अर्थात् मनुष्यलोक और सिद्धशिला भी ४५ लाख योजन विस्तारवाले हैं ।

स्वर्गों के पटलों में मात्र दिशाओं में ही श्रेणीबद्ध विमान होते हैं, विदिशाओं

में नहीं होते । नरकों के पटलों में तो हमने दिशाओं में और विदिशाओं में भी श्रेणीबद्ध बिल देखे थे । नरकों में पहले पटल में चारों दिशाओं में प्रत्येक में ४९-४९ और चारों विदिशाओं में प्रत्येक में ४८-४८ श्रेणीबद्ध बिल होते हैं । स्वर्गों के पहले पटल में चारों दिशाओं में प्रत्येक में ६२-६२ श्रेणीबद्ध विमान हैं जो प्रतिपटल १-१ से कम होते जाते हैं ।

प्रत्येक पटल में दक्षिणेन्द्र के पास विमानों की संख्या अधिक है क्योंकि पूर्व और पश्चिम के श्रेणीबद्ध उसके आधिपत्य में होते हैं । चार्ट नं. १४ में सौधर्म के विमान लाल रंग में और ईशान के विमान नीले रंग में दिखाये हैं । उससे यह बात ठीक से समझ में आयेगी । इसी चार्ट के आधार से हम प्रत्येक स्वर्ग के पटलों की संख्या देखेंगे ।

सौधर्म-ईशान स्वर्ग में ३१ पटल, सनत्कुमार-माहेन्द्र में ७ पटल, ब्रह्मयुगल में ४ पटल, लान्तवयुगल में २ पटल, शुक्रयुगल में १ पटल, शतारयुगल में १ पटल हैं । आनत-प्राणत के ३ पटल तथा आरण-अच्युत के ३ पटल इसप्रकार आनतादि चार स्वर्गों के कुल ६ पटल हैं । नौ ग्रैवेयकों के प्रत्येक ग्रैवेयक का १-१ पटल ऐसे सबके मिलकर कुल ९ पटल हैं । अनुदिश का १ पटल तथा अनुत्तर का भी १ पटल है । इसप्रकार कुल पटलों की संख्या ६३ है ।

अब इन स्वर्गों के विमानों की संख्या देखते हैं ।

सौधर्म में ३२ लाख और ईशान में २८ लाख इसतरह सौधर्मयुगल में ६० लाख विमान हैं । सनत्कुमार में १२ लाख और माहेन्द्र में ८ लाख इसतरह सनत्कुमार युगल में २० लाख विमान हैं । ब्रह्मयुगल में कुल ४ लाख, लान्तवयुगल में ५० हजार, शुक्रयुगल में ४० हजार, शतारयुगल में ६ हजार विमान हैं । यह विमानों की संख्या है, प्रत्येक विमान में असंख्यात-असंख्यात देव होते हैं, केवल सर्वार्थसिद्धि नामक अनुत्तर विमान में ही संख्यात देव होते हैं ।

आनतादि चार स्वर्गों में ७०० विमान हैं । ग्रैवेयकों के तीन-तीन के ग्रुप्स हमने देखे थे । उनमें से अधस्तन तीन ग्रैवेयकों में कुल १११ विमान हैं, मध्य तीन ग्रैवेयकों में से कुल १०७ विमान हैं तथा ऊर्ध्व तीन ग्रैवेयकों में कुल ९१ विमान हैं । अनुदिश

में ९ विमान हैं । वहां मध्य में एक इन्द्रक, चार दिशाओं में १-१ श्रेणीबद्ध तथा चार विदिशाओं में १-१ प्रकीर्णक ऐसे नौ विमान हैं । अनुत्तर में ५ विमान हैं । वहां एक इन्द्रक विमान जिसका नाम सर्वार्थसिद्धि है, पूर्व दिशा में विजय, दक्षिण में वैजयंत, पश्चिम में जयंत और उत्तर में अपराजित विमान हैं ।

इन सब विमानों की कुल संख्या चौरासी लाख सत्तानबे हजार तेइस है । जब हम ऊर्ध्वलोक के अकृत्रिम जिन चैत्यालयों को अर्घ्य देते हैं तब यह संख्या वहां गा-गाकर कहते हैं । वहां के प्रत्येक विमान में एक-एक अकृत्रिम जिनचैत्यालय है, उन एक-एक में १०८-१०८ अकृत्रिम जिनबिम्ब हैं उन्हें हम यहां से परोक्ष नमस्कार करते हैं । वहां तो सर्वत्र जिनधर्म ही चलता है । वहां जन्म होते ही अन्य देव उनका स्वागत करते हैं, वाद्य बजाते हैं, स्नान करा कर अलंकारादि धारण करा कर उनके साथ जिनदेव का पूजन अभिषेक करते हैं । सम्यग्दृष्टि स्वयमेव करते हैं, मिथ्यादृष्टि देव अन्य देवों द्वारा संबोधन करनेपर करते हैं । जैसे हमारे यहां जैन कुल में जन्मे हुये बालक को सव्वा महिना याने चालीस दिन होनेपर माँ के साथ मंदिर में ले जाते हैं, उसके कान में णमोकार मंत्र बोलते हैं तथा बच्चा आठ वर्ष का होने तक माँ की जिम्मेदारी होती है कि वह अष्ट मूलगुण पाले अर्थात् मद्य, मांस, मधु का तथा पांच उदुम्बर फलों का सेवन न करे । बालक रोज जिनमंदिर जायें, णमोकार मंत्र आदि पाठ बोले-सीखे, अभक्ष्यभक्षण न करे, छह द्रव्य-सात तत्त्वादि की बातें सीखे, सदाचार युक्त नैतिक जीवन अंगीकार करे यह सब माँ की जिम्मेदारी है, घर के अन्य सदस्यों की भी जिम्मेदारी है । आठ साल पूर्ण होनेपर मनुष्यपर्याय के जीव को इतनी सामर्थ्य होती है कि वह सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है । इतना ही नहीं पुरुष हो तो मुनिदशा धारण कर सकता है और केवलज्ञान भी प्राप्त कर सकता है ।

बोलिये, विदेहक्षेत्र में विराजमान आठवें तीर्थंकर श्री अनंतवीर्य भगवान की जय ।

९. वैमानिक इन्द्र

सर्वज्ञ भगवान की वाणी के अनुसार लिखे हुये त्रिलोकसार ग्रंथ के आधार से हम लोक का अर्थात् तीन भुवन का स्वरूप देख रहे हैं । अधोलोक का सविस्तार वर्णन देखने के बाद अब हम ऊर्ध्वलोक की चर्चा कर रहे हैं । लोकाकाश के मध्य से ७ राजू ऊपर तक ऊर्ध्वलोक है जिसमें एक लाख योजन ऊंचाईवाला मध्यलोक शामिल है । अधोलोक में तो पृथ्वियां हैं जो लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक फैली हुयी हैं परंतु स्वर्गों में पृथ्वी के खंड फैले हुये हैं जिन्हें विमान कहते हैं और वहां रहनेवाले देवों को वैमानिक कहते हैं ।

चौदह नंबर के चार्ट के आधार से हमने इन स्वर्गों के पटलों की एवं विमानों की संख्या देखी । प्रत्येक पटल प्रति विमानों की संख्या ऊपर-ऊपर कम होती जाती है, उसीप्रकार इन्द्रक विमान का विस्तार भी घटते जाता है । पहले पटल के ४५ लाख योजन विस्तारवाले इन्द्रक से घटते-घटते अंतिम अनुत्तर विमान के सर्वार्थसिद्धि नामक इन्द्रक का विस्तार १ लाख योजन रह जाता है । हमने कहां कितने विमान होते हैं इसकी चर्चा गत व्याख्यान में की थी परंतु कहां कितने इन्द्र होते हैं यह देखना बाकी है ।

पहले युगल में दक्षिण का सौधर्म इन्द्र है और उत्तर का ईशान इन्द्र है ऐसे दो इन्द्र हैं । उन्हीं के नाम से स्वर्ग का नाम है । दूसरे युगल में भी सनत्कुमार और माहेन्द्र नाम के दो इन्द्र हैं ।

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर नामक तीसरे युगल में एक ही इन्द्र है जिसका नाम ब्रह्म इन्द्र है । ब्रह्म दक्षिण के विमान हैं, ब्रह्मोत्तर उत्तर के विमान हैं परंतु सभी विमान एक ही इन्द्र की आज्ञा में हैं, यहां दो अलग-अलग इन्द्र नहीं हैं ।

आगे लान्तव-कापिष्ठ में भी एक ही लान्तव इन्द्र है । शुक्र-महाशुक्र में भी एक ही इन्द्र है जिसका नाम महाशुक्र इन्द्र है तथा शतार-सहस्रार में एक सहस्रार इन्द्र है । सातवां युगल आनत-प्राणत में दो इन्द्र हैं – एक आनत इन्द्र और एक प्राणत इन्द्र । आठवें युगल आरण-अच्युत में भी दो इन्द्र हैं – एक आरण इन्द्र

और एक अच्युत इन्द्र ।

इसतरह पहले दो युगलों में दो-दो ऐसे चार इन्द्र, उसके पश्चात् चार युगलों में प्रत्येक में एक-एक ऐसे चार इन्द्र और ऊपर के सातवें-आठवें युगलों में प्रत्येक में दो-दो ऐसे चार इन्द्र हैं । इसप्रकार सोलह स्वर्गों में बारह इन्द्र पाये जाते हैं । यहां भी जितने इन्द्र हैं उतने ही प्रतीन्द्र होते हैं अर्थात् बारह इन्द्र और बारह प्रतीन्द्र होते हैं ।

प्रश्न – इन्द्रक विमान मध्य में है तो फिर वह दक्षिणेन्द्र का है या उत्तरेन्द्र का ?

उत्तर – वहां दक्षिणेन्द्र का ही आधिपत्य चलता है, उत्तरेन्द्र का नहीं । ऐसी ही सहज व्यवस्था है । वहां कोई पार्शालिटी नहीं है ।

प्रश्न – प्रत्येक विमान में अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं तो इन मूर्तियों की प्रतिष्ठा किसने की ? हम कहते हैं ना कि अप्रतिष्ठित प्रतिमा पूज्य नहीं है ?

उत्तर – ये प्रतिमायें अनादि से ही हैं, अनादि से ही इन्द्रादिक सभी देव इनकी पूजा करते आये हैं । ये अकृत्रिम जिनबिम्ब बिल्कुल पूर्णत: वंदनीय, पूजनीय ही हैं ।

अब हम देखेंगे कि ये इन्द्र रहते कहां हैं ? क्योंकि जैसे सौधर्म इन्द्र के ३२ लाख विमान हैं तो उनमें से कौनसे स्थान में किस विमान में सौधर्म इन्द्र रहता है ?

सौधर्म इन्द्र इकतीसवें पटल में रहता है । इकतीसवें पटल का प्रभ नामक इन्द्रक विमान है, उसके दक्षिण दिशा के अठारहवें श्रेणीबद्ध विमान में सौधर्म इन्द्र रहता है । ईशान इन्द्र उसी इकतीसवें पटल में उत्तर दिशा के अठारहवें श्रेणीबद्ध विमान में रहता है ।

सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के कुल सात पटल हैं, सातवें पटल के मध्य में चक्रइन्द्रक विमान है । उसके दक्षिण में सोलहवें श्रेणीबद्ध विमान में सनत्कुमार इन्द्र और उत्तर में सोलहवें श्रेणीबद्ध में माहेन्द्र इन्द्र रहता है ।

ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर स्वर्गों में एक ही इन्द्र है । इस तीसरे युगल में चार पटल हैं । चौथे पटल में ब्रह्मोत्तर इन्द्रक है । उसके दक्षिण में चौदहवें विमान में ब्रह्म इन्द्र रहता है ।

लान्तव युगल में दो पटल हैं, वहां भी एक ही इन्द्र है । दूसरे पटल में लान्तव इन्द्रक है । उसके दक्षिण में बारहवें श्रेणीबद्ध विमान में लान्तव इन्द्र रहता है ।

उसके आगे शुक्र युगल में एक ही पटल है, यहां के इन्द्रक विमान का नाम महाशुक्र इन्द्रक है तथा इन्द्र का नाम भी महाशुक्र इन्द्र है । वह उत्तर दिशा में दसवें श्रेणीबद्ध विमान में रहता है ।

शतार-सहस्रार युगल में भी एक पटल है, वहां के इन्द्रक का नाम सहस्रार इन्द्रक है । उसके उत्तर दिशा में आठवें श्रेणीबद्ध विमान में सहस्रार इन्द्र रहता है ।

देखिये, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर के ब्रह्म इन्द्र और लान्तव-कापिष्ठ के लान्तव इन्द्र ये दोनों ही इन्द्र दक्षिण में रहते हैं परंतु उनका आधिपत्य दक्षिण-उत्तर सर्वत्र चलता है । शुक्र-महाशुक्र स्वर्गों के महाशुक्र इन्द्र तथा शतार-सहस्रार स्वर्गों के सहस्रार इन्द्र ये दोनों उत्तर के इन्द्र हैं और उत्तर में रहते हैं परंतु उनका आधिपत्य दक्षिण-उत्तर सर्वत्र है ।

किसी पुस्तक में शतार युगल में शतार इन्द्रक और शतार इन्द्र ऐसे नाम दिये हैं तथा शुक्र युगल में शुक्र इन्द्रक और शुक्र इन्द्र कहा है ।

आनत-प्राणत युगल में दो इन्द्र हैं – दक्षिण के आनत इन्द्र और उत्तर के प्राणत इन्द्र । वहां के आनत इन्द्रक के दक्षिण में छठवें श्रेणीबद्ध में आनत इन्द्र रहता है तथा उत्तर में छठवें श्रेणीबद्ध में प्राणत इन्द्र रहता है ।

आरण-अच्युत युगल में भी दो इन्द्र हैं – दक्षिण के आरण इन्द्र और उत्तर के अच्युत इन्द्र हैं । वहां के आरण इन्द्रक के दक्षिण में छठवें श्रेणीबद्ध विमान में आरण इन्द्र तथा उत्तर के छठवें श्रेणीबद्ध विमान में अच्युत इन्द्र रहता है ।

इन इन्द्रों के विमान कहां हैं वह तो हमने देखा । परंतु ये रहते कहां है ? तो इनके भी नगर होते हैं । जैसे हमने व्यंतरों के इन्द्रों के नगरों की चर्चा की थी, वैसे ही इन कल्पवासी इन्द्रों के भी बड़े-बड़े नगर होते हैं, वे समचतुरस्र चौकोर होते हैं । उनका विस्तार सौधर्म के ८४ हजार योजन, ईशान के ८० हजार योजन, सनत्कुमार के ७२ हजार योजन, माहेन्द्र के ७० हजार योजन, ब्रह्म युगल के ६० हजार योजन, लान्तव युगल के ५० हजार योजन, शुक्र युगल के ४० हजार योजन,

शतार युगल के ३० हजार योजन, आगे के चारों स्वर्गों के नगरों का विस्तार २०-२० हजार योजन है ।

इन नगरों के चहूं ओर पांच कोट बने हुये होते हैं । जैसे अपने यहां किले में दरवाजों सहित कोट होते हैं । एक कोट के बाद बड़ा अंतर छोड़कर दूसरा कोट, फिर अंतर, पश्चात् तीसरा कोट इसतरह ये पांच कोट होते हैं ।

सबके मध्य में इन्द्र का नगर है उसके चहूं ओर पहला कोट होता है । पहले और दूसरे कोट के बीच में १३ लाख योजन का पहला अंतराल है वहां सेना के नायक और अंगरक्षकों के निवास हैं । दूसरे और तीसरे कोट के बीच में ६३ लाख योजन का दूसरा अंतराल है, वहां तीनों जाति के पारिषद देव रहते हैं । तीसरे और चौथे कोट के बीच में तीसरा अंतराल ६५ लाख योजन का है, वहां सामानिक देव रहते हैं । चौथे और पांचवें कोट के बीच में चौथा अंतराल ८४ लाख योजन का है, वहां आभियोग्य और किल्विषक देव रहते हैं ।

पांचवें कोट के बाहर पचास हजार योजन जाकर नन्दनवन होते हैं । आनन्दकारी होने से इनको सामान्य से नन्दनवन कहते हैं, परंतु वे अलग-अलग होते हैं । पूर्व दिशा में अशोकवन, दक्षिण में सप्तच्छदवन, पश्चिम में चम्पकवन और उत्तर में आम्रवन होता है । प्रत्येक वन एक हजार योजन लम्बा और पांच सौ योजन चौड़ा होता है । इन प्रत्येक वन के मध्य में एक-एक चैत्यवृक्ष पाया जाता है । इन चैत्यवृक्षों के चारों पार्श्वभागों में पद्मासनस्थ जिनप्रतिमायें विराजमान हैं ।

वनखंडों से आगे बहुत योजनों के बाद पूर्वादि दिशाओं में लोकपालों के नगर होते हैं । इन नगरों के आग्नेय आदि चार विदिशाओं में चार गणिका महत्तरी देवांगनाओं के नगर होते हैं ।

इन्द्रों की महादेवियां आठ-आठ होती हैं, एक-एक देवी विक्रिया द्वारा हजारों शरीरों को करती है, जैसे सौधर्म की महादेवियां विक्रिया द्वारा १६०००-१६००० शरीर बनाती हैं । इन्द्रों की परिवार देवियां होती हैं उनमें से वल्लभिका सौधर्मादि युगलों में क्रम से ३२०००, ८०००, २०००, ५०० आदि होती हैं ।

इन्द्र के पुर का नाम अमरावती है । उसके मध्य में इन्द्र के रहने के मंदिर के

ईशान्य विदिशा में सुधर्मा नामक आस्थान मंडप अर्थात् सभास्थान होता है । यह १०० योजन लम्बा, पचास योजन चौड़ा और ७५ योजन ऊंचा होता है । उसके मध्य में इन्द्र का सिंहासन होता है । उसके आगे आठ पट्टदेवियों के आठ आसन होते हैं । उनके पश्चात् पूर्वादि दिशाओं में सोम, यम, वरुण, कुबेर इन चार लोकपालों के आसन होते हैं । अन्य भी पारिषद, त्रायस्त्रिंशत् आदि हजारों देवों के आसन कौनसी दिशाओं में होते हैं इसका विस्तार से वर्णन आता है ।

इस आस्थान मंडप के आगे मानस्तंभ होता है, उसकी चर्चा करने के पहले इन विमानों के बारे में थोड़ी चर्चा करते हैं, पहले इन विमानों के वर्ण कैसे हैं देखते हैं । सौधर्म-ईशान के विमान पंचवर्ण के हैं । सानत्कुमार-माहेन्द्र में कृष्ण वर्ण बिना अन्य चार वर्ण के विमान होते हैं । ब्रह्म आदि चार कल्पों में नील बिना तीन वर्ण के विमान पाये जाते हैं । शुक्रादि चार कल्पों में रक्त अर्थात् लाल वर्ण को छोड़कर दो वर्ण के विमान पाये जाते हैं । आनत से लेकर अनुत्तर तक सभी विमानों में एक शुक्ल वर्ण ही पाया जाता है ।

ये विमान तो पृथ्वी के खंड हैं, ये किसके आधार से हैं ? यहां आधार देनेवाली अन्य वस्तु नहीं हैं, परंतु वहां के पुद्गल उसरूप से परिणमित हुये हैं वहां उनको आधार देनेवाले हैं ऐसा कहा जाता है । वह इसप्रकार है –

आपके पास में दो नंबर का चार्ट जो वातवलय संबंधी है उसमें इन स्वर्गों के आधार की बात लिखी हुयी है । सौधर्म युगल जल के आधार से है अर्थात् सौधर्म और ईशान स्वर्ग के विमान जलरूप पुद्गल स्कंधों के आधार से उनके ऊपर तिष्ठते हैं । इन स्वर्गों के आजू-बाजू में और नीचे जो पुद्गल हैं वे जलरूप परिणमित हुये हैं अत: उनके जलाधार कहा है । सानत्कुमार-माहेन्द्र विमानों के पवनाधार है-पवनरूप पुद्गल स्कंध के आधार से ये विमान स्थित हैं । आगे के चार युगलों के अर्थात् आठ कल्पों के जलपवनाधार है । आनत से लेकर अनुत्तर तक सभी विमान आकाश के आधार से स्थित हैं । इसे शुद्ध आकाश भी कहते हैं, क्योंकि इसमें जल या पवनरूप पुद्गल नहीं हैं, बीच में केवल अवकाश है, अंतराल है ।

अब इन कल्पों के देवों के मुकुटों में जो चिन्ह होते हैं वे इसप्रकार हैं । यहां

सौधर्मादि बारह कल्पों के बारह स्थान, आनत युगल का एक स्थान और आरण युगल का एक स्थान ऐसे चौदह स्थानों में ये चिन्ह क्रम से इसप्रकार हैं – (१) सुअर, (२) हिरण, (३) भैंसा, (४) मत्स्य, (५) कछुआ, (६) मेंढ़क, (७) घोड़ा, (८) हाथी, (९) चन्द्रमा, (१०) सर्प, (११) खंगी, (१२) छैलो, (१३) बैल, (१४) कल्पवृक्ष ।

अब मानस्तंभ की बात करते हैं । आस्थान मंडप अर्थात् सुधर्मासभा के आगे मानस्तंभ होता है । प्रत्येक इन्द्र के सुधर्मासभा के आगे ऐसे ही मानस्तंभ होते हैं । ये मानस्तंभ एक योजन चौड़े और छत्तीस योजन ऊंचे होते हैं । ये मानस्तंभ पीठ सहित होते हैं, पीठ याने चबुतरा । ये मानस्तंभ बारह कोण संयुक्त गोल होते हैं । इनकी परिधि १२ योजन होती है, परिधि में बारह धारायें हैं; एक-एक धारा एक-एक कोस चौड़ी होती है । यहां देवलाली में यह जो मानस्तंभ है उसमें कितने कोण हैं ? पता नहीं ? रोज देख रहे हो, रोज सुबह सबसे पहले उसकी प्रदक्षिणा करते हो, चार दिशाओं में चार मूर्ति हैं, परंतु कोण किसने देखे ? कल दर्शन करके गिनकर बताना, ऐसा मत कहना कि हम प्रयोजनभूत को ही देखते हैं । कोई कह रहा है षट्कोण हैं, नहीं, इसके अष्टकोण हैं ।

प्रश्न – स्वर्ग के मानस्तंभ की १-१ धारा १-१ कोस की कैसे हुयी ?

उत्तर – एक योजन अर्थात् चार कोस व्यास है, स्थूल रूप से उससे तीन गुणा परिधि होती है, वह बारह कोस हुयी । उसमें बारह धारायें हैं इसलिए एक-एक धारा एक कोस की हुयी अर्थात् एक कोण से दूसरे कोण तक की भुजा-उसका माप एक कोस हुआ । यह सब प्रमाणयोजन और प्रमाणकोसों में समझना । यह मानस्तंभ ३६ योजन ऊंचा है । इसमें ऊपर से रत्नमयी सांकल में लटकते हुये रत्नमयी करंडक अर्थात् पिटारे छींके के समान लटकते हैं । ऊपर से सवा छह योजन और नीचे से पौना छह योजन छोड़कर बीच में चौबीस योजन में करंडक पाये जाते हैं । ये करंडक कोस के चौथे भागप्रमाण चौड़े और एक कोस लम्बे होते हैं । इनमें तीर्थंकरों के गृहस्थावस्था में-बाल, युवा, राजा अवस्था में पहनने योग्य आभरण भरे हुये हैं । इन्द्र यहां से उन चीजों को निकालकर तीर्थंकर के यहां पहुंचाते हैं ।

हमें पता है कि जब तीर्थंकर जीव का जन्माभिषेक होता है तब इन्द्र स्वर्गों से

उनके लिये वस्त्र तथा आभूषण ले आता है । कौनसे तीर्थंकरों के आभरण कौनसे पिटारों में होते हैं इसके भी नियम हैं । तीर्थंकरों के अर्थात् तीर्थंकर होनेवाले जीवों के ऐसा समझना । मुनिदशा में ही नग्न दिगंबर अवस्था होती है, तो तीर्थंकर अवस्था होनेपर वस्त्राभरण, आभूषण का सवाल ही कहां पैदा होता है ?

सौधर्म इन्द्र के आस्थान मण्डप अर्थात् सभा मण्डप के आगे जो मानस्तंभ है उसमें जो करण्डक हैं उनमें भरतक्षेत्र के तीर्थंकरों के वस्त्राभरण पाये जाते हैं, सौधर्म इन्द्र उन्हें यहां भरतक्षेत्र में लेकर आता है । ईशान इन्द्र के आस्थान मण्डप के आगे जो मानस्तंभ है उसमें जो करण्डक हैं उनमें ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों के वस्त्राभरण पाये जाते हैं, ईशान इन्द्र उन्हें ऐरावत क्षेत्र में ले जाता है ।

ऊपर जो सनत्कुमार युगल है उसमें सनत्कुमार के मानस्तंभ में पूर्वविदेह के तीर्थंकरों के आभरण होते हैं और माहेन्द्र के मानस्तंभ में पश्चिम विदेह के तीर्थंकरों के आभरण पाये जाते हैं । देव इन मानस्तंभों की पूजा करते हैं ।

उस मानस्तंभ के पास आठ योजन लम्बा, आठ योजन चौड़ा और आठ योजन ऊंचा उपपाद गृह है, उसमें दो रत्नमयी शय्यायें होती हैं । यह इन्द्रों का जन्मस्थान-उपपादस्थान है । इस उपपाद गृह के पास अनेक शिखरों से युक्त जिनमंदिर है ।

कल्पवासी देवों की देवांगनायें तो सोलहवें स्वर्ग तक पायी जाती हैं परंतु वे सभी सौधर्म-ईशान स्वर्गों में ही जन्मती हैं, कोई भी देवी ऊपर के स्वर्गों में जन्मती नहीं, वहां तो मात्र देव ही-पुरुष ही जन्मते हैं । ऊपर-ऊपर के स्वर्गों के देवियों की आयु अधिक-अधिक होती है, परंतु जन्मती तो है सभी पहले-दूसरे स्वर्ग में ही । दक्षिण दिशा के कल्प संबंधी देवियां सौधर्म स्वर्ग में तथा उत्तर दिशा के कल्प संबंधी देवियां ईशान स्वर्ग में जन्मती हैं ।

वहां भी ऐसे कितने ही विमान हैं जहां मात्र देवियां ही देवियां उत्पन्न होती हैं, वहां कोई देव नहीं पाये जाते । अन्य विमानों में देव और देवियां दोनों पाये जाते हैं । जैसे हमारे यहां कई स्कूल मात्र लड़कियों के होते हैं, अन्य सभी मिक्स होते हैं । जहां मात्र देवियां ही उत्पन्न होती हैं और रहती हैं ऐसे छह लाख विमान सौधर्म स्वर्ग में हैं और चार लाख विमान ईशान स्वर्ग में हैं, तथा सौधर्म में

शेष छब्बीस लाख विमान और ईशान में चौबीस लाख विमान ऐसे हैं जहां देव और देवियां दोनों रहते हैं ।

प्रश्न – इन्हें उपपाद शय्या क्यों कहते हैं ?

उत्तर – उपपाद का अर्थ है जन्म । यहां देवों का जन्म होता है अर्थात् अंतर्मुहूर्त में छहों पर्याप्ति पूर्ण होकर जीव युवावस्था का देव होकर उत्पन्न होता है । देवगति के जीव माँ के गर्भ में उत्पन्न नहीं होते । हमारे यहां कर्मभूमि में और भोगभूमि में गर्भज पाये जाते हैं, उनकी बात बाद में करेंगे ।

सौधर्म में उत्पन्न हुयी देवांगनायें ऊपर के दक्षिण स्वर्गों में जाती हैं तथा ईशान में उत्पन्न हुयी देवांगनायें ऊपर के उत्तर स्वर्गों में जाती हैं । ऊपर के देव अवधिज्ञान से जानकर अपनी-अपनी नियोगिनी देवियों को ऊपर ले जाते हैं ।

अपने यहां भी ऐसा होता है कि नहीं ? हमारे भारतीय रहते हैं अमरिका में-स्टेट्स में और यहां भारत में आकर ब्याह करके अपनी पत्नी को ले जाते हैं । कोई कह रहा है – 'वहां अच्छा है अवधिज्ञान से जान लेते हैं, यहां हम माँ-बाप चिंता से मरे जा रहे हैं ।'

उत्तर – क्या करें ! आपको चिंता किये बिना चैन नहीं पड़ती ! बच्चे तो नहीं चाहते कि उनके माँ-बाप बीच में मेडल करे-परंतु हमारा मोह ही हम पर ऐसा हावी हो जाता है कि स्वाध्याय आदि करने योग्य कार्य छोड़कर हम रात दिन इन्हीं चिंताओं को करने में समय बिता देते हैं । वैसे भी हमारी चिंता और इच्छा से तो कुछ होता नहीं और होनेवाला टलता नहीं ।

देव और देवांगनाओं की आयु में बड़ा अंतर होता है । जैसे सौधर्म स्वर्ग में देवों की उत्कृष्ट आयु दो सागर (साधिक) है तो देवियों की पांच पल्य है । एक सागर में कितने पल्य होते हैं कोई कहेगा ? हां, दस कोडाकोडी पल्य । एक इन्द्र की तो आठ-आठ महादेवियां होती हैं, अन्य भी अनेक देवियां होती हैं । तो उसके दो सागर आयु में कितनी देवियां मरकर चली जाती हैं । फिर कहां का सुख ? शचि इन्द्राणि नियम से मनुष्य में आकर मोक्ष चली जाती है । ऐसी कितनी ही शचि इन्द्राणियां एक

के बाद एक मरकर कर्मभूमि में आकर मोक्ष चली जाती है और सौधर्म इन्द्र तो वहीं पर विराजमान रहते हैं ।

जो देव अगले भव में नियम से मोक्ष जाते हैं उन्हें एक भवावतारी या एकावतारी कहते हैं । सौधर्म इन्द्र तथा सभी दक्षिण दिशा के इन्द्र, सौधर्म के चारों लोकपाल – यम, सोम, वरुण, कुबेर; शचि इन्द्राणि, लौकान्तिक देव, सर्वार्थसिद्धि विमान के देव ये सब एकावतारी हैं, वे वहां से चयकर (मरकर) मनुष्य में आकर उसी भव में नियम से मोक्ष जाते हैं; अन्य देव नहीं जाते ऐसी बात नहीं है, परंतु ये जीव नियम से जाते हैं । लौकान्तिक का नाम सुना होगा, यहां पंचकल्याणकों में देखा-सुना होगा । ब्रह्मस्वर्ग के आठों ही दिशाओं में (दिशा और विदिशा) बाहरी ओर उनके विमान होते हैं, वहां वे ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते हैं, उनके वैराग्यमयी परिणाम होते हैं, उन्हें देवर्षि कहते हैं या ब्रह्मर्षि भी कहते हैं । तीर्थंकरों के दीक्षाकल्याणकों में आकर वे दीक्षा की अनुमोदना करते हैं ।

इतनी चर्चा के बाद अब वैमानिक देवों की जघन्य और उत्कृष्ट आयु कितनी होती है उसे देखते हैं ।

सौधर्म-ईशान में जघन्य आयु एक पल्य और उत्कृष्ट आयु दो सागर है । सनत्कुमार-माहेन्द्र में जघन्य आयु एक समय अधिक दो सागर और उत्कृष्ट आयु सात सागर है । नीचे के स्वर्ग की उत्कृष्ट आयु में एक समय मिला दो तो वह ऊपर के स्वर्ग की जघन्य आयु होती है । इन्द्रों की आयु तो अधिक ही होती है । जहां शुभभाव अधिक अर्थात् कषाय मंदतर होते हैं वहां देवायु की स्थिति भी अधिक बंधेगी ।

ब्रह्म युगल में उत्कृष्ट आयु दस सागर है । लान्तव युगल में उत्कृष्ट आयु चौदह सागर है । शुक्र युगल में उत्कृष्ट आयु सोलह सागर है, शतार युगल में अठारह सागर, आनत युगल में बीस सागर, आरण युगल में बाइस सागर है ।

आगे प्रत्येक ग्रैवेयक में क्रम से एक-एक सागर बढ़ते हुये नीचे के पहले ग्रैवेयक में तेइस सागर से लेकर ऊपर के अंतिम अर्थात् नौवें ग्रैवेयक में उत्कृष्ट आयु इकतीस सागर है । अनुदिशों में उत्कृष्ट आयु बत्तीस सागर है और अनुत्तरों में उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागर है ।

शास्त्रों में घातायुष्क की बात आती है । सौधर्म युगल में उत्कृष्ट आयु दो सागर है यह बात तो हमने देखी । परंतु वहां कई जीव ढ़ाई सागर आयुवाले भी पाये जाते हैं । यह आधा सागर अधिक आया कहां से ? क्योंकि बंधते समय तो दो सागर से अधिक वहां की आयु नहीं बंधती । इन ढ़ाई सागर आयुवालों को घातायुष्क सम्यग्दृष्टि कहते हैं । जिन सम्यग्दृष्टि जीवों ने पहले ऊपर के स्वर्ग संबंधी अधिक आयु बांधी थी, मान लो ४, ५ या ७ सागर की आयु बांधी थी । उनके परिणामों में ऐसी कोई विचित्रता हो जाती है कि उनकी बंधी हुयी आयु घटकर नीचे के स्वर्ग की उत्कृष्ट आयु जो दो सागर है उससे अंतर्मुहूर्त से कम आधा सागर अधिक इतनी अर्थात् ढ़ाई सागर रह जाती है । यह घात बध्यमान आयु में होता है, भुज्यमान आयु में नहीं ।

इसका अर्थ समझेंगे । हम वर्तमान में जो आयु भोगते हैं-जिस आयु का उदय चल रहा हो उसको भुज्यमान आयु कहते हैं । हम आप सभी मनुष्यों की भुज्यमान आयु मनुष्यायु है । वर्तमान भव में आगामी भव संबंधी जिस आयु का बंध होता है, उसको बध्यमान आयु कहते हैं । एक बार आयु का बंध हो जानेपर उस बंधी हुयी आयु की स्थिति परिणाम वश घट जाने को घातायुष्क कहते हैं । जिसने देवायु का बंध किया है ऐसा घातायुष्क जीव यदि सम्यग्दृष्टि हो तो नीचे के स्वर्ग की उत्कृष्ट आयु से उसकी आयु आधा सागर अधिक रहती है और यदि घातायुष्क जीव मिथ्यादृष्टि हो तो उसकी आयु नीचे के स्वर्ग की उत्कृष्ट आयु से पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण अधिक रह जाती है । बध्यमान आयु की बंधी हुयी स्थिति उसी भव में घट जाने को घातायुष्क कहते हैं और वर्तमान की अर्थात् भुज्यमान आयु के घट जाने को-घात होने को कदलीघात कहते हैं । देवों, नारकियों तथा भोगभूमियों में ऐसा कदलीघात नहीं होता । कर्मभूमि के मनुष्य और तिर्यंच में कदलीघात होकर मरण हो सकता है ।

मान लेते हैं कि कोई जीव सौ साल की मनुष्यायु बांधकर आया है-उसने मनुष्य में जन्म लिया है अर्थात् उसकी भुज्यमान मनुष्यायु चल रही है । परंतु ऐसा हो सकता है कि पच्चीसवें साल में ॲक्सिडैंट, रोग, विषभक्षण आदि के निमित्त से उसके आयु के निषेकों का घात होकर वहां के सभी परमाणु उदय से लेकर अंतर्मुहूर्त काल प्रमाण निषेकों में नीचे आ जाते हैं और पश्चात् वहां आगामी आयु का बंध होकर

जीव अंतर्मुहूर्त में मरता है ।

भुज्यमान आयु के घात को कदलीघात कहते हैं, बध्यमान आयु के घात को घातायुष्क कहते हैं । घातायुष्क जीव सहस्रार स्वर्ग तक ही पाये जाते हैं, ऊपर नहीं ।

एक बात हमने देखी थी कि देवों में युवावस्था में ही जन्म होता है, उनके माता-पिता नहीं होते, उपपाद शय्या में ही उनकी उत्पत्ति होती है । आजीवन वे वैसे ही युवा रहते हैं, सागरों की आयु होनेपर भी हमारे जैसे बूढ़े नहीं होते । केवल मरण के छह महिने पहले उनके गले की माला मुरझा जाती है, शरीर की कांति कम हो जाती है ।

छह महिना तो हमारे कालगणना के अनुसार कहते हैं । वहां तो रात और दिन का कोई भेद नहीं है । हमारे यहां तो चन्द्र और सूर्य के भ्रमण के कारण रात और दिन का भेद होता है । सूर्य प्रकाशमान होने से वह जिस क्षेत्र पर आता है वहां प्रकाश होता है, वह आगे चला जाता है तब अंधेरा होता है ।

मेरा प्रश्न है कि वहां चन्द्र, सूर्य क्यों नहीं हैं ?

ये चन्द्र, सूर्य, तारे आदि सब इस पहली पृथ्वी से ऊपर सात सौ नब्बे योजन से लेकर नौ सौ योजन तक ही होते हैं और स्वर्ग तो एक लाख चालीस योजन ऊंचाईवाले मेरुपर्वत के ऊपर से शुरु होते हैं । वहां कोई चंद्रादि नहीं हैं । वहां तो कल्पवृक्षों का प्रकाश होता है ।

यहां भरतक्षेत्र में भी जब भोगभूमि थी तब कल्पवृक्षों का प्रकाश पाया जाता था । तो उस समय यहां चंद्र, सूर्य, तारे थे कि नहीं ? हां थे ! परंतु कल्पवृक्षों के प्रकाश के सामने उनका प्रकाश फीका था ।

आपका प्रश्न है कि वहां सूर्य, चन्द्र नहीं हैं तो काल कैसे गिनते हैं ? घड़ी भी है कि नहीं ?

उत्तर – उनकी भी काल गिनने की कोई व्यवस्था-कोई सिस्टिम तो होगी ही । उनकी तो लाखों करोडों वर्षों की आयु होती है जो सागरों में होती है, तो वहां वे काल कैसे गिनते होंगे, मुझे भी यह प्रश्न है । आपको इसका जबाब मिले तो मुझे भी बता देना ।

देवों में तथा नारकियों में सागरों की आयु होती है । वहां तो हजारों-करोड़ों वर्ष बीतनेपर भी पता नहीं चलता । स्वर्गों के जीव तो भोगों में मशगूल हैं और नरकों में एक दूसरे को पीड़ा देने में-संक्लेश परिणामों में मशगूल हैं । वहां तो कोई गहरी नींद भी नहीं लेता । निद्रा के पांच प्रकार सुने हैं आपने ? कौन-कौनसे ? हां – स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, निद्रा, प्रचला ।

देवों और नारकियों के पहली तीन अत्यंत गाढ़ी निद्रा-स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा एवं प्रचलाप्रचला कर्मों का उदय ही नहीं पाया जाता । वहां सोने को नहीं मिलेगा इसलिए यहां सो लेना ।

कोई कह रहा है – 'इसीलिए तो यहां स्वाध्याय में भी सो जाते हैं ।'

वहां के उच्छ्वास, आहार आदि की बातें भवनत्रिक में देखी थी उसी अनुपात में-उसी प्रपोर्शन में होती है । जिनकी आयु दो सागर है वे दो पक्ष याने एक महिने के बाद उच्छ्वास लेंगे अर्थात् उनका एक-एक महिने के अंतराल से उच्छ्वास होता है तथा दो हजार वर्षों के बाद उनका आहार होता है । कण्ठ से अमृत झरना यही उनका आहार है । उनके मानसिक आहार होता है, कवलाहार नहीं होता ।

प्रश्न – हमने सुना था कि स्वर्गों की कम से कम आयु दस हजार वर्ष की होती है ?

उत्तर – यह दस हजार वर्ष की जघन्य आयु भवनवासी और व्यंतरों में होती है । ज्योतिषियों की जघन्य आयु पल्य के आठवें भागप्रमाण तथा सौधर्म ईशान के देवों की जघन्य आयु एक पल्यप्रमाण होती है ।

शेष चर्चा बाद में करेंगे ।

बोलिये, विदेहक्षेत्र में विराजमान नौवें तीर्थंकर श्री सूर्यप्रभ भगवान की जय ।

१०. देवों में गति-आगति, मध्यलोक

यहां हम त्रिलोकसार के आधार से तीन भुवन की रचना देख रहे हैं । देवों संबंधी थोड़ी चर्चा रह गयी है उसके पश्चात् हम मध्यलोक अर्थात् तिर्यक्लोक का स्वरूप देखेंगे ।

देवों में कौन-कौनसे गुणस्थान होते हैं ? इसका उत्तर है कि नौवें ग्रैवेयक तक मिथ्यात्व, सासादन, सम्यग्मिथ्यात्व एवं अविरत सम्यक्त्व ये चारों ही गुणस्थान पाये जाते हैं । भवनत्रिकों में तथा सभी देवियों में सम्यग्दृष्टि जीव जन्म नहीं लेता परंतु जन्म के पश्चात् अंतर्मुहूर्त के बाद कभी भी ये जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं । अनुदिश और अनुत्तर विमानवासी सभी देव जन्म से सम्यग्दृष्टि ही होते हैं, भावलिंगी मुनि ही मरकर वहां उत्पन्न हो सकते हैं, अन्य कोई नहीं ।

कौनसे गति के जीव देवों में उत्पन्न होते हैं यह देखेंगे । मेरा प्रश्न है कि पहले स्वर्ग का देव मरकर ऊपर कौनसे स्वर्ग तक जन्म लेगा ?

देखो ! कोई भी देव मरकर पुन: देवगति में जन्म नहीं लेता । नारकी भी मरकर देवों में जन्म नहीं लेते । फिर देवों में जन्म लेनेवाले मात्र मनुष्य और तिर्यंच ही शेष रहे । मनुष्यों में भी लब्धिअपर्याप्त जीव मरकर देवों में जन्म नहीं ले सकते । तिर्यंचों में एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के जीव देवों में नहीं जन्मते । लब्धिअपर्याप्त पंचेन्द्रिय भी देवों में नहीं जन्मते ।

भोगभूमि के सभी तिर्यंच एवं मनुष्य मरकर नियम से देवगति में ही जन्म लेते हैं । भोगभूमि के मिथ्यादृष्टि और सासादन भवनत्रिक में ही जाते हैं और सम्यग्दृष्टि सौधर्म-ईशान में ही जाते हैं । उसके ऊपर के स्वर्गों में नहीं जा सकते । कुभोगभूमि के जीव मरकर भवनत्रिक में या कल्पवासिनी देवियों में जन्म लेते हैं ।

असंयत और देशसंयत मनुष्य और तिर्यंच ऊपर सोलहवें-अच्युत स्वर्ग तक जन्म ले सकते हैं । जो द्रव्य से जिनलिंग धारक हैं अर्थात् दिगंबर मुनिदीक्षा अंगीकार करके जो शास्त्रानुसार मुनि के संपूर्ण आचार पालते हैं उन्हें द्रव्यलिंगी कहते हैं । ऐसे द्रव्यलिंग के धारक जीव पहले, चौथे या पांचवें गुणस्थान में हो सकते हैं । यदि उन्हें मुनियोग्य वीतरागता अर्थात् तीन कषाय चौकड़ी का अभाव होता है तो उनके छठवां-

सातवां आदि गुणस्थान होता है, उन्हें तो भावलिंगी मुनि कहते हैं । द्रव्यलिंग के ग्रहणपूर्वक ही भावलिंग प्रकट होता है, अन्यथा नहीं ।

मिथ्यात्व अवस्था में जिसने द्रव्यलिंग धारण किया है वह पुरुषार्थ से सीधा सातवां गुणस्थान प्राप्त करता है, पश्चात् छठवें में आकर छठवां-सातवां गुणस्थान होता रहता है । कोई चौथे या पांचवें गुणस्थानवाले जीव भी द्रव्यलिंगी होते हैं । वे तो सम्यग्दृष्टि हैं फिर भी जब तक छठवां-सातवां गुणस्थान नहीं है तब तक उन्हें भावलिंगी मुनि नहीं कहते । इन जीवों को द्रव्यलिंगी भी तभी कहते हैं जब वे मुनि के अट्ठाइस मूलगुणों का – मुनि की बाह्य क्रियाओं का निरतिचार पालन करते हैं । जब तक इनके भाव मुनिपना प्रकट नहीं हुआ है ऐसे मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मरकर नौवें ग्रैवेयक तक जा सकते हैं । भावलिंगी संत तो सौधर्म से लेकर सर्वार्थसिद्धि तक कहीं भी उत्पन्न हो सकते हैं । वहां भी कौनसे संहननवाले मनुष्य कौनसे स्वर्ग तक जन्म ले सकते हैं इसके नियम हैं । पहले संहननवाले अनुत्तर तक, दूसरेवाले अनुदिश तक, तीसरेवाले नौवें ग्रैवेयक तक, चौथेवाले अच्युत तक, पांचवेंवाले सहस्रार तक, छठवेंवाले कापिष्ठ तक जन्म ले सकते हैं । इसका अर्थ यह हुआ कि तीन उत्तम संहनन के धारी मुनि ही ग्रैवेयकों में जा सकते हैं । नीचे के हीन संहननधारी भावलिंगी मुनि भी वहां जन्म नहीं ले सकते ।

तापसी आदि अन्य-अन्य पंचाग्नि तप करनेवाले मिथ्यादृष्टि उत्कृष्टरूप से भवनत्रिक तक जन्म ले सकते हैं । एकदंडी, त्रिदंडी अधिक से अधिक ब्रह्मस्वर्ग तक उपजते हैं । कांजि का आहार लेनेवाले अन्यमति अच्युत स्वर्ग तक उपजते हैं ।

अब देवगति के जीव मरकर कहां जन्म लेते हैं उसकी चर्चा करते हैं । देव में से जीव मनुष्य या तिर्यंच पर्याय में ही जन्म लेते हैं । मिथ्यात्व और सासादन सहित इन दोनों में से किसी पर्याय में जन्म लेते हैं । तिर्यंचों में जन्म लेनेवाले देव एकेन्द्रिय में या संज्ञी पंचेन्द्रिय गर्भजों में जन्म लेते हैं । परंतु सम्यग्दृष्टि देव और देवियां मरकर नियम से दुषम-सुषमा काल के कर्मभूमि मनुष्य में पुरुष पर्याय में ही जन्म लेते हैं । अनुदिश और अनुत्तर विमानों से आनेवाले जीव नारायण या प्रतिनारायण नहीं होते क्योंकि नारायण और प्रतिनारायण नियम से नरकगामी होते हैं-मरकर नरक में जाते हैं परंतु अनुत्तर-अनुदिशवाले जीव या तो मनुष्य होकर मोक्ष जायेंगे या उसके

पश्चात् दुबारा स्वर्ग में जाकर फिर मनुष्य होकर मोक्ष जायेंगे ।

देवों में से आकर नियम से मोक्ष जानेवालों की चर्चा हमने पहले की थी ।

प्रश्न – आपने एकभवावतारी देवों में शचि इन्द्राणी का नाम बताया था । परंतु देवी तो सम्यग्दृष्टि नहीं होती ना ?

उत्तर – शचि इन्द्राणी हो या अन्य कोई भी स्त्री पर्याय का जीव हो सब जन्म से मिथ्यादृष्टि ही होती हैं । हां, जन्म के पश्चात् वे सम्यक्त्व प्राप्त कर सकती हैं । शचि इन्द्राणी भी वहां सम्यक्त्व प्राप्त करके मनुष्य होकर-पुरुषपर्याय में जन्म लेकर उसे उसी भव में मोक्ष प्राप्त होता है । सम्यक्त्व सहित मरकर जीव कहां उत्पन्न होता है उसके भी नियम है । वह स्त्रीपर्याय में जन्म नहीं लेता-ना भाव से भावस्त्रीवेदवाला होता है ना द्रव्य से स्त्री होता है-देव, मनुष्य, तिर्यंच में पुरुषवेद सहित उत्पन्न होता है । वह दूसरे या नीचे के किसी नरक में उत्पन्न नहीं होता, सम्यक्त्वसहित पहले नरक में उत्पन्न हो सकता है वहां तो केवल नपुंसकवेद ही पाया जाता है परंतु अन्य गतियों में-मनुष्य, तिर्यंच में सम्यक्त्व के साथ जन्मनेवाला नपुंसकवेदी भी नहीं होता ।

किसी का प्रश्न है, क्या नपुंसकवेदी जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है ? यदि नहीं तो नारकियों को कैसे होता है ?

उत्तर – नपुंसकवेदी जीव को सम्यक्त्व नहीं होता ऐसा कहीं पर भी लिखा नहीं है । परंतु यह बात आगम में अनेक जगह लिखी हुयी है कि द्रव्य से पुरुष जीव भाववेद की अपेक्षा तीनों वेदों में से किसी भी वेद सहित हो तो वह जीव उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर सकता है । नौवैं गुणस्थान के पहले भाग तक वेद का उदय पाया जाता है । वैसे तो जीव पांचवें गुणस्थान में ही ब्रह्मचर्य प्रतिमा अंगीकार करते हैं, उनके आचरण में या भावों में भी कोई अन्यथा बात नहीं होती परंतु वेद नामक नोकषाय कर्मों का अत्यंत हीन अनुभागरूप उदय यहां तक पाया जाता है, इसलिए उन जीवों को सवेदी कहते हैं, पश्चात् वेद का उदय मिट जानेपर उन जीवों को अपगतवेदी कहते हैं । वे ही जीव आगे चौदह गुणस्थान पार करके मोक्ष प्राप्त करते हैं । परंतु स्त्रीवेदवाले एवं नपुंसकवेदवाले जीव उसी भव में तीर्थंकर नहीं होते । वे जीव तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर सकते हैं । यदि बंध किया हो तो एक देव का और एक मनुष्य का दोनों ही पुरुष के भव करके वह जीव तीर्थंकर बनेगा । पहले नरकायु का बंध हुआ हो तो

एक नरक का और एक मनुष्य का भव करके वह जीव तीर्थंकर बनेगा ।

नरकों में सभी नपुंसकवेदी ही होते हैं और वहां भी असंख्यात जीव सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं । असंख्यात तिर्यंच सम्मूर्च्छन संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव पंचम गुणस्थानवर्ती हैं, वे भी नपुंसकवेदी होते हैं ।

प्रश्न – अभी आपने कहा कि स्त्रीवेदी जीव मोक्ष जा सकता है परंतु तीर्थंकर नहीं होता, हमने तो सुना है कि कितने ही लोग कहते हैं कि मल्लिनाथ तीर्थंकर स्त्री थे, तो यह कैसा ?

उत्तर – यहां स्त्रीवेदी कहने से भावस्त्रीवेदी मोक्ष जाता है ऐसा कहा है । द्रव्य से स्त्री अर्थात् स्त्रीपर्यायवाला तो पांचवें गुणस्थान तक का ही पुरुषार्थ कर सकता है, उसके ऊपर का नहीं । भाव से स्त्रीवेदी मनुष्य तीर्थंकर प्रकृति बांध तो सकता है परंतु तीर्थंकर प्रकृति का उदय उस भव में नहीं हो सकता । रही बात मल्लिनाथ तीर्थंकर की । हमारे यहां जो चौबीस तीर्थंकर हुये हैं वे सभी पांचों कल्याणकवाले थे अर्थात् सभी पूर्व के तीसरे भव से तीर्थंकर प्रकृति बांधकर आये थे और सम्यक्त्व के साथ माँ के गर्भ में आये थे । सम्यक्त्व के साथ जन्म लेनेवाला तो नियम से द्रव्य और भाव वेद की अपेक्षा से पुरुष ही होता है, स्त्री कदापि नहीं होता । इससे सिद्ध हुआ कि मल्लिनाथ पुरुष ही थे ।

मल्लिनाथ कौनसे स्वर्ग से आये थे पता है ? वे अनुत्तर विमान में से अपराजित विमान से चयकर यहां आये थे । अनुत्तर में तो सभी सम्यग्दृष्टि होते हैं और पुरुष ही होते हैं । इसलिए मल्लिनाथ इस भव में तो पुरुष थे ही, पूर्व भव में भी पुरुष (देव) ही थे । अपराजित में नग्न दिगंबर भावलिंगी मुनिराज ही (मरकर) जा सकते हैं जो स्वयं पुरुष ही होते हैं । इसतरह तीन-तीन भव जिनके पुरुष पर्याय के हुये हैं उन्हें स्त्री मानना महान मिथ्यात्व है, तीर्थंकरों का अवर्णवाद है, सर्वज्ञ के मत के विरुद्ध प्ररूपणा है ।

प्रश्न – इतने सारे निर्णय करने के लिये कितना समय इसमें देना ?

उत्तर – सारा का सारा समय इस तत्त्वनिर्णय के लिये ही देना है । हमें देव के स्वरूप का निर्णय, गुरु के स्वरूप का निर्णय, शास्त्र के स्वरूप का निर्णय सब सच्चा

ही होना चाहिये । मुनि तो नग्न दिगंबर ही होते हैं तो देव के वस्त्र-अलंकार होने का सवाल ही उत्पन्न नहीं होता । गृहस्थदशा में पांचवें गुणस्थान तक का ही पुरुषार्थ हो सकता है । पुरुष को भी दिगंबर मुनिदीक्षा अंगीकार करने के पश्चात् ही ध्यानावस्था में-आत्मा में एकाग्रता होनेपर सातवां गुणस्थान प्रकट होता है-मुनिदशा प्राप्त होती है-भावलिंग प्रकट होता है । वस्त्र सहित सातवां गुणस्थान प्रकट होता तो बाद में मुनिदीक्षा लेने की क्या आवश्यकता रहेगी ? इसलिए गृहस्थदशा में मुनिदशा एवं केवलज्ञान नहीं हो सकता ।

यहां अन्य जीव क्या करता है, क्या सोचता है इसकी चर्चा नहीं करना है, हमें तो अपना कल्याण करना है और उसी के लिये अपना निर्णय सही और पक्का होना चाहिये । निर्णय सही और सच्चा नहीं हो और देव गुरु शास्त्र का स्वरूप अन्यथा मानता हो तो वह अज्ञान मिथ्यात्व है । यदि निर्णय पक्का न हो, संशय चलता हो, तो जीव इधर-उधर, यहां-वहां भटकता है । कौन-कौन क्या-क्या कहता है, यह जानने के लिये वह मिथ्या मान्यतावालों के भी प्रवचन सुनता रहता है और कहता है उसमें से हम अच्छा-अच्छा लेंगे तो यह उसकी भ्रमणा है । उसको अभी सच्चे-झूठे का निर्णय नहीं है ।

लौकिक में तो कपडे, गहने, घर, खाद्यपदार्थ आदि के भले-बुरे का निर्णय करता है परंतु देव, गुरु, शास्त्र के बारे में निर्णय नहीं करना चाहता, तो उसका मनुष्यभव ऐसा ही चला जायेगा और पता नहीं दुबारा ऐसा अवसर कब प्राप्त होगा ?

हमने जो ६३ शलाका पुरुष देखे थे, उनमें कोई जीव मनुष्यगति से आकर जन्म नहीं लेता, मनुष्य मरकर मनुष्य होवे और चक्रवर्ती आदि शलाका पुरुष हो जाये ऐसा नहीं होता । तिर्यंच में से आकर भी कोई शलाका पुरुष नहीं होता; उसीप्रकार भवनत्रिक में से आकर भी कोई शलाका पुरुष नहीं बनता । नरक में से निकलकर जीव तीर्थंकर बन सकता है । जिस मनुष्य ने नरकायु बांधने के पश्चात् सम्यक्त्व प्राप्त करके तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रारंभ किया हो, वह तीसरे नरक तक जा सकता है, वहां से मरकर मनुष्य में जन्म लेकर वह तीर्थंकर बनता है । उसको छोड़कर अन्य सभी तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण होनेवाले जीव मनुष्य, तिर्यंच या भवनत्रिक में से आकर नहीं होते, वैमानिक देवों में से ही आकर

जीव शलाका पुरुष बनते हैं ।

अब देव मरकर किन पर्यायों में जन्म लेते हैं उसे देखते हैं । सहस्रार कल्प तक के देव मरकर तिर्यंच में जन्म ले सकते हैं अर्थात् वे कर्मभूमि के मनुष्य या तिर्यंच में जन्म लेते हैं । सभी सम्यग्दृष्टि देव मरकर मनुष्य ही होते हैं परंतु मिथ्यात्व और सासादन में मरनेवाले देवगति के जीव मनुष्य या तिर्यंच होते हैं । आनत से लेकर नौवें ग्रैवेयक तक के जीव – मिथ्यादृष्टि हो, सासादन हो या अविरत सम्यग्दृष्टि हो, मरकर नियम से मनुष्य ही होते हैं । अनुदिश और अनुत्तरवासी सभी सम्यग्दृष्टि ही होते हैं और मरकर मनुष्य में जन्म लेते हैं ।

कोई भी देव मरकर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय या असंज्ञी पंचेन्द्रिय में जन्म नहीं लेता; तिर्यंच में या तो संज्ञी पंचेन्द्रिय या एकेन्द्रिय पर्याप्त होता है । छहढ़ाला में हमने पढ़ा हैं 'तहं तै चय थावर तन धरैं' अर्थात् विमानवासी देव मरकर एकेन्द्रिय में उत्पन्न हो सकता है; परंतु सभी स्वर्गों के देव एकेन्द्रिय में नहीं जन्मते । भवनत्रिक और सौधर्म ईशान स्वर्ग के मिथ्यादृष्टि देव मरण शीघ्र होनेवाला जानकर अत्यंत शोक करके अत्यंत संक्लेश परिणाम के कारण एकेन्द्रिय में जन्म लेते हैं । उसमें भी पृथ्वीकायिक, जलकायिक या प्रत्येक वनस्पतिकायिक के बादरपर्याप्त में ही जन्मते हैं, सूक्ष्म या साधारण (निगोद) में जन्म नहीं लेते । वे अग्निकायिक या वायुकायिक में भी जन्म नहीं लेते । देवों की बात छोड़ो, हम भी अपना या अपने रिश्तेदार-मित्रादि का मरण नजदीक देखकर अत्यंत शोक-विलाप करते हैं तो नरक, निगोद तथा अन्य एकेन्द्रिय पर्याय संबंधी कर्मबंध करके वहां जन्म लेने की तैयारी करते हैं ।

अब देवों के जन्म संबंधी वृत्तांत मैं पुस्तक में से पढ़कर सुनाती हूँ ।

'जैसे उदयाचल पर सूर्य उदित होता है ..... '

प्रश्न – यह उदयाचल कौनसा पर्वत है ?

उत्तर – जहां से सूर्य उदित होते हुये दिखायी देता है उसे उदयाचल कहते हैं, हर एक के अपने गांव का अलग-अलग होगा, मुंबई नगर में किसी बिल्डिंग को ही कहना पड़ेगा । हां सुनो, यह तो दृष्टांत है ।

'..... वैसे उपपाद शय्या पर अंतर्मुहूर्त में छहों पर्याप्ति पूर्ण कर मनोहर सुगन्धमय

सुखद स्पर्शवाले पवित्र शरीरधारक देव उत्पन्न होते हैं । जन्म होनेपर वहां आनंदरूप वाद्यों की ध्वनि और जयकारादि स्तुतिरूप शब्द सुनकर अपने को देवपर्याय मिली है जानकर तथा वहां प्राप्त हुये ऐश्वर्य, वैभव और देवांगनादि परिवार देखकर अवधिज्ञान से पूर्व पर्याय को जानते हैं ।'

देवों के भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है । देवों और नारकियों में भले वे सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि, सभी को उस भव में अवधिज्ञान पाया ही जाता है । पर्याप्ति पूर्ण होनेपर अंतर्मुहूर्त में यह अवधिज्ञान प्राप्त होता है परंतु सम्यग्दृष्टियों को यदि वे पूर्व भव में अवधिज्ञानी रहे हो तो उनका अवधिज्ञान अपर्याप्त अवस्था में भी रहता है ।

'अवधिज्ञान से पूर्व भव का वृत्तांत जानकर, अपने योग्य आचरण एवं धर्म के कारण देवगति प्राप्त हुयी जानकर धर्म की प्रशंसा करते हैं । वहां के निर्मल, सुगंधमय जल से युक्त सरोवर में स्नान करके पट्टरूप अभिषेक और वस्त्राभूषण को प्राप्त करते हैं । सम्यग्दृष्टि देव स्वयमेव जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक एवं पूजा करते हैं, मिथ्यादृष्टि देव अन्य देवों द्वारा संबोधित होते हुये-अन्य देव जैसे बताते हैं वैसे जिनेन्द्र भगवान की पूजा करते हैं । स्वर्गों के सुखसामग्री में वे इतने मग्न होते हैं कि उन्हें व्यतीत हुये काल का पता ही नहीं चलता ।

तीर्थंकरों के कल्याणक तथा महापूजा आदि में कल्पवासी देव आते हैं परंतु अहमिन्द्र अपने स्थान में ही जिस दिशा में तीर्थंकर विराजमान हैं उस दिशा में सात पद चलकर मस्तक पर अंजुलि लगाकर भक्तिभाव से नमस्कार करते हैं ।'

अब कुछ प्रश्न आये हैं उन्हें देखकर आगे का विषय प्रारंभ करना है । सिद्धशिला के बारे में पूछा है कि वह उत्तान, धवल, छत्राकार होती है और हम चन्द्राकार दिखाते हैं यह कैसा ? हमने सुना है गोलाकार ऊपर होता है और नीचे सपाट होता है ?

उत्तर – त्रिलोकसार गाथा ५५७, ५५८ में इसका वर्णन है, जयधवला पुस्तक १६ के अंत में भी इसका वर्णन है । वहां उत्तान का अर्थ ऊपर का भाग समान है, नीचे से गोलाकार है । परंतु यह इतना गोलाकार नहीं है जैसा कि चन्द्र दिखता है । क्योंकि मध्य में आठ योजन की चौड़ाई है और व्यास ४५ लाख योजन है तो उसकी गोलाई-कर्व्हेचर मामुलीसा है ।

प्रश्न – स्वर्गों के विमान की रचना गोलाकार है या कैसी है ?

उत्तर – विमान गोलाकार हैं, बाकी वहां के नगरों की रचना तो जैसे वर्णन पाया जाता है वैसे है ।

प्रश्न – स्वर्गों के वनों में वनस्पतिकायिक जीव हैं या नहीं ? सुना है वहां स्थावर जीव नहीं होते ?

उत्तर – कहां सुना है आपने ? किसने कहा स्थावर जीव नहीं होते ? स्थावर जीव तो पूरे लोकाकाश में हैं और जहां पृथ्वी होती है वहां तो सभी बादर एकेन्द्रिय पाये जाते हैं ।

यहां अनेक प्रश्न आये हैं – देवों की कौनसी भाषा होती है ? व्यंतरदेव कौनसे गति के जीवों को परेशान करते हैं ? देव विमान में कहां-कहां गमन करते हैं ?

उत्तर – देव विमानों में रहते हैं, वे विक्रिया करके अन्यत्र गमन करते हैं विमान लेकर घूमते नहीं है । हमारे हवाई जहाज जैसे उनके विमान नहीं है । मध्यलोक के असंख्यात द्वीप समुद्रों में कहीं पर भी जा सकते हैं । सहस्रार स्वर्ग तक के देव नीचे तीसरे नरक तक जा सकते हैं-जाते भी हैं । देवों के वाहनों को भी विमान कहते हैं ।

भाषा गिर्वाणभारती ऐसा कहते हैं, परंतु मुझे पता नहीं है ।

प्रश्न – मिथ्यादृष्टि जीव कहां तक का इन्द्र हो सकता है ?

उत्तर – वह तो नौवें ग्रैवेयक तक का अहमिन्द्र हो सकता है ।

अब कुछ तो जानने के लिये बाकी छोड़ दो । जब हम आप देवों में चले जायेंगे तो यहां के प्रश्न वहां अवधिज्ञान से जानकर फिर उसका उत्तर ढूंढ़ेंगे । आप को देवलोक छोड़ना है या नहीं ? चारों गतियों में कहीं पर भी सुख नहीं है तो ऊर्ध्वलोक छोड़कर अब मध्यलोक अर्थात् तिर्यक्लोक में चलेंगे अर्थात् उसकी चर्चा करेंगे ।

तिर्यक् अर्थात् आड़ा । लोक के मध्य में स्थित होने से इसे मध्यलोक भी कहते हैं । मेरुतल से लेकर सुदर्शन मेरु की १ लाख ४० योजन प्रमाण ऊंचाई तक यह मध्यलोक की ऊंचाई है तथा इसकी चौड़ाई और लम्बाई १ राजू और ७ राजू है । पहली पृथ्वी पूर्व-पश्चिम एक राजू और दक्षिणोत्तर ७ राजू है, यही मध्यलोक

की चौड़ाई और लम्बाई है । मेरुतल पृथ्वी में एक हजार योजन गहराई में हैं वहां से मेरु की ऊंचाई गिनते हैं ।

इसके बीचोंबीच १ राजू × १ राजू चौड़ाईवाली वाली चौकोर त्रसनाली है जिसमें असंख्यात द्वीप समुद्र पाये जाते हैं । उसके बाहर तो मात्र भूमि है । अब इस १ राजू × १ राजू चौकोर में १ राजू व्यासवाला गोल निकालना – देखिये चार्ट नं. ३ । गोल के बाहर चारों कोणों में भूमि है इसे चतुष्कोण भूमि कहते हैं । उस गोल में एक के अंदर एक ऐसे असंख्यात द्वीप समुद्र गोलाकार में हैं । सबसे मध्य में-सेंटर में जम्बूद्वीप नाम का १ लाख योजन व्यासवाला गोलाकार द्वीप है । उसके चारों ओर-सभी ओर से गोलाकार में फैला हुआ लवणसमुद्र है जिसका विस्तार अर्थात् चौड़ाई २ लाख योजन है । अर्थात् यह कंकणाकृती फैला है, जम्बूद्वीप को घेरे हुये है । जम्बूद्वीप की बाहरी सीमा उसका अंदरवाला किनारा है तथा इसका बाहरी किनारा आगे के धातकीखण्ड को छूता है ।

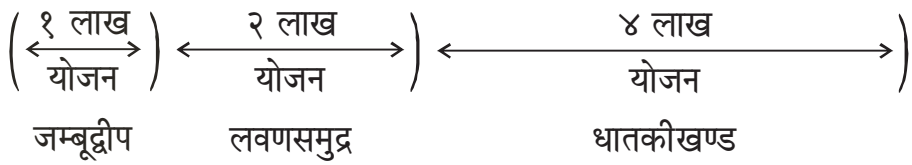

इसे अच्छी तरह से समझने के लिये जम्बूद्वीप के मध्यबिंदु से अर्थात् मेरुमध्य से ५०,००० योजन त्रिज्या याने रेडियसवाला गोल निकालेंगे तो वह जम्बूद्वीप का विस्तार हुआ जो एक लाख योजन व्यास याने डायमीटर का हुआ । उसी मध्य बिंदु से उस त्रिज्या में दो लाख बढ़ाकर गोल बनायेंगे तो लवणसमुद्र का बाहरी किनारा जो गोलाकार है वह होगा उसका एक दिशा में विस्तार दो लाख योजन है ।

लवणसमुद्र का इनर डायमीटर १ लाख योजन (अंदर के किनारे गोलाकार होने से उनके एक दूसरे के सामने का व्यास) और लवणसमुद्र के बाहरी किनारों का व्यास ५ लाख योजन होता है । अभी-अभी हमने ५०,००० योजन में आगे के दो लाख योजन मिलाकर ढ़ाई लाख योजन की त्रिज्या के साथ गोल बनाया था और त्रिज्या से दो गुणा व्यास होता है । चार्ट देखकर इसे अच्छी तरह से समझ सकते हो । इस बाहरी सीमा के व्यास को उस समुद्र की सूची कहते हैं ।

लवणसमुद्र का एक दिशा में विस्तार २ लाख योजन का है, उसके आगे उसको घेरे हुये आगे का धातकीखण्ड नाम का द्वीप ४ लाख योजन विस्तारवाला है । पहले ढ़ाई लाख त्रिज्या में ये चार लाख मिलाकर साढ़े छह लाख योजन त्रिज्यावाला अर्थात् तेरह लाख योजन बाहरी व्यासवाला धातकीखण्ड द्वीप है ।

मध्य से यदि देखेंगे तो जम्बूद्वीप का एक ओर विस्तार पचास हजार योजन, उससे डेढ़ लाख योजन अधिक लवणसमुद्र का विस्तार है । दोनों मिलकर ढ़ाई लाख योजन होते हैं । उसमें डेढ़ लाख योजन मिलाकर चार लाख योजन अकेले धातकीखण्ड का विस्तार है । मध्य से जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्ड मिलकर साढ़े छह लाख योजन होते हैं उसमें डेढ़ लाख योजन मिलाकर आगे के अकेले कालोदधि समुद्र का एक दिशा में विस्तार आठ लाख योजन होता है ।

एक जम्बूद्वीप ही अखंड गोल है उसके आगे एक समुद्र, एक द्वीप, एक समुद्र, एक द्वीप क्रम से दूणे-दूणे विस्तारवाले एक को घेरे हुये दूसरा, दूसरे को घेरे हुये तीसरा ऐसे अंतिम स्वयंभूरमण समुद्र तक असंख्यात द्वीप और उतने ही समुद्र हैं ।

किसी भी द्वीप या समुद्र का विस्तार निकालना हो तो उसके अंदर के सभी द्वीप और समुद्रों के विस्तार का जोड़ देकर उसमें डेढ़ लाख योजन मिला देंगे तो उस विवक्षित द्वीप या समुद्र का एक दिशा में विस्तार निकलेगा । जैसे अभी-अभी हमने चार नंबर का कालोदधि समुद्र देखा, उसका विस्तार ८ लाख योजन देखा और मध्य से वहां तक-उसके बाहरी तट तक विस्तार साढ़े चौदह लाख योजन देखा-दुबारा देखना - मध्य से एक दिशा में जम्बूद्वीप का विस्तार आधा लाख (५०००० योजन), लवणसमुद्र का दो लाख योजन, धातकीखण्ड का चार लाख योजन और कालोदधि समुद्र का आठ लाख योजन होता है । सबका योग साढ़े चौदह लाख योजन होता है, उसमें से बाहरी कालोदधि समुद्र को डेढ़ लाख योजन अधिक देना है इसलिए उतने निकालकर बचे हुये के दो भाग करना, एक भाग में अंदर के सभी द्वीप और समुद्र, दूसरे भाग में डेढ़ लाख योजन मिलाकर बाहरी कालोदधि समुद्र का विस्तार होता है । यहां कालोदधि समुद्र की बाहरी त्रिज्या साढ़े चौदह लाख योजन, उसमें से डेढ़ लाख कम करके तेरह लाख योजन हुये, उसका आधा साढ़े छह लाख योजन में अंदर के तीनों मिलकर विस्तार हुआ और साढ़े छह में डेढ़ मिलाकर आठ लाख योजन

अकेले चौथे का अर्थात् कालोदधि का विस्तार हुआ ।

अब हम सबसे बाहर स्थित स्वयंभूरमण समुद्र के विस्तार को देखेंगे । मध्य लोक में त्रसनाली १ राजू × १ राजू विस्तारवाली चौकोर है, उसमें उतने ही व्यासवाला गोल स्वयंभूरमण समुद्र का बाहरी गोल है । अर्थात् मध्य से एक दिशा में आधा राजू है, जिसमें सभी असंख्यात द्वीप-समुद्र पाये जाते हैं । उस आधे राजू में से डेढ़ लाख योजन कम करके उसके दो समान भाग करना जो कुछ कम राजू के चौथे भाग प्रमाण-एक चतुर्थांश राजू होंगे; अर्थात् करीबन एक चौथाई राजू तक अंदर के असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं और समान भाग में डेढ़ लाख योजन मिलाकर उतना अकेले स्वयंभूरमण समुद्र का विस्तार है । यह संपूर्ण गोलाकार है - सभी दिशाओं में इतने ही विस्तारवाला कंकणाकृति फैला हुआ है ।

अब इस डेढ़ लाख योजन को गौण करके भी देखें तो एक ओर $\frac{१}{४}$ और दूसरी ओर $\frac{१}{४}$ मिलकर $\frac{१}{२}$ राजू तो स्वयंभूरमण समुद्र का विस्तार है । एक दिशा में बाहर से मध्य की तरफ विचार करेंगे तो समुद्र से अंदरवाला द्वीप आधे विस्तारवाला अर्थात् स्वयंभूरमण द्वीप का विस्तार एक दिशा में $\frac{१}{८}$ राजू है । उससे अंदर का समुद्र उससे भी आधे विस्तारवाला है । हमने कई बार प्रवचन में सुना है कि स्वयंभूरमण समुद्र में असंख्यात महामत्स्य सम्यग्दृष्टि पंचम गुणस्थानवर्ती हैं । वहां ये बड़ी-बड़ी अवगाहनावाले मगरमच्छ पाये जाते हैं ।

प्रश्न – सुना है वहां समुद्र के तल में रत्न होते हैं ?

उत्तर – हां, वे तो याद आते हैं, उनकी महिमा आती है परंतु सम्यग्दृष्टि की महिमा नहीं आती, है ना ?

इसकी विस्तार से चर्चा हम कल करेंगे ।

बोलिये, विदेहक्षेत्र में विराजमान दसवें तीर्थंकर श्री विशालकीर्ति भगवान की जय ।

११. मध्यलोक : द्वीप-समुद्र

श्रीमद् नेमिचन्द्राचार्य विरचित त्रिलोकसार ग्रंथ के आधार से हम त्रिलोक की रचना के संबंध में कुछ जानकारी ले रहे हैं । अधोलोक, ऊर्ध्वलोक की रचना देखने के पश्चात् अब हम तिर्यक्लोक याने मध्यलोक की रचना देख रहे हैं । तिर्यक्लोक का अर्थ तिर्यंचलोक नहीं समझना क्योंकि तिर्यंच तो पूरे लोक में रहते हैं । स्थावर जो एकेन्द्रिय जीव हैं वे पूरे लोक में ठसाठस भरे हुये हैं । तिर्यक् का अर्थ है आड़ा । यह चौकोर प्रतररूप फैला हुआ है, इसकी दो भुजायें १ राजू और ७ राजू की हैं तथा इसकी ऊंचाई १ लाख ४० योजन की है ।

प्रथम पृथ्वी के खरभाग में १६००० योजन में सोलह पृथ्वियां हैं उसमें प्रत्येक पृथ्वी १००० योजन मोटी है । सबसे ऊपर चित्रा पृथ्वी १००० योजन मोटी है । वहां तक मेरु की नींव है और जमीन के ऊपर ९९०४० योजन है । मेरु के तल से उसकी चूलिका तक यह मध्यलोक की ऊंचाई है ।

बीचोंबीच जो त्रसनाली है वह १ राजू × १ राजू विस्तारवाली चौकोर है उसमें असंख्यात द्वीप और समुद्र एक दूसरे को वलयाकृति में घेरे हुये हैं । वे असंख्यात कितने हैं ? उसे कहते हैं – पच्चीस कोडाकोडी उद्धारपल्य प्रमाण हैं ।

पहले हमने पल्य का प्रमाण देखा था, वह गड्ढा करके रोमखंडों से भरा था ना ! और हर सौ साल में एक रोमखंड निकाला था, जब गड्ढा खाली हो जायेगा तो एक व्यवहारपल्य होता है । आप जरा कल्पना करना । एक आवली में असंख्यात (जघन्य युक्तासंख्यात) समय होते हैं । ऐसी संख्यात कोडाकोडी आवली एक सेकंड में होती हैं । करोड गुणा करोड को कोडाकोडी कहते हैं । एक करोड में एक के ऊपर सात बिंदी होती हैं, कोडाकोडी में एक के ऊपर चौदह बिंदी होती हैं । एक सेकंड में इतने समय तो एक घण्टे में कितने, एक साल में कितने, सौ साल में कितने होंगे ? इतने समय जानेपर एक रोमखंड निकाला । यह तो व्यवहारपल्य हुआ । इसे असंख्यात करोड वर्षों के समयों से गुणा करनेपर उद्धारपल्य के रोमखंडों की संख्या आती है । ऐसा एक उद्धारपल्य, दो उद्धारपल्य, करोड उद्धारपल्य, कोडाकोडी

उद्धारपल्य, पच्चीस कोडाकोडी उद्धारपल्यों के जितने समय होते हैं, उतने असंख्यात द्वीप-समुद्र इस मध्य लोक में हैं, वे भी दुगुणे-दुगुणे विस्तारवाले हैं । तो अब एक राजू कितना बड़ा है इसका अंदाजा आया होगा !

इनमें से आधे तो द्वीप हैं और आधे समुद्र हैं अर्थात् दोनों की संख्या समान है । इन असंख्यात समुद्रों में से कर्मभूमि संबंधी तीन समुद्र हैं – लवणसमुद्र, कालोदधि समुद्र और स्वयंभूरमण समुद्र । समुद्रों में से पहला लवणसमुद्र है, दूसरा कालोदधि समुद्र है और अंतिम स्वयंभूरमण समुद्र है । इन्हीं में जलचर जीव पाये जाते हैं, अन्य समुद्रों में नहीं । जलचर कहा, जलकायिक नहीं । जलचर याने पानी में रहनेवाले मत्स्य, साप, कछुवे आदि ।

इन समुद्रों के जल का स्वाद निम्नप्रकार का है –

लवणसमुद्र – लवणसमान खारा स्वाद ।

कालोदधिसमुद्र – जलसमान स्वाद ।

पुष्करवरसमुद्र – जलसमान स्वाद ।

वारुणीवरसमुद्र – मदिरासमान स्वाद ।

क्षीरवरसमुद्र – दुग्धसमान स्वाद ।

घृतवरसमुद्र – घृतसमान स्वाद ।

इनको छोड़कर अन्य समुद्रों का स्वाद इक्षुरस समान है ।

मध्यलोक के समुद्र एवं द्वीपों को बाहर से अंदर की ओर नापनेपर पहले स्वयंभूरमण समुद्र जो एक ओर करीबन $\frac{१}{४}$ राजू है, उसके अंदर की ओर करीबन $\frac{१}{८}$ राजू प्रमाण विस्तारवाला स्वयंभूरमण द्वीप है ।

आप चार्ट नं. ३ देखना । बाहर जो नीले रंग में है वह स्वयंभूरमण समुद्र बताया है उसके अंदर उसके आधे प्रमाण जितना स्वयंभूरमण द्वीप है । आप पूछेंगे उसे दो रंगों में क्यों बताया है ? तथा उन दो रंगों के बीच में गोलाकार टेढ़ी-मेढ़ी

रेखा क्या है ?

स्वयंभूरमण द्वीप के बीचोंबीच वृत्ताकार-कंकणाकृति गोल पर्वत है जिसका नाम स्वयंप्रभ पर्वत है । इस पर्वत के कारण उस द्वीप के दो भाग होते हैं – एक अंतरवर्ती भाग, एक परवर्ती-बाहरी भाग जो स्वयंभूरमण समुद्र की ओरवाला भाग है । अंदर के भाग में अन्य द्वीपों के समान तिर्यंचों की जघन्य भोगभूमि है और बाहरी भाग में तिर्यंचों की कर्मभूमि है । स्वयंभूरमण समुद्र में भी तिर्यंचों की कर्मभूमि है । इनमें बड़ी-बड़ी अवगाहनावाले जीव पाये जाते हैं । इस समुद्र में भी बड़ी अवगाहनावाले असंख्यात महामत्स्य पाये जाते हैं । सबसे बड़ी अवगाहना कितनी है पता है ? साढ़े बारह करोड घनयोजन अर्थात् एक-एक महामत्स्य १००० योजन लम्बा, ५०० योजन चौड़ा और २५० योजन ऊंचा है । उनमें से तो असंख्यात सम्मूर्च्छन महामत्स्य सम्यग्दृष्टि हैं-पंचम गुणस्थानवर्ती भी हैं । शास्त्रों में कहा है कि वहां पंचमकाल वर्तता है । यहां के कितने ही मत्स्य मरकर सातवें नरक में भी जाते हैं । स्वयंभूरमण समुद्र गोल है और त्रसनाली चौकोर है, समुद्र के बाहर चारों कोणों में चतुष्कोण भूमि है, वहांपर भी पंचमकाल है, वहां भी पंचेन्द्रिय तिर्यंच पाये जाते हैं । कर्मभूमि होने से यहां द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव भी पाये जाते हैं ।

यहां स्वयंप्रभ पर्वत की बाहरी ओर जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना निम्नप्रकार है –

जाति	नाम	लम्बाई	क्षेत्रफल
एकेन्द्रिय	कमल	साधिक १०००योजन	७५० घनयोजन
द्वीन्द्रिय	शंख	१२ योजन	३६५ घनयोजन
त्रीन्द्रिय	रक्तबिच्छु	$\frac{३}{४}$ योजन	$\frac{२७}{८१९२}$ घनयोजन
चतुरिन्द्रिय	भ्रमर	१ योजन	$\frac{३}{८}$ घनयोजन
पंचेन्द्रिय	मत्स्य	१००० योजन	१२५००००० घनयोजन

इन असंख्यात द्वीप समुद्रों के असंख्यात का एहसास हो जाये और इतनी बार १ लाख योजन को दोगुणा-दोगुणा करते जाये तो अंतिम समुद्र $\frac{१}{४}$ राजू प्रमाण होता है यह बात ख्याल में आनेपर मध्य लोक की विशालता ख्याल में आयेगी तब पता चलेगा कि तीन लोक क्या है, फिर भी इसे एक लोक जितना असंख्यात कहते हैं, तो केवलज्ञान का विषय अनंत कितना बड़ा होगा ! अहो, हम मात्र एक पैसे से शुरु करेंगे पहले दिन एक पैसा, दूसरे दिन २ पैसे, तीसरे दिन ४ पैसे इस क्रम से मान लेते हैं बत्तीसवें दिन हमें इकतीस बार दोगुणे इतने पैसे मिलेंगे । देखो दो बार दोगुणा करेंगे तो २ × २ = ४ आते हैं, चार बार दोगुणा करेंगे तो १६ आते हैं, आठ बार दोगुणा करेंगे तो २५६ आते हैं, सोलह बार दोगुणा करेंगे तो ६५५३६ आते हैं, बत्तीस बार दोगुणा करेंगे तो बादाल याने ४२९४९६७२९६ पैसे अर्थात् ४२९४९६७२.९६ रुपये मिलेंगे । इकतीस बार करेंगे तो इससे आधे अर्थात् २१४७४८३६.४८ रुपये मिलेंगे । वह तो इकतीसवें दिन की बात है, परंतु सब मिलकर ४२९४९६७२.९५ रुपये मिलेंगे । यहां तो एक लाख से शुरु करके असंख्यात (२५ कोडाकोडी उद्धारपल्य प्रमाण) बार दोगुणा-दोगुणा करना है ।

इन असंख्यात द्वीप समुद्रों में से मात्र ढ़ाई द्वीप तथा उसमें अंतर्भूत दो समुद्र मिलकर पैंतालीस लाख योजन प्रमाण व्यासवाला गोलाकार मनुष्यक्षेत्र है । बीच में जम्बूद्वीप एक लाख योजन, उसके बाहर दोनों ओर दो-दो लाख योजनवाला लवणसमुद्र, उसके बाहर दोनों ओर चार-चार लाख योजनवाला धातकीखण्ड द्वीप, उसके बाहर आठ-आठ लाख योजन विस्तारवाला कालोदधि समुद्र और उसके बाहर दोनों ओर आधा-आधा पुष्करद्वीप जो आठ-आठ लाख योजनवाला है । इसप्रकार १ + २ + २ + ४ + ४ + ८ + ८ + ८ + ८ = ४५ लाख योजन मनुष्यक्षेत्र है । मनुष्य इस क्षेत्र में ही पाये जाते हैं, इसके बाहर नहीं । देव भी मनुष्यों को उठाकर इसके बाहर नहीं ले जा सकते । हां, मात्र समुद्घात अवस्था में जीव के प्रदेश बाहर फैलेंगे उसकी बात यहां नहीं है ।

मनुष्यक्षेत्र की मर्यादा मानुषोत्तर पर्वत तक है जो पुष्करद्वीप के मध्य में स्थित है । मानुषोत्तर पर्वत से लेकर स्वयंप्रभ पर्वत के बीच में जो असंख्यात द्वीप हैं

वहां तिर्यंचों की जघन्य भोगभूमि है और बीच में जो असंख्यात समुद्र हैं उनमें कोई जलचर जीव नहीं पाये जाते । वहां मनुष्य नहीं जा सकते । देव तो सर्वत्र-सर्व असंख्यात द्वीप समुद्रों में जा सकते हैं ।

प्रश्न – तो फिर हमारे यहां क्यों नहीं आते ?

उत्तर – वे थोड़े ही पापी लोगों से मिलने आयेंगे ? जब यहां तीर्थंकर विराजमान रहते हैं तब वे आते हैं ।

प्रश्न – भोगभूमि को जघन्य क्यों कहा ?

उत्तर – तीन प्रकार की भोगभूमि होती है – उत्तम भोगभूमि, मध्यम भोगभूमि और जघन्य भोगभूमि । ढ़ाई द्वीप याने मनुष्यलोक में तो तीनों ही भोगभूमि होती हैं- कहां होती है वह हम बाद में देखेंगे । वहां तिर्यंच और मनुष्य दोनों रहते हैं । ढ़ाई द्वीप में भी सर्वत्र मनुष्य, तिर्यंच रहते हैं । मनुष्यलोक कहने से यहां मात्र मनुष्य रहते होंगे ऐसा नहीं है, यहां तिर्यंच भी रहते हैं, ज्योतिषी तथा व्यंतर देव भी रहते हैं । तिर्यंचों का रहने का ठिकाना तो सर्व लोक है ।

प्रश्न – क्या पशु-पक्षी सर्व लोक में रहते हैं ?

उत्तर – पशु-पक्षी तो पंचेन्द्रिय हैं वे कर्मभूमि तथा भोगभूमि में रहते हैं । विकलेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव मात्र कर्मभूमि में पाये जाते हैं । एकेन्द्रिय भी तो तिर्यंच ही हैं, वे तो पूरे लोक में सर्वत्र पाये जाते हैं । तिर्यंच तो पूरे लोक में रहते हैं ।

प्रश्न – वहां की आयु कितनी है ?

उत्तर – वहां की याने कहां की ? असंख्यात द्वीपों में जहां तिर्यंचों की जघन्य भोगभूमि है वहां की उत्कृष्ट आयु एक पल्य प्रमाण है और जघन्य आयु एक करोड पूर्व वर्ष अधिक एक समय है । कर्मभूमि के मनुष्य और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की उत्कृष्ट आयु एक करोड पूर्व होती है । पूर्व क्या है याद है ? सत्तर लाख छप्पन हजार करोड वर्ष का एक पूर्व होता है; ऐसे दो पूर्व, दस पूर्व, लाख पूर्व, एक करोड पूर्व । कर्मभूमि के मनुष्य, संज्ञी और असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच इन सभी की इतनी उत्कृष्ट

आयु हो सकती है । कर्मभूमि में जघन्य आयु पर्याप्त जीवों की एक अंतर्मुहूर्त और लब्धिअपर्याप्तों की क्षुद्रभव प्रमाण अर्थात् एक श्वास के अठारहवें भाग प्रमाण होती है ।

प्रश्न – स्वयंभूरमण समुद्र में सम्यग्दृष्टि हैं, तो कौनसे सम्यक्त्व सहित वे होंगे ? वहां उनको कौन उपदेश देता होगा ? वे वहां क्या खाते होंगे ?

उत्तर – वहां गर्भज जीवों में प्रथमोपशम सम्यक्त्व भी हो सकता है और क्षयोपशम (वेदक) सम्यक्त्व भी हो सकता है । सभी सम्मूर्च्छन पंचेन्द्रियों को वेदक सम्यक्त्व ही होता है क्योंकि उनमें प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता । देशनालब्धि की मुख्यता तो प्रथमोपशम सम्यक्त्व में होती है और उसमें भी पूर्वभव की देशना का निमित्त बन सकता है । जातिस्मरण भी एक कारण होता है । वेदक सम्यक्त्व तो सादि मिथ्यादृष्टि जीवों में होता है । आपने पूछा है कि क्या खाता होगा ? मछली तो नहीं खायेगा, समुद्र में भी वनस्पति तो होती है ना ? वहां भी उनके योग्य आहार लेगा ।

अब हम अन्य प्रश्नों को गौण करके भौगोलिक चर्चा आगे बढ़ाते हैं । यहां अब ढ़ाई द्वीप की रचना को समझेंगे उसके लिये देखिये चार्ट नं. ४ । यहां नीले रंग में दो समुद्र दिखाये हैं – लवणसमुद्र और कालोदक समुद्र । कालोदधि को कालोदक भी कहते हैं । लवणसमुद्र के बीच में अत्यंत छोटा गोल जम्बूद्वीप है तथा दो समुद्रों के बीच में धातकीखण्ड द्वीप है । कालोदक समुद्र के बाहर पूरा पुष्करवर द्वीप है जिसके बीचोंबीच में मानुषोत्तर पर्वत कंकणाकृति है । कालोदक समुद्र से मानुषोत्तर पर्वत तक अर्धपुष्कर द्वीप है जिसे पुष्करार्ध भी कहते हैं । उसके बाहर द्वीप में कोई रचना नहीं दिखायी है । यहां जम्बूद्वीप का आकार अत्यंत छोटा होने से उसमें भी कोई रचना दिखाने का अवसर नहीं रहा । उसकी विस्तार से चर्चा हम जम्बूद्वीप की रचना में करेंगे । यहां तो सही अनुपात में चित्र बनाये हैं ।

जम्बूद्वीप तो एक अखंड गोलाकार है । धातकीखण्ड द्वीप के दो भाग हुये हैं – पूर्व धातकी और पश्चिम धातकी तथा इन दो भागों को विभाजित करनेवाले पर्वतों के नाम है ईष्वाकार पर्वत । आप चार्ट में देखना – लवणसमुद्र की उत्तर में एक और दक्षिण में एक ईष्वाकार पर्वत हैं; जो कालोदक समुद्र तक फैले हुये हैं । उसीप्रकार पुष्करार्ध में भी दो ईष्वाकार पर्वत हैं; वे कालोदक समुद्र से मानुषोत्तर पर्वत तक फैले

हुये हैं; इनके कारण पूर्व पुष्करार्ध और पश्चिम पुष्करार्ध ऐसे दो विभाग हुये हैं ।

अब यहां क्रम से ऐसे विभाग हुये हैं – (१) जम्बूद्वीप, (२) पूर्व धातकी, (३) पश्चिम धातकी, (४) पूर्व पुष्करार्ध, (५) पश्चिम पुष्करार्ध । प्रत्येक के मध्य में एक-एक बिंदु और गोलाकार बताया है वे क्रम से पांच मेरु पर्वत हैं जिनके नाम उसी क्रम से इसप्रकार हैं – (१) सुदर्शनमेरु, (२) विजयमेरु, (३) अचलमेरु, (४) मन्दरमेरु, (५) विद्युन्मालीमेरु ।

प्रत्येक मेरु के पूर्व और पश्चिम में विदेहक्षेत्र हैं । प्रत्येक द्वीप के (या अर्धद्वीप के) दक्षिण में एक-एक भरतक्षेत्र और उत्तर में एक-एक ऐरावतक्षेत्र है । यहां चार्ट में दक्षिण की ओर पीले रंग में बताये हुये भरतक्षेत्र हैं – चार तो स्पष्ट दिखते हैं, जम्बूद्वीप का भरतक्षेत्र पीले बिंदु जैसा दिख रहा है – ये तो पांच भरतक्षेत्र हैं ऐसे ही पांच ऐरावतक्षेत्र उत्तर की ओर हैं जो यहां लाल रंग में दिखाये हैं ।

प्रत्येक मेरु संबंधी विदेहक्षेत्र, भरतक्षेत्र, ऐरावतक्षेत्र तथा अन्य भोगभूमियां एवं पर्वतादि की रचना कैसी है ये बातें हम जम्बूद्वीप की रचना देखकर निश्चित करेंगे और बाद में जम्बूद्वीप से अन्य द्वीपों संबंधी क्या अंतर है-क्या विशेषता है अर्थात् क्या डिफरन्स है वह बात देखेंगे ।

अब हमारा समय पूर्ण हुआ है, बाकी चर्चा बाद में करेंगे ।

बोलिये, विदेहक्षेत्र में विराजमान ग्यारहवें तीर्थंकर श्री वज्रधर भगवान की जय ।

१२. जम्बूद्वीप

श्रीमद् नेमिचन्द्र आचार्य रचित जो त्रिलोकसार है उसके आधार से तीन लोक की रचना का हम विचार कर रहे हैं । मध्यलोक में ढ़ाई द्वीप की रचना हम देख रहे थे । उनके नाम तथा सामान्य कथन हमने देखा, परंतु उन द्वीपों का विस्तार से वर्णन देखनेपर हमें सही अंदाजा आ जायेगा । सर्वप्रथम हम जम्बूद्वीप की रचना देखेंगे । इसे हम चार्ट नं. ५ के आधार से समझेंगे ।

जम्बूद्वीप एक लाख योजन व्यासवाला गोलाकार है यह बात हमने अनेक बार देखी है । इसमें छह पर्वत पूर्व से पश्चिम तक आड़े फैले हुये हैं, पूर्व की ओर भी लवणसमुद्र को स्पर्श करते हैं और पश्चिम की ओर भी लवणसमुद्र को स्पर्श करते हैं । इन पर्वतों को कुलाचल पर्वत कहते हैं । इस चार्ट में सबसे नीचे दक्षिण में जो पीला रंग दिख रहा है, उसके ऊपर पर्वत दिखाया है उसका नाम है हिमवान पर्वत । उसके ऊपर उत्तर की ओर क्षेत्र को छोड़कर जो दूसरा पर्वत है उसका नाम है महाहिमवान पर्वत । तीसरा पर्वत है निषध पर्वत । आपने एक बात समझी होगी कि इस चार्ट में सब पर्वत समान नहीं है, कोई छोटे हैं, कोई बड़े हैं, उनका चौड़ाईरूप विस्तार भी हीनाधिक है ।

एक लाख योजन व्यासवाले जम्बूद्वीप के दक्षिणोत्तर व्यास के हम एक सौ नब्बे भाग करेंगे तो उसमें एक भाग प्रमाण तो भरतक्षेत्र का बाण है । इसे पहले समझेंगे ।

जम्बूद्वीप गोलाकार होने से जब हम उसके आड़े भाग करेंगे तो सबसे दक्षिण की ओर भरतक्षेत्र ऐसा धनुषाकार दिखेगा । धनुष की जो प्रत्यंचा होती है जिसके मध्य में बाण पकड़कर हम उसे खींचकर छोड़ते हैं उस प्रत्यंचा को यहां हम भरतक्षेत्र की जीवा कहेंगे । मध्य में यह क्षेत्र अधिक चौड़ा है और गोलाकार होने से दोनों ओर चौड़ाई घटती जाती है । जहां चौड़ाई अधिक होगी उस मध्य भाग को भरतक्षेत्र का बाण या विष्कंभ कहते हैं जो एक लाख योजन के एक सौ नब्बेवें भाग प्रमाण है । इसको हम एक भाग प्रमाण कहेंगे ।

इसके नाप से सभी क्षेत्र और पर्वतों की चौड़ाई हम मध्य भाग में कितनी है वह देखते हैं । जहां भरतक्षेत्र को एक भाग प्रमाण कहा वहां हिमवान पर्वत की चौड़ाई – दक्षिणोत्तर विस्तार दो भाग प्रमाण है । यहां पूर्व-पश्चिम विस्तार की बात नहीं है । यहां एक क्षेत्र, एक पर्वत, एक क्षेत्र, एक पर्वत प्रत्येक एक से दूसरा दोगुणा विस्तारवाला होता है । हिमवान पर्वत से दोगुणा विस्तारवाला अर्थात् चार भाग प्रमाण हैमवतक्षेत्र है । उससे दोगुणा-आठ भाग प्रमाण महाहिमवान पर्वत है । उससे दोगुणा-सोलह भाग प्रमाण हरिक्षेत्र है । उससे दोगुणा-बत्तीस भाग प्रमाण निषध पर्वत है ।

उत्तर में भी ऐसी ही रचना है । ऐरावतक्षेत्र एक भाग प्रमाण है, शिखरी पर्वत दो भाग प्रमाण है , हैरण्यवत्क्षेत्र चार भाग प्रमाण है, रुक्मी पर्वत आठ भाग प्रमाण है, रम्यकक्षेत्र सोलह भाग प्रमाण है, नील पर्वत बत्तीस भाग प्रमाण है । इतने तीन पर्वत और तीन क्षेत्र तो दोनों ओर हैं, और बीच में निषध पर्वत से नील पर्वत तक चौंसठ भाग प्रमाण क्षेत्र है, जिसमें पूर्व और पश्चिम में विदेहक्षेत्र स्थित हैं । हम इनका जोड़ देते हैं । एक ओर १ + २ + ४ + ८ + १६ + ३२ = ६३ भाग हुये, दूसरी ओर भी ६३ भाग हुये तथा मध्य में ६४ भाग हुये । सब मिलकर ६३ + ६३ + ६४ = १९० भाग हुये । इसमें से एक भाग भरतक्षेत्र की चौड़ाई (मध्य में) होती है, इसको बाण या उत्सेध कहते हैं ।

हमने १००००० योजन के १९० भाग किये, उसमें से एक भाग का प्रमाण निकालने के लिये १००००० को १९० का भाग देंगे $\frac{१००००\cancel{०}}{१९\cancel{०}} = \frac{१००००}{१९}$

$= ५२६\frac{६}{१९}$ अर्थात् पांच सौ छब्बीस और छह बटे उन्नीस योजन यह भरतक्षेत्र के बाण का प्रमाण है । भरतक्षेत्र का धनुष जैसा आकार देखा ना हमने ? अभी जीवा का प्रमाण नहीं बताया है ।

हमारे पांच नंबर के चार्ट में जम्बूद्वीप के गोल का ऊपर से नीचे तक का जो व्यास है उस व्यास के हम १९० भाग बता रहे हैं । उस लाईन पर भरतक्षेत्र

५२६ $\frac{६}{१९}$ योजन प्रमाण है, उससे दोगुणा हिमवान पर्वत है, उससे दोगुणा-दोगुणा आगे के क्षेत्र तथा पर्वत हैं । जितना भरतक्षेत्र का बाण है-विस्तार है उतना ही ऐरावत क्षेत्र का है, जितना हिमवान पर्वत का विस्तार है उतना ही शिखरी पर्वत का है, जितना हैमवतक्षेत्र है उतना ही हैरण्यवतक्षेत्र है, जितना महाहिमवान पर्वत है उतना ही रुक्मी पर्वत है, जितना हरिक्षेत्र है उतना ही रम्यकक्षेत्र है, जितना निषध पर्वत है उतना ही नील पर्वत है । इन दो पर्वतों के बीच में पर्वतों से दोगुणा एक क्षेत्र है जिसमें विदेहक्षेत्र तथा अन्य रचनायें हैं ।

हम इसे निम्न चार्ट द्वारा समझेंगे ।

पर्वत		हिमवान		महाहिमवान		निषध		नील		रुक्मी		शिखरी	
भागप्रमाण	१	२	४	८	१६	३२	६४	३२	१६	८	४	२	१
क्षेत्र	भरत		हैमवत		हरि		विदेह		रम्यक		हैरण्यवत		ऐरावत

दक्षिणोत्तर व्यास पर हमने इसप्रकार विभाजन देखा । यदि पूर्व-पश्चिम व्यास पर देखना है तो मध्य में १०००० योजन का सुदर्शन मेरु पर्वत है, उसके दोनों ओर भद्रशाल वन २२००० योजन के हैं तथा दोनों ओर विदेहक्षेत्र का विस्तार २३००० योजन का है । इसतरह १०००० + २२००० + २२००० + २३००० + २३००० मिलकर १००००० योजन व्यास होता है ।

यहाँ से मरकर विदेहक्षेत्र में जन्म लेना चाहते हो ना ? कौन-कौन चाहता है ? हां, बहुत सारे हैं । तो विदेह कहां है यह सारा जान लो । परंतु एक बात ठीक तरह से जान लो यहां से-इस कर्मभूमि से जो विदेहक्षेत्र में जन्म लेना चाहता है उसे मिथ्यात्व अवस्था में वहां जाना पडेगा, क्योंकि सम्यक्त्व होनेपर तो देवायु का बंध करके जीव स्वर्ग में जाता है । आप कहेंगे कि पहले मनुष्यायु बांधकर बाद में सम्यक्त्व प्राप्त करे तो जा सकते हैं ना ? ऐसे जीव भोगभूमि के मनुष्य होते हैं और वह भी क्षायिक सम्यक्त्व हो तो ही, अन्यथा वहां भी मिथ्यात्व के साथ जाना पडेगा ।

विदेहक्षेत्र में क्यों जाना चाहते हैं ? मोक्षमार्ग प्रकट करने के लिये पर्याप्त उपदेश एवं सभी सामग्री यहां उपलब्ध है । कहीं जन्म लेकर मेरा भला होगा यह मान्यता तो निमित्ताधीन मान्यता है । एक भव की वांछा में अनंत भवों की वांछा-इच्छा का अभिप्राय पड़ा हुआ है । मनुष्यभव प्राप्त करने के लिये हमें कुछ नहीं करना है, हम मनुष्य पर्याय में हैं, यहां अपने को पहचानने का, सम्यग्दर्शन का कार्य शीघ्र करना है ।

अभी-अभी लेक्चर के दो मिनट पहले एक भाई आकर पूछने लगे कि यह सब त्रिलोकरचना जानने की क्या आवश्यकता है यह आप पहले समझा दीजिये । यह बारहवां व्याख्यान है, यह बात मैंने पहले दिन पहले ही व्याख्यान में आधे घण्टे तक बहुत अच्छे से समझायी थी । एक तो ये भाईसाहब शुरु से आये नहीं है और अब वही बात एक-एक को समझाने में यहां बैठे हुये ३५०-४०० लोगों का वक्त बरबाद होगा और हमारा विषय जो मैं बीस घण्टों में बताना चाहती हूँ वह तो अधूरा रह जायेगा । क्या हमारे मुनिराजों को पता नहीं था कि आत्मा में स्थिर रहना चाहिये ? क्यों उन्होंने इतने ग्रंथों की रचना की ? नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती षट्खण्डागम के ज्ञाता उन्होंने गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार, द्रव्यसंग्रह आदि महान ग्रंथों की रचना की । क्या टाईम पास करने के लिये लिखे होंगे ? पं. टोडरमलजी ने भी सोचा होगा कि करणानुयोग को नहीं पढ़ना और मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ना ? तो मोक्षमार्ग प्रकाशक लिखने के पहले उपरोक्त ग्रंथों की टीकायें उन्होंने क्यों लिखी ? गणित के संदृष्टि अधिकार क्यों लिखे ? जन-जन समझे इसलिए सरल करके क्यों समझाये ?

मुझे मोक्षमार्ग प्रकट करना है तो व्यापार-धंदा क्यों करूं ? अख़बार क्यों पढ़ूं ? टी.व्ही. क्यों देखूं ? ऐसे प्रश्न तो किसी के मन में नहीं उठते । जब करणानुयोग की बात आती है तभी यह प्रश्न उठता है । इन सब जीवों की मान्यता का पं. टोडरमलजी ने सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका की पीठिका में तथा इस त्रिलोकसार की भूमिका में भी खूब अच्छी तरह से खंडन किया है । आप उसे अवश्य पढ़ना ।

अपना विषय जम्बूद्वीप का चल रहा था । उसमें पूर्व से पश्चिम तक फैले हुये

ये छह कुलाचल पर्वत हमने देखे – मेरु के दक्षिण में तीन और उत्तर में तीन । इनके कारण जम्बूद्वीप में सात क्षेत्र हुये हैं । क्षेत्र को वर्ष भी कहते हैं और जिन पर्वतों के कारण ये वर्ष याने क्षेत्र विभाजित हुये हैं उन कुलाचल पर्वतों को वर्षधर पर्वत भी कहते हैं ।

दक्षिण से उत्तर तक देखते हुये पहला भरतक्षेत्र और सातवां ऐरावत क्षेत्र है जहां (आर्यखण्डों में) अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी रूप छह-छह कालों का चक्र चलता रहता है; दूसरे हैमवत और छठवें हैरण्यवत क्षेत्र में हमेशा ही जघन्य भोगभूमि पायी जाती है । तीसरे हरिक्षेत्र और पांचवें रम्यकक्षेत्र में हमेशा ही मध्यम भोगभूमि पायी जाती है । चौथे क्षेत्र में मध्य में सुमेरु पर्वत है, उसके चारों ओर भद्रशाल वन है, वन के दक्षिण में देवकुरु और उत्तर की तरफ वन के उत्तर में उत्तरकुरु नामक जो क्षेत्र है वहां हमेशा ही उत्तम भोगभूमि पायी जाती है । उसी चौथे क्षेत्र में भद्रशाल वन के पूर्व में तथा पश्चिम में विदेहक्षेत्र है । विदेहक्षेत्र में नदियों और पर्वतों के कारण अलग-अलग क्षेत्र बने हैं । चार्ट में देखना – पूर्व विदेह में नीले रंग में सीता नदी दिखायी है उसके कारण दक्षिण और उत्तर ऐसे दो विभाग हुये हैं । यहां जो नंबर लिखे हैं उसे देखना – पूर्व विदेह के उत्तर में १ से ८, दक्षिण में ९ से १६, पश्चिम विदेह के दक्षिण में १७ से २४ और उत्तर में २५ से ३२ इसतरह एक मेरु संबंधी बत्तीस विदेहक्षेत्र होते हैं ।

यहां भरत-ऐरावत क्षेत्र में अवसर्पिणी के पहले काल को हम पहला काल कहेंगे वैसे उसका नाम है सुषमासुषमा, दूसरा काल है सुषमा, तीसरा सुषमादुषमा, चौथा दुषमासुषमा, पांचवां दुषमा और छठवां दुषमादुषमा । सुषमा को सुखमा और दुषमा को दुखमा भी कहते हैं । भरत और ऐरावत क्षेत्र में मात्र आर्यखण्ड में ही इन छह कालों का परिवर्तन होता है । छठवें काल के बाद उलटे क्रम से उत्सर्पिणी काल होता है ।

पहले काल में यहां भरतक्षेत्र में उत्तम भोगभूमि होती है और कुरुक्षेत्र में हमेशा ही उत्तम भोगभूमि होती है । दूसरे काल में यहां भरतक्षेत्र में हमने मध्यम भोगभूमि देखी तथा हरिक्षेत्र और रम्यकक्षेत्र में हमेशा ही मध्यम भोगभूमि होती है । तीसरे काल

में यहां भरतक्षेत्र में जघन्य भोगभूमि होती है तथा हैमवतक्षेत्र और हैरण्यवतक्षेत्र में हमेशा ही जघन्य भोगभूमि होती है । भरत-ऐरावत में चौथे काल से कर्मभूमि शुरु होती है परंतु विदेहक्षेत्र में हमेशा ही चौथा काल और कर्मभूमि रहती है । भरतक्षेत्र से चौथे काल में और विदेहक्षेत्र से हमेशा ही जीव मोक्ष जाते हैं, यहां तीर्थंकर होते हैं । भोगभूमि के जीव तो मरकर देवगति में ही जाते हैं – सभी मिथ्यादृष्टि मरकर भवनत्रिक में जन्म लेते हैं और सम्यग्दृष्टि मरकर सौधर्म ईशान में जन्म लेते हैं । परंतु चौथे काल के जीव मरकर चारों गतियों में जन्म ले सकते हैं या पुरुषार्थ कर मोक्ष भी जा सकते हैं ।

चार्ट में यहां मध्य में १०००० योजन व्यासवाला मेरु पर्वत का भूमिपर विस्तार है – मूल में वह इतना चौड़ा है । उसके चारों ओर हाथी के दांत के आकार के ये चार गजदन्त पर्वत हैं । इन पर्वतों पर अकृत्रिम चैत्यालय हैं । हम जब इन्द्रध्वज विधान करते हैं तब इन सभी चैत्यालयों के नाम लेकर अर्घ्य देते आये हैं । परंतु पूजन में हमारा ध्यान कहां रहता है ? कौनसे चावल लिये ? बादाम लिया कि गोला लिया ? परंतु इसका ध्यान नहीं रखते कि जिसे अर्घ्य चढ़ा रहे हैं वह कहां पर विद्यमान है ।

ये गजदन्त पर्वत इस दीवार जैसी लाईन तक (चार्ट में देखना) फैले हैं । इसे भद्रशाल वनवेदी कहते हैं । मेरु पर्वत की चहूं ओर भद्रशालवन है उन्हें छोड़कर गजदन्तों के दक्षिण की ओर देवकुरु और उत्तर की ओर उत्तरकुरु नामक उत्तम भोगभूमि के क्षेत्र हैं ।

इनमें ये जो गोल दिखाये हैं – उत्तर में है वह जम्बूवृक्ष है और दक्षिण में शाल्मली वृक्ष है । वृक्ष कहने से ये वनस्पतिकायिक नहीं है परंतु ये तो रत्नमयी वृक्षाकार रचनायें हैं और केवल एक ही वृक्ष नहीं है परंतु इनका बहुत बड़ा परिवार है । इन वृक्षों पर अनेक अकृत्रिम जिनप्रतिमायें होती हैं ।

मध्य में १०००० योजन का मेरु पर्वत है उसके आगे २२००० योजन जाकर भद्रशाल वनवेदी है, वहां तक भद्रशालवन तथा गजदन्त पर्वत फैले हुये हैं । उसके आगे विदेहक्षेत्र है । इस पूर्व विदेहक्षेत्र के पूर्व में यह देवारण्यवेदी है । इस देवारण्यवेदी

और लवणसमुद्र के बीच में देवारण्यवन है । ऐसे ही पश्चिम विदेह के पश्चिम में भूतारण्यवेदी और भूतारण्यवन है । किसी-किसी शास्त्र में दोनों ही ओर देवारण्यवन नाम बताया है ।

यहां जम्बूद्वीप की परिधि पर जम्बूद्वीप और लवणसमुद्र के बीच दीवार या तट जैसी रचना है उसे जगती कहते हैं । जम्बूद्वीप की नदियां जहां लवणसमुद्र में मिलती हैं वहां उस जगती में द्वार तथा तोरण होते हैं और पूर्वादि चार दिशाओं में भी जगती में द्वार तथा तोरण होते हैं ।

विदेहक्षेत्र की तथा भरतक्षेत्र की विस्तार के साथ रचना हम बाद में देखेंगे । अब जम्बूद्वीप की अन्य कुछ विशेषताओं को देखेंगे । हमने जो छह कुलाचल पर्वत देखे हैं उस प्रत्येक के ऊपर एक-एक सरोवर पाया जाता है, इसीको ऱ्हद हा द्रह भी कहते हैं । हिमवान पर्वत के ऊपर जो सरोवर है उसका नाम है पद्म सरोवर; महाहिमवान पर्वत पर महापद्म सरोवर है; निषध पर्वत पर तिगिंछ सरोवर है; दूसरी ओर से देखेंगे तो शिखरी पर्वत पर पुंडरीक सरोवर है; रुक्मी पर्वत पर महापुंडरीक सरोवर है; नील पर्वत पर केसरी सरोवर है ।

पद्म सरोवर से महापद्म सरोवर दोगुणा विस्तारवाला है और महापद्म सरोवर से तिगिंछ सरोवर दोगुणा विस्तारवाला है । पद्म सरोवर जितना पुंडरीक सरोवर है और उससे दोगुणा महापुंडरीक सरोवर है, उससे दोगुणा केसरी सरोवर है । पद्म सरोवर पांच सौ योजन चौड़ा, एक हजार योजन लम्बा है और दस योजन गहरा है ।

पद्म सरोवर से तथा पुंडरीक सरोवर से तीन-तीन नदियां निकलती हैं, बीचवाले सरोवरों में से दो-दो नदियां निकलती हैं – एक दक्षिण की तरफ से और एक उत्तर की तरफ से । जम्बूद्वीप की ये चौदह महानदियां लवणसमुद्र में मिलती हैं । सात क्षेत्रों में प्रत्येक में दो-दो नदियां बहती हैं – पहला जिसका नाम लेते हैं वह नदी पूर्व की ओर बहकर लवणसमुद्र में जा मिलती है तथा अन्य नदी पश्चिम की ओर बहकर लवणसमुद्र में मिलती है ।

पद्म सरोवर से तीन नदियां निकलती हैं – पूर्व तट से गंगा, पश्चिम तट से सिंधु, दोनों ही दक्षिण में भरतक्षेत्र में जाती हैं । वहां गंगा पूर्व में और सिंधु पश्चिम में मुड़कर

लवणसमुद्र में जा मिलती हैं । तथा उत्तर तट से रोहितास्या नदी निकलती है जो उत्तर में हैमवत क्षेत्र में बहती है और नाभिगिरी अर्थात् हैमवत क्षेत्र के मध्य के पर्वत को चौथाई भाग में प्रदक्षिणा देकर पश्चिम दिशा में बहती जाती है और पश्चिम में लवणसमुद्र में जा मिलती है । (चार्ट नं. ५ देखना)

महापद्म सरोवर के दक्षिण तट से रोहित नदी दक्षिण दिशा में हैमवत क्षेत्र में बहती है, नाभिगिरी को चौथाई भाग प्रमाण प्रदक्षिणा देकर पूर्व में बहती है और पूर्व दिशा में लवणसमुद्र में मिलती है । महापद्म सरोवर के उत्तर तट से हरिकान्ता नदी उत्तर दिशा में हरिक्षेत्र में बहती है, वहां के नाभिगिरी को वैसी ही प्रदक्षिणा देकर पश्चिम दिशा में बहती है और लवणसमुद्र में जा मिलती है ।

तिगिंछ सरोवर के दक्षिण तट से निकलकर दक्षिण में हरिक्षेत्र में बहनेवाली हरित नदी है जो वहां के नाभिगिरी को प्रदक्षिणा देकर पूर्व में बहती है और लवणसमुद्र में जा मिलती है । तिगिंछ के उत्तर तट से निकलकर सीतोदा नदी उत्तर में देवकुरु क्षेत्र में बहती है और सुदर्शन पर्वत को चौथाई भाग प्रमाण प्रदक्षिणा देते हुये गजदन्त पर्वत के नीचे गुफा में प्रवेश कर अंदर से बहती हुयी दूसरी ओर गुफा में से निकलकर मेरु की चौथाई भाग प्रमाण प्रदक्षिणा के पश्चात् पश्चिम दिशा में विदेहक्षेत्र में से बहती है और लवणसमुद्र में जा मिलती है ।

केसरी सरोवर के दक्षिण तट से सीता नदी दक्षिण दिशा में उत्तरकुरु क्षेत्र में बहती हुयी सुमेरु पर्वत तक आती है और मेरु पर्वत की चौथाई भाग प्रमाण प्रदक्षिणा करते हुये गजदन्त पर्वत के नीचे गुफा में से बहती हुयी बाहर निकलकर मेरु की प्रदक्षिणा के पश्चात् पूर्व दिशा में बहती है और लवणसमुद्र में जा मिलती है । केसरी सरोवर के उत्तर तट से नरकान्ता नदी उत्तर दिशा में रम्यक क्षेत्र में बहती हुयी वहां के नाभिगिरी की प्रदक्षिणा करते हुये पश्चिम में मुड़कर पश्चिम में बहती है और लवणसमुद्र में मिलती है ।

महापुंडरीक सरोवर के दक्षिण तट से नारी नदी निकलकर दक्षिण दिशा में रम्यक क्षेत्र में बहती है और वहां के नाभिगिरी की प्रदक्षिणा करते हुये पूर्व दिशा में बहती है और लवणसमुद्र में जा मिलती है । महापुंडरीक सरोवर के उत्तर तट से रुप्यकुला

नदी निकलकर उत्तर दिशा में हैरण्यवत क्षेत्र में बहती हुयी वहां के नाभिगिरी की प्रदक्षिणा करके पश्चिम दिशा में बहती है और लवणसमुद्र में जा मिलती है ।

पुंडरीक सरोवर से तीन नदियां निकलती हैं । उसके दक्षिण तट से सुवर्णकुला नदी दक्षिण दिशा में हैरण्यवत क्षेत्र में बहती हुयी वहां के नाभिगिरी की प्रदक्षिणा करके पूर्व दिशा में बहती है और लवणसमुद्र में जा मिलती है । इसके पूर्व तट से रक्ता नदी और पश्चिम तट से रक्तोदा नदी निकलकर ऐरावत क्षेत्र में बहती हुयी क्रम से पूर्व और पश्चिम दिशाओं में मुड़कर लवणसमुद्र में जा मिलती हैं ।

भरतक्षेत्र और ऐरावतक्षेत्र को छोड़कर अन्य पांचों ही क्षेत्रों में मध्य में नाभिगिरी हैं और उसे प्रदक्षिणा देकर दक्षिण से आयी हुयी नदी पश्चिम में और उत्तर से आयी हुयी नदी पूर्व में बहती है, इसकारण नदी के उत्तर में और दक्षिण में ऐसे क्षेत्र के दो-दो विभाग हो जाते हैं । यहां चार्ट में आप विदेहक्षेत्र देखना । मेरु के पूर्व में और पश्चिम में क्रम से पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह है । पूर्व विदेह में सीता नदी के कारण उत्तर और दक्षिण ऐसे दो विभाग होते हैं उसीतरह पश्चिम विदेह में सीतोदा नदी के कारण उत्तर और दक्षिण ऐसे दो विभाग होते हैं ।

पूर्व विदेह के उत्तर और दक्षिण भाग में भी आठ अलग-अलग क्षेत्र विभाजित हुये हैं उसका वर्णन हम विदेहक्षेत्र की चर्चा करते समय करेंगे ।

यहां इस पांच नंबर के चार्ट में जम्बूद्वीप में जो छह कुलाचल पर्वत हैं उनके नाम बायें तरफ लिखे हैं उसीके आगे ब्रैकेट में उन पर्वतों पर पाये जानेवाले द्रह याने सरोवरों के नाम लिखे हैं । उसी चार्ट में दायें तरफ क्षेत्रों के नाम लिखे हैं और ब्रैकेट में उन क्षेत्रों में पायी जानेवाली दो-दो नदियों के नाम लिखे हैं । पहले नामवाली नदियां पूर्व दिशा में बहती हैं और दूसरे नामवाली नदियां पश्चिम दिशा में बहती हैं ।

अब इन पर्वतों की ऊंचाई और उसके अनुपात में द्रहों की चौड़ाई, लम्बाई, ऊंडाई देखेंगे । इन द्रहों में पृथ्वीकायिक कमल की रचना होती है उसकी भी ऊंचाई-चौड़ाई देखेंगे । पर्वत की ऊंचाई से द्रह की चौड़ाई पांचगुणा, लम्बाई दसगुणा, ऊंडाई दसवें भाग प्रमाण और कमल की ऊंचाई-चौड़ाई द्रह के ऊंडाई के दसवें भाग प्रमाण होती है ।

इसे निम्न प्रकार देखते हैं –

पर्वत	हिमवान	महाहिमवान	निषध	नील	रुक्मी	शिखरी
पर्वत के वर्ण	सुवर्ण समान	चांदि के समान	तप्त सोने के समान	वैडूर्यमणि के समान	चांदि के समान	सोने के समान
पर्वतों की ऊंचाई	१०० यो.	२०० यो.	४०० यो.	४०० यो.	२०० यो.	१०० यो.
द्रह	पद्म	महापद्म	तिगिंछ	केसरी	महापुंडरीक	पुंडरीक
द्रह की चौड़ाई	५०० यो.	१००० यो.	२००० यो.	२००० यो.	१००० यो.	५०० यो.
द्रह की लम्बाई	१००० यो.	२००० यो.	४००० यो.	४००० यो.	२००० यो.	१००० यो.
द्रह की ऊंड़ाई	१० यो.	२० यो.	४० यो.	४० यो.	२० यो.	१० यो.
कमल की ऊंचाई-चौड़ाई	१ यो.	२ यो.	४ यो.	४ यो.	२ यो.	१ यो.
वहां की देवी	श्री	ह्री	धृति	कीर्ति	बुद्धि	लक्ष्मी

ये कमल अत्यंत सुगंधित होते हैं, इनके सुगंध द्वारा दशों दिशायें सुगंधित होती हैं । वैडूर्यमणि (नीलमणि) से निर्मापित इनकी ऊंची नाली होती है । इसके ग्यारह हजार पत्र होते हैं । कमल एक योजन का है, वहां वह जल से आधा योजन ऊपर विकसित कमल के फूल समान होता है परंतु वह वनस्पतिकायिक नहीं है, पृथ्वीकायिक-रत्नमयी है । उसका मृणाल (केसर) तीन कोस मोटा रुप्यमय श्वेतवर्ण का है । एक कोस उदय-व्यास वाली उसकी कर्णिका होती है । उसके ऊपर श्रीदेवी का मंदिर एक कोस लम्बा, आधा कोस चौड़ा और पौना कोस ऊंचा होता है । उस द्रह में कमल के परिवाररूप एक लाख चालीस हजार एक सौ पंद्रह अन्य कमल होते हैं । उन कमलों पर देवियों का परिवार अर्थात् पारिषद, अनीक, सामानिक, अंगरक्षक आदि देवों के मंदिर हैं । श्री, ह्री, धृति ये सौधर्म इन्द्र की देवी हैं और कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी ये ईशान इन्द्र की देवी हैं ।

हमने जम्बूद्वीप की रचना विस्तार से देखी, ऐसी ही रचना पूर्व धातकीद्वीप तथा पश्चिम धातकीद्वीप में पायी जाती है और ऐसी ही रचना पूर्व पुष्करार्ध और पश्चिम पुष्करार्ध में होती है । उनमें प्रत्येक में मध्य में एक-एक मेरु पर्वत होता है, छह-छह कुलाचल पर्वत होते हैं और सात-सात क्षेत्र होते हैं । परंतु विशेषता यह है कि जम्बूद्वीप के कुलाचल पूर्व से पश्चिम तक आड़े फैले हुये हैं और इन अन्य द्वीपों के कुलाचल साइकल के आरे की तरह हैं । धातकीखण्ड के कुलाचल अंदर की ओर लवणसमुद्र

को स्पर्श करते हैं तो बाहर की ओर कालोदकसमुद्र को स्पर्श करते हैं । पुष्करार्ध के कुलाचल अंदर की ओर कालोदकसमुद्र को स्पर्श करते हैं तो बाहर की ओर मानुषोत्तर पर्वत को स्पर्श करते हैं । यहां चार नंबर के चार्ट में देखना । उनमें ये पर्वत, उनके ऊपर के द्रह तथा उनमें से निकलनेवाली नदियां बतायी हैं । ये सभी पर्वत नीचे से ऊपर तक समान चौड़ाईवाले होते हैं । उनके पार्श्वभाग याने साईडस् विविध मणियों से-रत्नों से युक्त हैं ।

यहां के कुलाचलों, द्रहों, नदियों के नाम तो वे ही हैं जो जम्बूद्वीप में देखे थे । परंतु मेरु के नाम अलग हैं । पूर्व धातकीखण्ड में विजयमेरु है, पश्चिम धातकीखण्ड में अचलमेरु है, पूर्व पुष्करार्ध में मन्दरमेरु है, पश्चिम पुष्करार्ध में विद्युन्मालीमेरु है । यहां के भरत, ऐरावत, विदेह क्षेत्र अंदर की ओर अल्प विस्तारवाले हैं और बाहर की ओर अधिक चौड़े विस्तारवाले हैं । चार्ट में देखनेपर आपके समझ में आयेगा । धातकीखण्ड में दक्षिण की ओर जो दो पीले क्षेत्र बताये हैं वे दो धातकीखण्डों के दो भरतक्षेत्र हैं जिनके बीच में ईष्वाकार पर्वत है । इसीतरह दो पुष्करार्धों के दो भरतक्षेत्र हैं । इसीतरह उत्तर दिशा में उनके दो-दो ऐरावत क्षेत्र हैं । उनके मेरु के पूर्व और पश्चिम में वहां के विदेहक्षेत्र हैं ।

इसतरह हमने ढ़ाई द्वीप में-कर्मभूमि में ५ × ३२ = १६० विदेहक्षेत्र, ५ भरतक्षेत्र और ५ ऐरावतक्षेत्र देखे । तथा प्रत्येक मेरु संबंधी छह-छह भोगभूमि ऐसी कुल तीस भोगभूमि देखी ।

बोलिये, विदेहक्षेत्र में विराजमान बारहवें तीर्थंकर श्री चन्द्रानन भगवान की जय ।

१३. भरतक्षेत्र

त्रिलोकसार के आधार से हम यहां तीन लोक का स्वरूप देख रहे हैं ।

तिर्यक्लोक अर्थात् मध्यलोक का स्वरूप देखते हुये हमने ढ़ाई द्वीप की रचना विस्तार से देखी । जम्बूद्वीप के क्षेत्र, पर्वत, नदियों की भी चर्चा की । अब भरतक्षेत्र की चर्चा करेंगे । जम्बूद्वीप के एक लाख योजन प्रमाण दक्षिणोत्तर व्यास के एक सौ नब्बे भाग करनेपर एक भाग प्रमाण भरतक्षेत्र का बाण अर्थात् विष्कंभ होता है यह बात हमने पहले देखी थी । उसका प्रमाण $५२६\frac{६}{१९}$ योजन है । उस भरतक्षेत्र की जिव्हा $१४७७१\frac{५}{२१}$ योजन है । उसका आकार ऐसा आड़ा फैला हुआ है परंतु शास्त्रों में उसे समझाने के लिये बड़ा करके अर्धगोलाकार करके समझाया है । आप यहां छह नंबर का चार्ट देखिये । ऊपर हिमवान पर्वत, पद्म सरोवर तथा उसमें से निकलने वाली गंगा, सिंधु नदियां बतायी हैं उसके नीचे यहां पीला आड़ा क्षेत्र भरतक्षेत्र है; परंतु उन्हीं पर्वत और क्षेत्र को नीचे ऐसा अर्ध गोलाकार करके समझाया है क्योंकि उसमें जो नदियां पर्वत हैं, छह खण्ड हैं, उन्हें ठीक तरह से दिखा सके ।

सर्वप्रथम हम गंगा नदी की उत्पत्ति एवं उसका गमन देखते हैं । हिमवान पर्वत पर दक्षिणोत्तर ५०० योजन चौड़ाईवाला और पूर्व-पश्चिम १००० योजन लम्बाईवाला पद्म द्रह है । उसके पूर्व दिशा में वज्रद्वार में से गंगा नदी निकलती है और हिमवान पर्वत के ऊपर पूर्व दिशा में ५०० योजन तक बहती है । हिमवान पर्वत पर गंगा नाम का कूट है उसके आधा योजन पहले ही गंगा नदी दक्षिण दिशा की तरफ मुड़कर हिमवान पर्वत के दक्षिण तट तक बहती चली जाती है । वहां पर्वत के तट में जिव्हिका अर्थात् प्रणाली है जो अनेक प्रकार के मणिमय है । यह दो कोस लम्बी और दो कोस ऊंची है और वृषभाकार अर्थात् गोमुखाकार है, सव्वा छह योजन चौड़ी है । इस प्रणालिका के मुख, कान, जीभ, नेत्र इनका आकार तो सिंह के समान है और भोंह, मस्तक आदि का आकार गाय के समान है ।

यहां हिमवान पर्वत को छोड़कर पच्चीस योजन आगे जाकर गंगा नदी दस योजन चौड़ी होकर नीचे गिरती है । कहां गिरती है वह कहते हैं – हिमवान पर्वत के मूल में दस योजन ऊंडा, साठ योजन चौड़ा गोल कुंड है । उस कुंड के मध्य में जल से आधा योजन ऊंचा और आठ योजन चौड़ा गोल द्वीप है । उस द्वीप के मध्य में दस योजन ऊंचा वज्रमय पर्वत है । वह पर्वत नीचे चार योजन, मध्य में दो योजन और ऊपर एक योजन चौड़ा है । उस पर्वत के ऊपर श्रीदेवी का मंदिर है, जो नीचे ३००० धनुष, मध्य में २००० धनुष और ऊपर १००० धनुष चौड़ा है । उसमें श्रीदेवी का महल है । उस श्रीदेवी के मंदिर के ऊपर कमल है, उसकी कर्णिका पर सिंहासन है । वहां जिनबिम्ब विराजमान है । उसके ऊपर गंगा नदी पर्वत से गिरती है । मानो जिनबिम्ब का अभिषेक करती है । इस जिनबिम्ब को जटायुक्त कहा है । अन्यमती कहते हैं, शंकर की जटा से गंगावतरण हुआ है ।

जहां-जहां नदियां पर्वत से गिरती हैं वहां-वहां ऐसी ही कुंड, द्वीप, देवी के मंदिर, जिनबिम्ब की रचना है ।

गंगाकुंड से निकलकर गंगा नदी दक्षिण दिशा में सीधी जाकर विजयार्ध पर्वत की खंडप्रपात नामक गुफा में प्रवेश करती है । अभी तक हमने विजयार्ध पर्वत की बात नहीं की थी । भरतक्षेत्र के मध्य में पूर्व से पश्चिम तक आड़ा फैला हुआ विजयार्ध पर्वत है । ऐसे ही पर्वत सभी भरत, ऐरावत, विदेहक्षेत्रों में पाये जाते हैं, सभी को विजयार्ध पर्वत ही कहते हैं ।

इस पर्वत की चौड़ाई पचास योजन है, उतनी ही उस गुफा की लम्बाई है । गुफा की ऊंचाई आठ योजन और चौड़ाई बारह योजन है । गुफा के उत्तर तथा दक्षिण द्वार में छह-छह योजन चौड़े दो वज्रमय कपाट हैं ।

गुफा के पूर्व और पश्चिम दीवार के निकट दो कुंड हैं । उनमें से उन्मग्ना और निमग्ना अर्थात् उन्मग्नजला और निमग्नजला नामक दो नदियां निकलती हैं, जो दो योजन चौड़ी हैं और सीधी चलकर गंगा नदी में जा मिलती हैं । अपने जलप्रवाह में गिरे हुये भारी द्रव्य को भी जो बाहर निकालती है, डूबने नहीं देती, अंदर प्रवेश नहीं करने देती उसे उन्मग्ना कहते हैं और अपने जलप्रवाह में गिरे हुये हलके भी द्रव्य को

जो डूबावें-नीचे प्राप्त करावे उसे निमग्ना कहते हैं ।

परसों के दिन ही यह बात गुरुदेव के प्रवचन में आयी थी । अपने छह घण्टों के स्वाध्याय के अतिरिक्त गुरुदेव का भी एक घण्टे का टेप प्रवचन चलता है ना ! उसमें गुरुदेव ने इन दो नामों का उल्लेख किया था । ऐसी करणानुयोग की कितनी ही बातें गुरुदेव सहजरूप से अपने प्रवचनों में बताते थे । एक-एक चन्द्र के परिवार में कितने तारे हैं, लवणसमुद्र में कैसे पाताल हैं, आत्मा के प्रदेशों के कम्पनरूप योग किस कर्म के उदय में होता है आदि अनेक बातें हमने उनके प्रवचनों में सुनी है, पढ़ी है । गुरुदेव के प्रवचन जितने भी छप चुके हैं, उनका तो हमारे यहां आद्योपांत स्वाध्याय हो चुका है और सभी में करणानुयोग के जो कोई उद्धरण गुरुदेव ने बतायें हैं, उन्हें हमने लिख के रखा है । वे जयधवला और धवला के रेफरन्सेस भी अनेक बार देते थे । उसके लिये उन्हें ढूंढ़ना नहीं पड़ता था, सब कुछ याद था । परंतु आज कल जब हम करणानुयोग का स्वाध्याय करते हैं, कहीं पर कक्षा लेते हैं तो कुछ लोगों को ॲलर्जी होती है । आपको नहीं पता ? सुनो –

यहां देवलाली में प्रशिक्षण शिबिर में मैंने पंचलब्धि की कक्षा ली थी । एक बहन ने आकर पूछा 'आपने गुरुदेव को कभी सुना था ?' मैंने कहा, 'हां, हम इतने भाग्यशाली रहे कि मुंबई में तो हमने अनेकों बार गुरुदेव के प्रवचन सुने ही थे, हम सोनगढ़ जाकर भी महिने भर तक रहे थे, वहां भी हमने प्रवचन सुने थे । भोपाल, बेंगलोर, बडोदा के पंचकल्याणक में भी ८-८ दिन तक उनके प्रवचनों का लाभ मिला था ।' उस बहन ने अपना प्रश्न दोहराया, 'क्या आपने सचमुच गुरुदेव को सुना ?' मैंने सोचा इस प्रश्न में जरूर कोई गहराई है ।

मैंने कहा, 'हम तो महाभाग्यशाली रहे । उन्हीं से तो हमने सब कुछ पाया है । हम तो दिगंबर में पैदा हुये हैं, ये ग्रंथ तो हमारे घरों में थे उन्हीं के उपकार से हमने तत्त्व समझा ।' फिर उसने कहा 'नहीं, आपने गुरुदेव को नहीं सुना !' मैंने कहा, 'अच्छा, आप मुझसे अधिक जानती हो तो आप ही कहो कि आप ऐसा क्यों कह रही हो ?' उसने कहा, 'गुरुदेव ने कभी करणानुयोग पर प्रवचन नहीं किया, आप क्यों करती हो ? आपको साहस हुआ ही कैसे कि आप करणानुयोग की बातें करती हो ?'

मैंने कहा, 'अच्छा, अच्छा, बहुत अच्छी बात है । हमने सुना है कानजीस्वामी भविष्य में कुछ भवों के बाद तीर्थंकर होनेवाले हैं, क्या आप इस बातपर विश्वास करती है ?' उसने कहा, 'हां, मुझे पक्का विश्वास है ।' मैंने कहा, 'हां, तो जब उनकी दिव्यध्वनि छूटेगी तब वे कौनसे अनुयोग का उपदेश देंगे ? क्या मात्र द्रव्यानुयोग ही कहेंगे ? कि चारों अनुयोगों का उपदेश देंगे ?' वह महिला निरुत्तर होकर चली गयी ।

मैं आप सबको पूछती हूँ कि क्या आप इस बात से परिचित हैं कि गुरुदेव ने धवला ग्रंथ पर भी प्रवचन किये थे परंतु उस वक्त उनका रेकॉर्डिंग नहीं हुआ था । क्या ? ..... देखिये यहां सामने सोनगढ़ की ब्रह्मचारी बहने बैठी हैं, कह रही हैं कि दो बार धवला के आठ भागों पर-आठ पुस्तकों पर आद्योपांत स्वाध्याय हुआ था जिनका वे प्रत्यक्ष गवाह हैं ।

अपनी कल्पना से गलत अर्थ निकालनेवाले इन जैसे अंध भक्त ही गुरुदेव जैसे महापुरुष को दोष लगाते हैं, ऐसी उलटी-सुलटी बातें करते हैं । करणानुयोग किसी के समझ में न आता हो, उसका वह अभ्यास न करता हो तो वह अलग बात है परंतु यदि हम उसका निषेध करते हैं तो वह सर्वज्ञ भगवान का अपमान है । हम तो त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक भगवान आत्मा है और करणानुयोग अप्रयोजनभूत है उसे मत पढ़ो या पढ़ने की कोई जरूरत नहीं ऐसा भी कहनेवाले मिलते हैं । क्यों विमलाबहन ? यह बहन तो करणानुयोग की रुचिवाली, उसकी विशेषज्ञ है इसलिए उनका नाम लिया । यहां तो पं. हेमचन्दजी, पं. देवेन्द्रकुमारजी शास्त्री, नीमच जैसे मान्यवर विद्वान बैठे हुये हैं । हमारे रोज के स्वाध्याय में बैठनेवाले भी करणानुयोग के अच्छे जानकार हैं । आप सब लोग भी तो इतनी रुचिपूर्वक सुन रहे हो । यहां के ट्रस्टी भी कह रहे थे कि 'प्रत्येक व्याख्यान में-दोपहर के व्याख्यान में भी इतनी कडी धूप में व्याख्यान के पंद्रह मिनिट पहले से ही हॉल खचाखच भर जाता है-हाऊसफुल हो जाता है – आपके शिबिरों की यह विशेषता है ।'

यह तो भगवान की वाणी है जिसे हम आप मिलकर सुन रहे हैं । गुरुदेव के प्रताप से, उनके उपदेश से, उनके निमित्त से आज मुमुक्षु समाज ने तत्त्वज्ञान पाया है-द्रव्यानुयोग का मर्म समझा है । करणानुयोग के अभ्यास से द्रव्यानुयोग के सभी सिद्धांतों

को बहुत बल मिलता है, हमारे तत्त्वनिर्णय में दृढ़ता आती है । यदि कर्मों के संबंध में, भूगोल की रचना के बारे में हम कुछ खोटी कल्पना कर लेंगे तो हमारा ज्ञान गलत होगा, ऐसे गलत ज्ञान के साथ श्रद्धा सम्यक् कैसे हो सकती है ? क्या आपको सम्यग्ज्ञान के बिना का सम्यग्दर्शन चाहिये ? किसी एक ग्रंथ की विशिष्ट गाथा पढ़कर लोग चाहते हैं कि सम्यग्दर्शन हो जायें ।

ज्ञान का विषय तो सारा लोकालोक है, यहां दृष्टि का विषय और ज्ञान का विषय क्या है इसीका पता नहीं, अभी हमारा वह विषय नहीं है । लोगों की बातें एवं किसी अनुयोग का निषेध सुनकर बहुत दुख होता है । ये तो सर्वज्ञ ने बतायी हुयी बातें हैं, इनका निषेध करने से सर्वज्ञ भगवान का निषेध होता है, उनकी वाणी का निषेध होता है, अपने सर्वज्ञ स्वभाव का निषेध होता है । सर्वज्ञ स्वभाव का निषेध करें और उसीका अनुभव करने की चेष्टा करें यह कैसी भ्रांति है !

अपनी बात गंगा नदी की हो रही थी और हम कहीं के कहीं बह गये । गुफा में बहकर ये दो नदियां – उन्मग्नजला और निमग्नजला गंगा नदी में जा मिलती हैं । गुफा में बहकर गंगा नदी गुफा के दक्षिण द्वार से बाहर निकलती है, सीधी दक्षिण दिशा में दक्षिण भरत के आधे भाग तक बहकर पूर्व दिशा की ओर मुड़ती है और जम्बूद्वीप के कोट के मागध नामक द्वार में से होकर लवणसमुद्र में जा मिलती है । हमारे यहां जैसे कम्पाऊंड वॉल में गेटस् होते हैं, साईड में पिलर होते हैं, वैसे नदियां जहां समुद्र में प्रवेश करती हैं वहां गेटस् होते हैं-द्वार होते हैं । जम्बूद्वीप के अंतिम भाग में समुद्र तट पर दीवार जैसी रचना है जिसे जगती कहते हैं उसमें ये द्वार होते हैं ।

अभी हमने गंगा नदी का वर्णन देखा, अब सिंधु नदी का वर्णन देखेंगे । यह भी हिमवान पर्वत के ऊपर पद्म द्रह से निकलती है परंतु पश्चिम दिशा के वज्रद्वार से निकलकर पश्चिम दिशा के सन्मुख ५०० योजन बहती जाती है, फिर दक्षिण में मुड़कर हिमवान पर्वत के दक्षिण तट तक बहती जाती है, वहां भी गंगा के समान गोमुखाकार-वृषभाकार प्रणाली होती है, वहां से २५ योजन आगे जाकर नीचे गिरती है । वहां पर्वत के नीचे सिंधुकुंड है । गंगाकुंड जैसी यहां भी सब रचना होती है । यहां भी देवी के महल के

ऊपर सिंहासन में विराजित जिनबिम्ब है, उसपर सिंधु नदी का प्रवाह गिरता है, कुंड में से दक्षिण की ओर बहकर विजयार्ध पर्वत की तमिस्रा नामक गुफा में प्रवेश करती है और उसके दक्षिण द्वार से निकलकर दक्षिण भरत के आधे भाग तक दक्षिण दिशा में बहकर फिर पश्चिम की ओर मुड़ती है और जम्बूद्वीप के कोट के प्रभास नामक द्वार में से होकर लवणसमुद्र में प्रवेश करती है ।

भरतक्षेत्र में एक विजयार्ध और गंगा-सिंधु दो नदियां इनके कारण छह विभाग हुये हैं । उनमें से विजयार्ध के दक्षिण में दो नदियों के बीच में जो विभाग है वह आर्यखण्ड है, शेष पांच म्लेच्छखण्ड हैं । यहां चार्ट में विजयार्ध के उत्तर में दो नदियों के बीच में जो विभाग है, उसमें वृषभगिरी नाम का पर्वत दिखाया है । यह नाम कभी सुना है ? हां, पूजा में आता है ना, 'भरत चले वृषभाचल पर' । चक्रवर्ती छह खण्डों को जीतकर आते हैं तो इस वृषभाचल पर्वत पर अपनी प्रशस्ति-अपना नाम लिखने के लिये जाते हैं, परंतु वहां थोड़ी भी जगह नहीं मिलती, तो पूर्ववर्ती किसी चक्रवर्ती का नाम मिटाकर अपना नाम लिखना पडता है । अनादि से ही चक्रवर्ती होते आये हैं जानकर 'मैं ही चक्रवर्ती हो गया' ऐसा मान नहीं होता ।

गंगा-सिंधु तो द्रह के पूर्व-पश्चिम द्वार से निकलती हैं, ऐसे ही रक्ता-रक्तोदा नदियां शिखरी पर्वत पर पुंडरीक द्रह के पूर्व-पश्चिम द्वार से निकलकर पूर्व-पश्चिम दिशा में ५००-५०० योजन जाकर उत्तर की ओर मुड़कर वृषभाकार प्रणाली से नीचे कुंड में स्थित द्वीप, पर्वत, महल, जिनबिम्ब की वैसी ही रचना है, वहां जिनबिम्ब के जटायुक्त मस्तकपर जा गिरती है और उत्तर में बहकर ऐरावत के विजयार्ध की गुफा में से होकर उत्तर में बहकर पूर्व-पश्चिम मुड़कर लवणसमुद्र में जा मिलती हैं ।

अन्य सभी नदियां द्रहों के दक्षिण और उत्तर द्वार में से निकलकर दक्षिण या उत्तर में बहकर वहां उस क्षेत्र के नाभिगिरी की चौथाई भाग प्रमाण प्रदक्षिणा देकर पूर्व में या पश्चिम में बहकर लवणसमुद्र में जा मिलती हैं ।

बोलिये, विदेहक्षेत्र में विराजमान तेरहवें तीर्थंकर श्री भद्रबाहु भगवान की जय ।

१४. भोगभूमि, विदेहक्षेत्र

त्रिलोकसार ग्रंथ के आधार से हम तीन लोक संबंधी रचना की जानकारी ले रहे हैं । अभी हमारा मध्यलोक का प्रकरण चल रहा है । मध्यलोक में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं उनमें से मध्य में ढ़ाई द्वीप प्रमाण मनुष्यलोक है । वहां पांच मेरु संबंधी पांच-पांच भरत, ऐरावत और विदेहक्षेत्र हैं । वहां कर्मभूमि और भोगभूमि कहां होती है इसकी बातें तो हमने देखी थी । अब वहां भोगभूमि में कैसी परिस्थिति होती है इसकी चर्चा करेंगे ।

उत्तम भोगभूमि की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य होती है । कुरुक्षेत्र – उत्तरकुरु और दक्षिणकुरु में तो हमेशा ही उत्तम भोगभूमि होती है, परंतु भरत और ऐरावत क्षेत्रों में अवसर्पिणी के पहले काल में उत्तम भोगभूमि होती है जो चार कोडाकोडी सागर तक चलती है उसके पश्चात् यहीं पर मध्यम भोगभूमि होती है । जब हम अवसर्पिणी कहते हैं तो उसमें क्रमशः आयु, शरीर की ऊंचाई एवं अवगाहना घटती जाती है परंतु आहार तो बढ़ता जाता है । उत्तम भोगभूमि में शरीर की ऊंचाई ६००० धनुष याने तीन कोस होती है । वहां तीन दिन बीतनेपर एक बार भोजन होता है, बदरीफल-छोटा बेर प्रमाण कल्पवृक्षों द्वारा दिया हुआ दिव्य आहार वहां के जीव ग्रहण करते हैं । मनुष्यों के शरीर का वर्ण उदय होते हुये सूर्य के समान होता है ।

शरीर की ऊंचाई एवं आयु घटते-घटते अंत में ४००० धनुष एवं दो पल्य होती है जो मध्यम भोगभूमि की उत्कृष्ट ऊंचाई एवं आयु होती है । यहां दो दिन के अंतराल से भोजन होता है जो अक्षफल-बेहड़ा प्रमाण होता है । मनुष्य संपूर्ण चन्द्रमा समान वर्णयुक्त होते हैं ।

दूसरे काल के अंत में तथा तीसरे काल के प्रारंभ में शरीर की ऊंचाई २००० धनुष और आयु एक पल्य होती है । यहां एक दिन के अंतराल से भोजन होता है जो आवले प्रमाण होता है । इस काल में मनुष्य हरित श्याम वर्ण युक्त शरीरवाले होते हैं । तीनों भोगभूमि के जीव मल मूत्रादि नीहार रहित होते हैं ।

चौथे काल के आदि में यहां कर्मभूमि का प्रारंभ होता है, जहां शरीर की ऊंचाई

५०० धनुष एवं आयु एक करोड पूर्व की होती है । दिन में एक बार आहार होता है । शरीर पांचों वर्ण युक्त होते हैं । आयु घटते-घटते अंत में एक सौ बीस वर्ष प्रमाण एवं ऊंचाई सात हाथ प्रमाण होती है जो पंचम काल के प्रारंभ में उत्कृष्ट का प्रमाण होता है । पंचम काल के अंत में दो हाथ प्रमाण ऊंचाई और बीस वर्ष प्रमाण आयु रह जाती है, छठवें काल के अंत में ऊंचाई एक हाथ प्रमाण और आयु पंद्रह वर्ष प्रमाण होती है । पंचम काल में शरीर कांतिहीन, रुक्ष, मिश्र वर्णवाला होता है, जीव बहुत बार आहार ग्रहण करता है । छठवें काल में शरीर धुअें जैसा श्याम वर्ण वाला होता है, जीव अति प्रचुर वृत्ति से बारम्बार आहार करता है ।

भोगभूमि के जीव मंदकषायी होते हैं । वहां दस प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं । तूर्यांग नाम के कल्पवृक्ष से वाद्य, पात्रांग से पात्र मिलते हैं, भूषणांग से आभूषण मिलते हैं, पानांग से पीने की चीज़ें, आहारांग से आहार, पुष्पांग से पुष्प, ज्योतिरंग से प्रकाश प्राप्त होता है । गृहांग से मंदिर अर्थात् गृह-महल प्राप्त होते हैं, वस्त्रांग से वस्त्र और दीपांग से दीपक मिलते हैं । अब भोगभूमि का स्वरूप देखते हैं । भोगभूमि दर्पण के समान मणिमय होती है और चार अंगुल प्रमाण ऊंचे उत्तम रस और गंधयुक्त कोमल तृणों से संयुक्त होती है । दूध या मिष्ट रस या जल या मधुसमान रस या घृत से पूर्ण ऐसी बावड़ी या सरोवरों से यह भोगभूमि व्याप्त होती है ।

यहां माता के गर्भ से युगपत् स्त्री-पुरुष का जोड़ा याने युगल उत्पन्न होता है, इसलिए उन्हें जुगलिया या युगलिया कहते हैं । इनका जन्म होते ही माता-पिता दोनों मर जाते हैं । तो क्या माता-पिता के बिना ही बड़े होते हैं ? हा ! हम मानते हैं कि हमारे बिना हमारे बच्चों का क्या होगा ? यहां तो लोग पुत्रमोह में अंधे होकर बड़े से बड़े पाप भी करते हैं । कमाते भी हैं बच्चों के लिये । अपने लिये तो इसको खाने की भी फुरसत नहीं है । सब यहीं छोड़कर जाना है फिर भी पैसे कमाने के लिये क्या-क्या पाप नहीं करता ? संस्कृत में एक श्लोक में कहा है कि यदि सुपुत्र होगा तो उसके लिये धन कमाकर रखने की क्या आवश्यकता है ? सुपुत्र तो स्वयं काबिल है, कमाकर खायेगा और कुपुत्र है उसके लिये क्यों छोड़ रहे हो ? वह तो सारा गंवानेवाला है, उसके लिये आप पाप क्यों कर रहे हो ?

भोगभूमि में युगल जन्मते हैं । जन्म से सात दिन तक अपना अंगूठा चूसते हैं,

आगे सात दिन तक ऊंचे-नीचे होते हैं अर्थात् पेट के बल भूमि पर ऊंचे-नीचे होते हैं-रेंगते हैं, फिर सात दिन लड़खड़ाते हुये चलते हैं, फिर सात दिन में स्थिररूप अच्छे से चलने लगते हैं, फिर सात दिन में कला गुण ग्रहण करते हैं, फिर सात दिन में यौवन अवस्था प्राप्त करते हैं, पश्चात् सात दिन में परस्पर दर्शन का ग्रहण होना होता है । इसतरह उनचास दिनों में संपूर्णता होती है ।

इस दम्पति याने स्त्री-पुरुष युगल में दोनों के वज्रवृषभनाराच संहनन होता है, इनके समचतुरस्र संस्थान होता है । ये मन्द कषायी होते हैं इसलिए इन्हें आर्य कहते हैं । पंचेन्द्रिय के विषय इन्हें अत्यंत सुलभता से प्राप्त होते हैं तो भी उनसे तृप्ति नहीं होती, विषयों से अरुचि नहीं होती । आयु के अंत में पुरुष छिंक से और स्त्री जंभाई से मरण प्राप्त कर शरदकालीन मेघवत् उनके शरीर का विलय हो जाता है, शरीर का अंश भी पड़ा नहीं रहता ।

भोगभूमि के मनुष्य और तिर्यंच मरकर नियम से देवगति में ही जाते हैं, अन्य गतियों में नहीं जाते । यहां के सभी मिथ्यादृष्टि मरकर भवनत्रिक में जन्मते हैं और यहां के सम्यग्दृष्टि मरकर सौधर्म-ईशान में जन्मते हैं । यहां के जीवों की अनपवर्त्य आयु होती है-उसका अपवर्तन नहीं होता अर्थात् कदलीघात से मरण नहीं होता । असंख्यात वर्षों की इनकी आयु होती है, पूरी भोगकर ही मरण होता है । इनके भुज्यमान आयु की कटौती नहीं होती ।

तो क्या अन्य किसी के आयु में कटौती हो सकती है ? हां, कर्मभूमि के कुछ मनुष्य और तिर्यंचों में भुज्यमान आयु का घात हो सकता है । मान लेते हैं कि कोई सौ वर्ष की आयु बांधकर आया है और बीस साल में आयुकर्म के भविष्यकालीन सभी निषेकों का घात होकर वे परमाणु अंतर्मुहूर्त प्रमाण निषेकों में आ मिलते हैं, फिर वहां आयु का बंध होकर पश्चात् मरण होता है । ऐसा भी हो सकता है कि एक करोड पूर्व की आयु लेकर जन्मा है और पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद अंतर्मुहूर्त के पश्चात् ही कदलीघात से उसका मरण हो सकता है । ऐसे कुछ परिणामों में आयु का बंध किया था कि वह कदलीघात से खिरनेवाली है । वर्तमान परिणाम के कारण ऐसा मरण नहीं है । उस वक्त क्रमबद्धपर्याय के सिद्धांत पर कोई आंच नहीं आती, इसकी चर्चा हम पहले बहुत बार कर चुके हैं इसलिए यहां अभी उसकी चर्चा नहीं करूंगी ।

कहां कौनसी भोगभूमि हमेशा होती है वह हमने देखा ही है । भरत, ऐरावत में भी छह कालों के परिवर्तन में तीनों भोगभूमिरूप परिवर्तन यहां होता है उसकी भी चर्चा की थी । जब यहां अवसर्पिणी का तृतीय काल अर्थात् जघन्य भोगभूमि समाप्त होने का काल नजदीक आता है अर्थात् तृतीय काल में से पल्य का आठवां भाग शेष रहता है तब क्रम से चौदह कुलकर उत्पन्न होते हैं । यहां तीसरे काल में हुये कुलकरों के नाम इसप्रकार हैं – (१) प्रतिश्रुति, (२) सन्मति, (३) क्षेमंकर, (४) क्षेमंधर, (५) सीमंकर, (६) सीमंधर, (७) विमलवाहन, (८) चक्षुष्मान, (९) यशस्वी, (१०) अभिचंद्र, (११) चंद्राभ, (१२) मरुद्देव, (१३) प्रसेनजित, (१४) नाभि ।

नाभि कुलकर के पुत्र वृषभदेव प्रथम तीर्थंकर हुये जिन्हें हम आदिनाथ भी कहते हैं ।

समीचीन पात्र अर्थात् सुपात्र को दान देने के पुण्य परिणाम से जिन्होंने पहले मनुष्यायु बांधी हो पश्चात् सम्यग्दृष्टि होकर जिन्होंने क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया हो ऐसे जीव कुलकर होकर यहां भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं । अन्य भी जो वहां सम्यक्त्व के साथ जन्म लेते हैं वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही होने चाहिये । बाकी तो वहां मिथ्यात्व और सासादन के साथ जन्म लेनेवाले भी बहुत सारे जीव होते हैं । सम्यक्त्व सहिज जन्म लेनेवालों के लिये यह क्षायिक की या क्षायिक का प्रारंभ हो चुका है ऐसे कृतकृत्यवेदकपने की शर्त-कंडिशन है । इन कुलकरों को क्षत्रिय कुल में उपजते हैं ऐसा कहते हैं । चूंकि तब कोई कुलादि की प्रवृत्ति तो नहीं थी परंतु इनके कुल में भविष्य में क्षत्रिय होंगे इसलिए उपचार से इनको भी क्षत्रिय कुलोत्पन्न कहने में आता है । इन कुलकरों में कितने ही जातिस्मरण सहित होते हैं, कितने ही अवधिज्ञान सहित होते हैं ।

प्रारंभ के कुलकरों की आयु भी बड़ी होती है जैसे पहले कुलकर की पल्य के दसवें भाग प्रमाण आयु थी । पहले दो कुलकरों के बीच में अंतराल भी बड़ा होता है जैसे पहले कुलकर के मरने के पश्चात् पल्य वे अस्सीवें भाग प्रमाण काल बीत जानेपर दूसरा कुलकर हुआ था ।

इनको कुलकर क्यों कहते हैं पता है ? अभी तक तो भोगभूमि थी, कुछ कमाना धमाना तो था नहीं, जीव भी भद्र परिणामी-भले परिणामवाले थे । कल्पवृक्षों से सारी जरूरियातें पूरी होती थी । यहां से आगे कर्मभूमि की शुरुआत होनेवाली है तो जीवों

के अनेक समस्यायें उत्पन्न होने लगती हैं, कुलकर उन समस्याओं का निवारण करते हैं, बदलती हुयी परिस्थितियों में जीवन यापन कैसे करना आदि का उपदेश देते हैं ।

पहले कुलकर के समय ज्योतिरंग कल्पवृक्षों का प्रकाश मंद होने लगा तो सूर्य, चंद्र दिखने लगे । वे तो पहले भी विद्यमान थे ही परंतु कल्पवृक्षों के प्रकाश के कारण दिखते नहीं थे । लोग उसे आपत्ति समझकर भयभीत होने लगे, पहले कुलकर ने उन्हें समझाकर उनके भय का निवारण किया । दूसरे कुलकर ने तारे दिखने से उत्पन्न हुये भय का निवारण किया । फिर सिंह आदि जीवों में क्रूरता आने लगी उनसे बचने का उपाय तीसरे कुलकर ने बताया और लोगों के भय का निवारण किया । सिंहादिक पशु अधिक क्रूर बने उनके दंडादि का उपाय करके चौथे कुलकर ने लोगों के भय का निवारण किया । उसके पश्चात् कल्पवृक्ष अल्प फल देने लगे तब प्रजा में परस्पर कलह होने लगा तब पांचवें कुलकर ने सीमा बांधकर प्रजा को अपनी-अपनी सीमा में रहने का उपदेश दिया । पश्चात् कल्पवृक्ष अतिमंद होने लगे, प्रजा में उस मर्यादा में भी झगड़े होने लगे तब छठवें कुलकर ने चिन्हादि द्वारा उस मर्यादा को दृढ़ किया । सातवें कुलकर ने गमन करने के लिये घोड़ा आदि वाहन का उपयोग किया । आठवें कुलकर के समय बालकों का जन्म होने के पश्चात् भी कुछ काल तक माता-पिता जीवित रहने लगे, तब कुलकर ने बालकों का मुख देखने से उत्पन्न हुये भय को दूर किया । उसके बाद नौवें कुलकर के समय बालक जन्मने के पश्चात् अधिक काल तक माता-पिता जीने लगे तब उस नौवें कुलकर ने बालकों को आशीर्वाद देना सिखाया । माता-पिता और अधिक काल जीवित रहने लगे तब दसवें कुलकर ने बालकों को चन्द्रमा दिखाना आदि केलि-क्रीडायें सिखायी । उसके पश्चात् बहुत अधिक काल तक माता-पिता जीवित रहने लगे तब ग्यारहवें कुलकर ने प्रजा के इस भय को दूर किया । बारहवें कुलकर के समय जलवृष्टि-मेघवृष्टि होने से नदी, जलाशय हुये तब तिरने का उपाय बताया, जहाज, नाव आदि बनाने का-प्रयोग में लाने का विधान बताया । तेरहवें कुलकर के समय जरायु सहित बालक जन्मने लगे, तब उस कुलकर ने जरायु का छेदन करना सिखाया । प्रसूतिशास्त्र तब से शुरु हुआ लगता है ।

यह जरायु क्या है पता है ? जब बालक जन्मता है तो उसके ऊपर पतला आवरण होता है- मेम्ब्रेन होता है जिसके अंदर ऑम्नियाटिक फ्लुईड होता है जिसमें

बालक होता है । उसके बाद नाल सहित-अम्बिलिकल कॉर्ड सहित बालक जन्मने लगे । नाभि से जुड़ी यह नाल छेदने को चौदहवें कुलकर ने सिखाया । इनका नाम नाभिराय था । उनके काल में इन्द्रधनुष, बिजली का चमकना आदि होने लगे उनको देखने से उत्पन्न हुआ प्रजा का भय इस चौदहवें कुलकर ने दूर किया । वृक्षों के फलों में यह औषधि है, यह भोजनयोग्य है आदि सिखाया । इसके पश्चात् कर्मभूमि की शुरुआत हुयी । ग्राम, नगर, पत्तन आदि की रचना, लौकिक कार्यसंबंधी शास्त्र, असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प, वाणिज्य आदि लौकिक व्यवहार, आजीविका कैसे करनी, आचरण कैसा करना, दया है मूल जिसका ऐसा धर्म ये सभी बातें आदिब्रह्मा अर्थात् नाभिराय के पुत्र श्री वृषभदेव ने सिखायी । वे ही इस भरतक्षेत्र के इस अवसर्पिणी के प्रथम तीर्थंकर हुये ।

पहले पांच कुलकर अपराधी को 'हा' ऐसा वचन बोलकर दंड देते थे । उस समय जीव भद्र परिणामी थे, उन्हें डांटने की भी आवश्यकता नहीं होती थी । 'हा' का अर्थ 'हाय, यह बुरा किया' – यही उनके अपराध का दंड था, उसीसे वे गलत काम छोड़ देते थे । उसके पश्चात् पांच कुलकर 'हा मा' कहकर दंड देते थे अर्थात् 'हाय बुरा किया, मत करना' । उसके पश्चात् वृषभदेव सहित पांच कुलकर 'हा मा धिक्' कहकर दंड देते थे अर्थात् 'बुरा किया, मत करो, धिक्कार है तुम्हें ' ।

अभी तक हमने भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में काल का परिवर्तन कैसे होता है, यहां भोगभूमि और कर्मभूमि का परिवर्तन कैसे होता है, कहां हमेशा ही भोगभूमि होती है आदि बातें देखी । अब हमें प्रत्येक मेरु संबंधी विदेहक्षेत्र की रचना को समझना है । सर्वप्रथम हम पूर्व विदेह को समझेंगे पश्चात् उसके आधार से पश्चिम विदेह को समझेंगे ।

जम्बूद्वीप के विदेहक्षेत्र कहां है इसे हमने चार्ट नं. ५ में देखा है । उसमें मध्य में सुदर्शन मेरु का व्यास १०००० योजन है । उसके पूर्व में २२००० योजन तक भद्रशालवन है, उसके समाप्त होनेपर भद्रशाल वनवेदी है जो नील पर्वत से निषध पर्वत तक है । उसके पूर्व में पूर्व विदेहक्षेत्र है, इसका विस्तार हम चार्ट नं. १२.१ के आधार से देखेंगे । विदेहक्षेत्र के पूर्व में समुद्र के पास देवारण्य वन और देवारण्य वनवेदी है यह वनवेदी भी नील पर्वत से निषध पर्वत तक है । चार्ट देखिये, यहां नीचे-दक्षिण में निषध पर्वत और उत्तर में नील पर्वत है । नील पर्वत के केसरी द्रह से

सीता नदी दक्षिण में मेरु तक आती है और मेरु पर्वत को चौथाई भाग प्रमाण प्रदक्षिणा देकर पूर्व दिशा की ओर बहती है । उसके कारण पूर्व विदेहक्षेत्र के उत्तर और दक्षिण ऐसे दो विभाग होते हैं ।

यहां चार्ट नं. १२.१ में भद्रशाल वनवेदी और देवारण्य वनवेदी के बीच में पूर्व विदेह है, जिसके मध्य में सीता नदी है जो पूर्व दिशा में जाकर लवणसमुद्र में जा मिलती है । सीता नदी के उत्तर तथा दक्षिण में चार-चार वक्षार पर्वत हैं जो यहां ब्राऊन रंग में दिखाये हैं, उनपर १, २, ३, ४ और दक्षिण में ५, ६, ७, ८ क्रमांक लिखे हैं । उत्तर दिशा के चार वक्षार पर्वत नील पर्वत से सीता नदी तक फैले हुये हैं और दक्षिण दिशा के चार वक्षार पर्वत निषध पर्वत से सीता नदी तक फैले हुये हैं । इन वक्षारों के नाम इसप्रकार हैं – (१) चित्रकूट वक्षार, (२) नलिनकूट वक्षार, (३) पद्मकूट वक्षार, (४) एकशैल वक्षार, (५) त्रिकूट वक्षार, (६) वैश्रवणकूट वक्षार, (७) अंजनशैल वक्षार, (८) आत्मांजन वक्षार । इनका क्रम ठीक तरह से देखना । उत्तर में १ से ४ पूर्व दिशा की ओर हैं और दक्षिण के ५ से ८ पूर्व से पश्चिम की ओर हैं – इसे क्लॉकवाइज कहते हैं-घड़ी की सूई की माफक है ऐसा कहते हैं ।

उत्तर के चार वक्षारों के बीच उनके अंतरालों में एक-एक नदी नील पर्वत से निकलकर दक्षिण की ओर बहती है और सीता नदी में आ मिलती है । इन नदियों को विभंगा नदी कहते हैं । दक्षिण में भी ऐसी ही तीन विभंगा नदियां हैं जो निषध पर्वत से निकलकर उत्तर दिशा में बहती हुयी सीता नदी में जा मिलती हैं । उत्तर की तीन और दक्षिण की तीन नदियों के नाम क्रम से इसप्रकार हैं – (१) द्रहवती (गाधवती), (२) ग्राहवती (द्रहवती), (३) पंकवती, (४) तप्तजला, (५) मत्तजला, (६) उन्मत्तजला ।

सीता नदी के उत्तर में दो वनवेदी, चार वक्षार और तीन विभंग नदियां इनके अंतरालों में आठ क्षेत्र होते हैं – वह प्रत्येक क्षेत्र एक-एक विदेहक्षेत्र है । दक्षिण में भी ऐसे आठ क्षेत्र होते हैं । पूर्व में आठ और आठ सोलह क्षेत्र हुये ऐसे ही पश्चिम विदेह में भी सोलह विदेहक्षेत्र होते हैं । इसप्रकार एक-एक मेरु संबंधी बत्तीस-बत्तीस विदेहक्षेत्र होते हैं । इन बत्तीसों का क्रम भी घड़ी की सुई की तरह अर्थात् क्लॉकवाइज होता है । अब इनके नाम देखते हैं । चार्ट नं. १२.१ में देखना है

आपको । पहला है कच्छा । कच्छ नहीं, कच्छा कहा ! नहीं तो कच्छ में ढूंढ़ने जाओगे । यहां बहुत सारे कच्छी भाईबहन आये है ना ! दुबारा देखते हैं – उत्तर में – (१) कच्छा, (२) सुकच्छा, (३) महाकच्छा, (४) सुकच्छावती, (५) आवर्ता, (६) लांगलावर्ता, (७) पुष्कला, (८) पुष्कलावती, अब दक्षिण में – (९) वत्सा, (१०) सुवत्सा, (११) महावत्सा, (१२) वत्सकावती, (१३) रम्या, (१४) सुरम्यका, (१५) रमणीया, (१६) मंगलावती ।

पश्चिम विदेह में पहले दक्षिण के और बाद में उत्तर के क्षेत्र गिनेंगे । पश्चिम विदेह में कौनसी नदी बहती है याद है ? हां, सीतोदा नदी । सीतोदा के दक्षिण में भद्रशाल वनवेदी के बाद यहां से हम सत्रह, अठारह आदि गिनेंगे । पश्चिम विदेह के लिये चार्ट नं. १२.२ देखना – दक्षिण में सत्रह से चौबीस तक और पश्चात् उत्तर में पच्चीस से बत्तीस तक क्रमांक लिखे हैं । उनके नाम इसप्रकार हैं – दक्षिण में – (१७) पद्मा, (१८) सुपद्मा, (१९) महापद्मा, (२०) पद्मकावती, (२१) शंखा, (२२) नलिनी, (२३) कुमुद, (२४) सरित; उत्तर में – (२५) वप्रा, (२६) सुवप्रा, (२७) महावप्रा, (२८) वप्रकावती, (२९) गंधा, (३०) सुगंधा, (३१) गंधिला, (३२) गंधमालिनी । ये बत्तीस विदेहक्षेत्र सुदर्शन मेरु संबंधी हैं । वर्तमान में विदेहक्षेत्र में विराजमान कितने तीर्थंकर हैं ? बीस । पांच मेरु संबंधी बीस हैं तो एक-एक मेरु संबंधी विदेहों में चार-चार तीर्थंकर हैं । पहले चार तीर्थंकर हैं – सीमंधर, युगमंधर, बाहु और सुबाहु । देखिये – सीमंधर भगवान सुदर्शन मेरु संबंधी पूर्व विदेह के उत्तर में हैं, युगमंधर भगवान पूर्व विदेह के दक्षिण में हैं, बाहु भगवान पश्चिम विदेह के दक्षिण में हैं, और सुबाहु भगवान पश्चिम विदेह के उत्तर में हैं । उसके पश्चात् आगे के चार तीर्थंकर हैं (५) संजातक, (६) स्वयंप्रभ, (७) वृषभानन और (८) अनंतवीर्य; वे पूर्व धातकीखण्ड के विजयमेरु संबंधी पूर्व विदेह के उत्तर में, दक्षिण में तथा पश्चिम विदेह के दक्षिण में और उत्तर में विराजमान हैं ।

उसके पश्चात् हम पश्चिम पुष्करार्ध के अचलमेरु संबंधी कहेंगे । इसतरह पांच मेरु संबंधी बीस क्षेत्रों में बीस तीर्थंकर अभी वर्तमान में विद्यमान हैं । हमारे यहां भरतक्षेत्र में हम चौबीस तीर्थंकरों के नाम लेते हैं वे तो एक के बाद एक हुये थे ।

हमने अभी कुल ३२ × ५ = १६० विदेहक्षेत्र देखे । उनमें प्रत्येक में छह-छह

खण्ड होते हैं – एक आर्यखण्ड और पांच म्लेच्छखण्ड । हम कच्छा विदेहक्षेत्र की बात करेंगे । अभी हमने एक क्रमांक पर कच्छा नाम का विदेहक्षेत्र देखा था । यहां चार्ट नं. १२.१ में देखना – कच्छा देश के बीचोंबीच यह आड़ी ब्राऊन रंग की रेषा जो भद्रशाल वनवेदी से चित्रकूट वक्षार तक दिखायी है, वह है विजयार्ध पर्वत । नील पर्वत से निकली हुयी दो नदियां – रक्ता और रक्तोदा सीधी दक्षिण दिशा में बहती हुयी विजयार्ध पर्वत की गुफाओं में से जाकर दक्षिण में सीता नदी में मिल जाती है । दो नदियां और एक विजयार्ध के कारण विदेहक्षेत्र के छह खण्ड बनते हैं । विजयार्ध के दक्षिण में दो नदियों के बीच में आर्यखण्ड है और बाकी पांच म्लेच्छखण्ड हैं । जैसे भरत और ऐरावत क्षेत्र में छह-छह खण्ड देखे थे वैसे यहां भी होते हैं । परंतु भरत-ऐरावत के आर्यखण्डों में जैसे कालों का परिवर्तन होता है वैसे यहां नहीं होता, हमेशा ही अवसर्पिणी के चौथे काल सदृश काल होता है ।

एक सौ साठ विदेहों में प्रत्येक में एक-एक विजयार्ध और दो-दो नदियों के कारण छह-छह खण्ड पाये जाते हैं । यहां पूर्व विदेह के उत्तर में नील पर्वत से निकलकर प्रत्येक विदेह में दो-दो नदियां दक्षिण की ओर बहकर सीता नदी में जा मिलती हैं, उनके नाम हैं रक्ता और रक्तोदा । पूर्व विदेह के दक्षिण में निषध पर्वत से निकलकर दो-दो नदियां उत्तर दिशा में बहती हैं और सीता नदी में जा मिलती हैं, उनके नाम हैं गंगा और सिंधु । प्रत्येक क्षेत्र में ये ही नाम हैं ।

प्रत्येक विदेहक्षेत्र का विजयार्ध पर्वत अलग-अलग है । यहां दूसरे नंबर का सुकच्छा देश है जो चित्रकूट वक्षार और द्रहवती विभंगा नदी के बीच अंतराल में है; उसका विजयार्ध भी वक्षार से नदी तक ही है । इन प्रत्येक विदेहक्षेत्र में चक्रवर्ती, तीर्थंकर और अन्य शलाका पुरुष अलग-अलग होते हैं, एक क्षेत्र से अन्य क्षेत्र में नहीं जाते । वहां के चक्रवर्ती भी छह खण्ड जीतकर वहां के वृषभगिरी पर जाकर नाम लिखते हैं ।

जितने विदेहक्षेत्र हैं उतने ही विजयार्ध पर्वत हैं । अब मेरा प्रश्न है कि जम्बूद्वीप में कुल कितने विजयार्ध पर्वत हैं ?

उत्तर – चौंतीस – बराबर है । देखो – बत्तीस विदेह के बत्तीस और भरतक्षेत्र का एक तथा ऐरावतक्षेत्र का एक, ऐसे कुल चौंतीस विजयार्ध पर्वत एक-एक

मेरुसंबंधी होते हैं ।

जम्बूद्वीप में वक्षार पर्वत कितने देखे ? हमने पूर्व विदेह में उत्तर में चार और दक्षिण में चार वक्षार देखे थे ना, ऐसे ही पश्चिम विदेह में देखे थे । तो कुल सोलह वक्षार हुये । ये सारे नाम हम अंत में जब मध्यलोक के अकृत्रिम जिनचैत्यालय देखेंगे तब दुबारा देखनेवाले हैं, इसलिए याद रखना ।

क्या एक बात ख्याल में आ गयी ? प्रत्येक विदेहक्षेत्र में पांच-पांच म्लेच्छखण्ड और एक-एक आर्यखण्ड होता है । मेच्छखण्डों में धर्म की कोई प्रवृत्ति नहीं होती । हमारे कितने ही साथी वहां महाविदेह में जन्म लेना चाहते हैं, जरा सोचना कि भूलचूक से कहीं म्लेच्छखण्डों में उत्पन्न होंगे तो क्या होगा ? लोग विदेह में जन्म लेना चाहते हैं वह भी सीमंधर भगवान के पास, उन्हें बाहु-सुबाहु भगवान नहीं चलेंगे, क्योंकि सीमंधर ज्यादा फेवरिट है ना ? अपने चौबीस तीर्थंकरों में भी हमने फेवरिट बनाये हैं, कौन है ? पार्श्वनाथ को संकटविमोचक, शांतिनाथ को शांतिप्रदाता, है ना? ये सारी अभिप्राय की भूलें हैं ।

विदेहक्षेत्र में वर्तमान में बीस तीर्थंकर विद्यमान हैं । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सभी एक सौ साठ विदेहक्षेत्रों में प्रत्येक में तीर्थंकर होते हैं और उसी काल में पांच भरतक्षेत्र और पांच ऐरावतक्षेत्रों में भी तीर्थंकर विराजमान रहते हैं । इसतरह कुल एक सौ सत्तर तीर्थंकर एक काल में हो सकते हैं । ऐसा कब हुआ था पता है ? जब अपने यहां अजितनाथ तीर्थंकर थे तब ऐसा हुआ था । पूर्व विदेह में अंत में पूर्व सीमा पर देवारण्य वनवेदी है जिसके पूर्व दिशा में देवारण्य वन है । इसके बीच में से सीता नदी पूर्व की ओर बहती है और लवणसमुद्र में जा मिलती है । देवारण्य वन और लवणसमुद्र के बीच में दीवार जैसी यह रचना है इसे जगती कहते हैं । सीता नदी जहां समुद्र में प्रवेश करती है वहां इस जगती में द्वार पाया जाता है । सभी महानदियां जहां समुद्र में प्रवेश करती हैं वहां ऐसी ही रचना होती है ।

अब यहीं विराम लेते हैं ।

बोलिये, विदेहक्षेत्र में विराजमान चौदहवें तीर्थंकर श्री भुजंग भगवान की जय ।

१५. विद्याधर, कुभोगभूमि

श्रीमद् नेमिचन्द्र आचार्य द्वारा विरचित त्रिलोकसार ग्रंथ के आधार से हम यहां तीन लोक का स्वरूप देख रहे हैं । अधोलोक, ऊर्ध्वलोक का स्वरूप देखने के पश्चात् मध्यलोक का वर्णन देखते हुये हमने मनुष्यलोक में छह कुलाचल, सात क्षेत्र, कर्मभूमि, भोगभूमि आदि का वर्णन देखा । भरतक्षेत्र तथा विदेहक्षेत्र का वर्णन भी देखा । छह-छह कालों का परिवर्तन तो मात्र भरत और ऐरावत क्षेत्र में ही होता है, वहां भी केवल आर्यखण्ड में ही यह परिवर्तन होता है, म्लेच्छखण्डों में नहीं । आर्यखण्ड में तो एक से छह काल और पश्चात् उलटे क्रम से उन्हीं कालों का परिवर्तन होता रहता है । परंतु भरत-ऐरावत के म्लेच्छ खण्डों में मात्र चौथे कालसदृश परिस्थिति होती है । वहां ना भोगभूमि होती है और ना ही पांचवा, छठवां काल होता है । यहां चौथे काल का अर्थ वहां से मोक्ष होता है ऐसा नहीं मानना । यहां तो सिर्फ शरीर की अवगाहना और आयु की अपेक्षा बात है । जहां आर्यखण्ड में छह काल हैं वहां म्लेच्छ खण्डों में चौथे काल के आदि से अंत तक जितना परिवर्तन होता है उतना ही पाया जाता है ।

यहां अवसर्पिणी काल के प्रारंभ में पांच सौ धनुष की ऊंचाई एवं एक करोड पूर्व की आयु और अंत में सात हाथ की ऊंचाई एवं एक सौ बीस वर्ष की आयु उत्कृष्टरूप से होती है । चक्रवर्ती छहों खण्डों को जीतता है, म्लेच्छ खण्डों पर विजय प्राप्त करता है तब हजारों म्लेच्छ कन्याओं के साथ शादी करके उन्हें आर्यखण्ड में ले आता है । तो वे उसके बराबर की ऊंचाईवाली होगी कि नहीं ? और अंत में चक्रवर्ती हुये, उनकी ऊंचाई, कद छोटा होता है तो वे म्लेच्छ कन्यायें भी उनके योग्य कद की ही होती हैं ।

कहां कौनसा काल वर्तता है यह हमने पहले विस्तार से देखा था । जहां हमेशा ही उत्तम, मध्यम या जघन्य भोगभूमि होती है, वे क्षेत्र भी हमने देखे । विदेहक्षेत्र में हमेशा चौथा काल वर्तता है, वहां तीर्थंकरों की विद्यमानता भी हमेशा रहती ही है, मोक्षमार्ग एवं उसका उपदेश भी हमेशा चलता रहता है, उसका कभी लोप नहीं होता । हमें डर लगता है कि इस जैनधर्म का क्या होगा ? उसका लोप हो जायेगा तो ? किसीको यह डर नहीं है कि मैं जिनेन्द्रकथित तत्त्वज्ञान को अंगीकार नहीं करूंगा तो मेरा क्या

होगा ? लोक कितना बड़ा है यह हम देख रहे हैं, यदि हमने अपना स्वरूप नहीं समझा तो कहां जाकर जन्म लेगा और कहां-कहां भटकना पडेगा इसका विचार करना – इसका भय लगे तो लगने दो, संसार का भय लगे तो उसमें से छूटने का उपाय मुझे इसी भव में – शीघ्रातिशीघ्र करना है इस बात का एहसास होगा ।

भरत-ऐरावत के पांच-पांच म्लेच्छ खण्डों में तथा विजयार्ध पर्वत की श्रेणियों में जहां विद्याधर रहते हैं वहां चौथे काल के आदि से अंत तक के समान हानिवृद्धि होती है । देवों में हमेशा प्रथम काल और नरकों में हमेशा छठवां काल सुख-दुख की अपेक्षा समझना; आयु, शरीर की अवगाहना या आहार की अपेक्षा नहीं । कुभोगभूमि में तीसरा काल होता है । स्वयंभूरमण समुद्र एवं आधा स्वयंभूरमण द्वीप इनमें दु:खमा अर्थात् पांचवां काल वर्तता है ।

हमने पहले विजयार्ध पर्वतों की बात की थी, याद है ? प्रत्येक विदेहक्षेत्र, भरतक्षेत्र, ऐरावतक्षेत्र में एक-एक विजयार्ध पर्वत होता है जो उस-उस क्षेत्र को दक्षिण और उत्तर ऐसे दो विभागों में विभाजित करता है । विजय का अर्थ है देश, इस पर्वत के द्वारा क्षेत्र याने देश आधा होता है इसलिए इसका विजयार्ध नाम सार्थक है । ये विजयार्ध पूर्व-पश्चिम लम्बे हैं-अपने क्षेत्र की सीमा तक फैले हुये हैं । इनकी दक्षिणोत्तर चौड़ाई पचास योजन है और ऊंचाई पच्चीस योजन है । विजयार्ध पर्वत नीचे से लेकर दस योजन की ऊंचाई तक पचास योजन समान चौड़ा है । दस योजन की ऊंचाई पर दक्षिण और उत्तर दोनों दिशाओं में दस-दस योजन की कटनी होती है वहां पर्वत की चौड़ाई तीस योजन रह जाती है जो आगे दस योजन ऊपर तक समान रहती है । फिर यहां दक्षिण और उत्तर में दस-दस योजन की कटनी होती है और पर्वत की चौड़ाई दस योजन रह जाती है जो ऊपर पांच योजन तक समान होती है ।

वहां प्रथम श्रेणी अर्थात् कटनी पर विद्याधर रहते हैं, वहां दक्षिण और उत्तर दोनों ओर की श्रेणियों में विद्याधरों के नगर होते हैं । विदेहक्षेत्र के विजयार्धों के दक्षिण श्रेणी में पचपन नगर और उत्तर श्रेणी में पचपन नगर हैं । जम्बूद्वीप के भरत-ऐरावत क्षेत्र संबंधी विजयार्ध के दक्षिण श्रेणी में पचास और उत्तर श्रेणी में साठ नगर हैं । ये सर्व नगर रत्नमयी हैं । कोट, दरवाजे, मंदिर, मार्ग, सरोवर, वन इनसे वे नगर विराजित हैं । उन नगरों में विद्याधर रहते हैं । ये विद्याधर तो मनुष्य हैं, देव नहीं हैं । उन्हें

विशिष्ट विद्यायें प्राप्त होती हैं, वे मोक्ष भी जा सकते हैं । आपको मालूम है कोई विद्याधर जो मोक्ष गये हैं ? हां हनुमान विद्याधर थे । जो मोक्ष गये हैं । रावण के पुत्र मेघनाथ भी मोक्ष गये हैं ।

इन विद्याधरों को तीन प्रकार की विद्या प्राप्त होती हैं – (१) साधित विद्या – जिसको स्वयं ने साध्य की है ऐसी साधित विद्या । (२) कुल विद्या – पितृपक्ष अर्थात् कुल में चली आयी विद्या । (३) जाति विद्या – मातृपक्ष अर्थात् जाति में चली आयी विद्या ।

विद्याधर षट्कर्मों से संयुक्त होते हैं । वे षट्कर्म इसप्रकार हैं – (१) इज्या, (२) वार्ता, (३) दत्ति, (४) स्वाध्याय, (५) संयम, (६) तप ।

पूज्य को पूजना इज्या है । असि, मसि आदि जीने के उपायरूप व्यापार वह वार्ता है । दान देना वह दत्ति है । पठन, पाठन करना स्वाध्याय है । अविरति का त्याग वह संयम है । तपश्चरण करना वह तप है ।

प्रश्न – ये असि, मसि क्या है ?

उत्तर – असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य आदि आजीविका के लिये लौकिक व्यवहार यहां भरतक्षेत्र में वृषभदेव ने लोगों को सिखाये थे । असि याने तलवार, धनुष आदि शस्त्रविद्या में निपुण सैनिक का काम करके धनार्जन करना और अपना जीवन निर्वाह करना । अपनी भाषा में रोजी रोटी के ये छह अलग-अलग साधन हैं । मसि का अर्थ है लेखन करके धन कमाना । आजकल टाइपिंग करना, अकाऊंट्स सम्हालना सब उसमें आ गया । कृषि अर्थात् खेती करना । विद्या अर्थात् चित्र बनाना, नृत्य, गायन आदि बहत्तर कलाओं द्वारा अर्थाजन करना । शिल्प अर्थात् कारीगरी; धोबी, नाई, सुतार, लुहार, सुनार इसमें आ गये । वाणिज्य याने अनेक प्रकार के वस्तुओं का व्यापार करना ।

विद्याधर कर्मभूमि के मनुष्य हैं । उनके यहां हमेशा चौथा काल रहता है । भरत-ऐरावत के आर्यखण्ड में चौथे काल के आदि से अंत तक जैसी हानि (अवसर्पिणी काल में) और वृद्धि (उत्सर्पिणी काल में) होती है वैसी ही वहां के विजयार्ध के विद्याधरों की श्रेणी में होती हैं । वहां पांचवां, छठवां काल नहीं होता । आपने सुना होगा कि

यहां भरत, ऐरावत के आर्यखण्ड में छठवें काल के अंत में कितने ही दिनों तक आंधी चलती है, प्रलय होता है । उस समय विद्याधर आकर कुछ मनुष्य और तिर्यंचों को अपने यहां ले जाते हैं । विजयार्ध पर्वत की द्वितीय श्रेणी-जो द्वितीय कटनी है वहां सौधर्म संबंधी आभियोग्य देवों के मणिमय नाना प्रकार के नगर हैं । विजयार्ध के शिखर पर सिद्धायतन आदि कूट हैं । वहां पूर्णभद्र कूट पर विजयार्धकुमारपति देव रहते हैं ।

अभी तक हमने कर्मभूमि, भोगभूमि की चर्चा की । परंतु इनमें कुभोगभूमि क्या होती है ? कहां होती है ? उसकी अब हम चर्चा करेंगे । इसीको कुमानुष द्वीप भी कहते हैं । इसके लिये चार्ट नं. ९ देखना है । यहां रहनेवाले मनुष्यों को कुमानुष या अंतर्द्वीपज म्लेच्छ भी कहते हैं । ये कुभोगभूमियां लवणसमुद्र और कालोदधि समुद्र में पाये जानेवाले द्वीपों में हैं । अब जरा यह चार्ट समझेंगे ।

यहां मध्य में लाख योजन व्यासवाला जम्बूद्वीप है, उसको घेरे हुये दो लाख योजन विस्तारवाला यहां जो नीले रंग में दिखाया है वह लवणसमुद्र है । उसके आगे उससे दोगुणा विस्तारवाला धातकीखण्ड द्वीप है परंतु यहां नक्शे में जगह कम है और आगे के कालोदधि समुद्र का पूरा विस्तार दिखाना था इसलिए इस धातकीखण्ड द्वीप को बहुत छोटा दिखाया है, कल्पना में उसे लवणसमुद्र से दोगुणा व्यासवाला समझना । उसके बाहर कालोदधि समुद्र है जो आठ लाख योजन विस्तारवाला है ।

यहां हम लवणसमुद्र और कालोदधि समुद्र में पाये जानेवाले छानबे द्वीप देखेंगे जहां कुभोगभूमि होती है । इनमें से अड़तालीस द्वीप लवणसमुद्र में हैं और अड़तालीस द्वीप कालोदधि समुद्र में हैं । वहां भी चौबीस द्वीप समुद्र के अभ्यंतर तट के निकट हैं और चौबीस बाहरी तट के निकट हैं । हम चार्ट के आधार से इन द्वीपों की बात समझेंगे । सर्वप्रथम लवणसमुद्र के अभ्यंतर तट के पास अर्थात् जम्बूद्वीप के समीप चार दिशाओं और चार विदिशाओं में प्रत्येक में एक-एक ऐसे आठ द्वीप हैं । चार्ट में वे काले रंग में दिखाये हैं उनके बाजू में उनके क्रमांक भी लिखे हैं – पहला पूर्व में, दूसरा दक्षिण में, तीसरा पश्चिम में, चौथा उत्तर में, पांचवां आग्नेय में, छठवां नैऋत्य में, सातवां वायव्य में और आठवां ईशान्य में । इन आठ द्वीपों के अंतराल में उनसे बाहरी ओर छोटे साइझवाले अन्य आठ द्वीप हैं जो यहां लाल रंग में दिखाये हैं । पहले और पांचवें द्वीप के अंतराल में नौवां द्वीप है, आगे क्रम से एक-एक अंतराल

में दसवें से सोलहवें तक द्वीप हैं । ऐसे आठ और आठ सोलह तो ये हुये ।

जम्बूद्वीप में यहां चार्ट में उत्तर में शिखरी पर्वत और दक्षिण में हिमवान पर्वत दिखाया है; उनके प्रत्येक के पूर्व दिशा में दो और पश्चिम दिशा में दो ऐसे चार-चार द्वीप हैं । चार्ट देखना – यहां हिमवान पर्वत की लाईन में पूर्व में नौवें द्वीप के पूर्व में सत्रहवां द्वीप है, उसी लाईन में हिमवान पर्वत के पश्चिम में बारहवें द्वीप के पश्चिम में अठारहवां द्वीप है । सत्रहवें के नीचे उन्नीसवां और अठारहवें के नीचे बीसवां द्वीप है । उसीप्रकार शिखरी पर्वत की लाईन में पूर्व में इक्कीसवां, पश्चिम में बाइसवां, पूर्व में तेइसवां और पश्चिम में चौबीसवां द्वीप स्थित है । अब इन द्वीपों का विस्तार देखते हैं – जम्बूद्वीप की वेदिका अर्थात् जगती से पांच सौ योजन दूरी पर समुद्र में दिशा संबंधी (एक से चार नंबर के) द्वीप स्थित हैं जो सौ योजन विस्तारवाले गोल हैं; जम्बूद्वीप से पांच सौ योजन दूरी पर विदिशा संबंधी (पांच से आठ नंबर के) द्वीप हैं जो पचपन योजन विस्तारवाले हैं; जम्बूद्वीप से पांच सौ पचास योजन दूरी पर अंतरदिशा संबंधी (नौ से सोलह नंबर के) द्वीप हैं जो पचास योजन विस्तारवाले हैं, जम्बूद्वीप से छह सौ योजन दूरी पर पर्वत के निकटवर्ती (सत्रह से चौबीस नंबर के) द्वीप हैं जो पच्चीस योजन विस्तारवाले हैं । ये सभी समुद्र में स्थित गोल आकारवाले टापू हैं-द्वीप हैं ।

इन सबके नाम अलग-अलग हैं । ऐसे ही चौबीस द्वीप लवणसमुद्र के बाहरी तट के समीप धातकीखण्ड से इतने ही दूरी पर स्थित हैं । इनके नाम भी वे ही हैं । अब हम क्रम से इनके नाम देखेंगे । नौ नंबर के चार्ट में पहले हम लवणसमुद्र के चौबीस द्वीपों के नाम देखेंगे । अभ्यंतर एवं बाह्य तट पर उसी नंबर पर उसी नाम के वैसे ही द्वीप हैं, चार्ट में उनके रंगों से, साइझ से पता चलेगा ही, दिशा-विदिशा संबंधी द्वीपों के नाम अंदरी तट से बाहरी तट तक लिखे हैं; नौ से चौबीसवें द्वीपों के नाम बाहरी तट के पास लिखे हैं । इनके नाम क्रम से इसप्रकार हैं – (१) एकोरुक, (२) लांगुलिक, (३) वैषाणिक, (४) अभाषक, (५) शष्कुलिकर्ण, (६) कर्णप्रावरण, (७) लम्बकर्ण, (८) शशकर्ण, (९) सिंहमुख, (१०) अश्वमुख, (११) श्वानमुख, (१२) महिषमुख, (१३) वराहमुख, (१४) शार्दूलमुख, (१५) घूकमुख, (१६) बन्दरमुख, (१७) मत्स्यमुख, (१८) कालमुख, (१९) मेषमुख, (२०) गोमुख, (२१) मेघमुख, (२२) विद्युन्मुख, (२३) दर्पणमुख, (२४) हस्तिमुख ।

इसतरह लवणसमुद्र में चौबीस अभ्यंतर की ओर के और चौबीस बाहर की ओर के ऐसे कुल अड़तालीस अंतर्द्वीप हैं-कुभोगभूमि के द्वीप हैं । कालोदधि समुद्र में भी चौबीस द्वीप अभ्यंतर परिधि की तरफ और चौबीस बाहरी परिधि की तरफ पाये जाते हैं – दिशाओं में चार, विदिशाओं में चार, अंतरदिशाओं में आठ, पूर्व में छोटे-छोटे चार तथा पश्चिम में छोटे-छोटे चार ऐसे कुल चौबीस हैं । अब उनके नाम देखते हैं – चार्ट में देखकर इनका स्थान समझना । (१) वत्स्यमुख, (२) अश्वकर्ण, (३) पक्षिमुख, (४) हस्तकर्ण, (५, ६, ७, ८) शूकरकर्ण, (९) उष्ट्रकर्ण, (१०, ११) मार्जारमुख, (१२) कर्णप्रावरण, (१३) गजमुख, (१४, १५) मार्जारमुख, (१६) गोकर्ण, (१७) वृकमुख, (१८) व्याघ्रमुख, (१९) शिशुमारमुख, (२०) मकरमुख, (२१) अक्षमुख, (२२) श्रृगालमुख, (२३) द्वीपिकमुख, (२४) भृंगारमुख ।

इसतरह लवणसमुद्र के अड़तालीस और कालोदधि के अड़तालीस मिलकर कुल छानबे द्वीप हैं, वहां जो मनुष्य रहते हैं उन्हें अंतर्द्वीपज म्लेच्छ कहते हैं या कुमानुष कहते हैं और यहां पर कुभोगभूमि है । यहां रहनेवाले मनुष्यों के मुख चित्र-विचित्र होते हैं और इन मनुष्यों के कारण उन द्वीपों के नाम ऐसे पड़े हैं । इनको द्वीप इसलिए कहते हैं कि ये समुद्र के बीच में पाये जानेवाले टापू हैं, इनके चहूं ओर समुद्र हैं, हमारे यहां अंदमान द्वीप, लक्षद्वीप है ना ! इंग्लिश में आयलँड कहते है ना !

इन द्वीपों में रहनेवाले कुमानुषों के वे ही नाम हैं । एकोरुक मनुष्य एक पैरवाले (एक टांगवाले) होते हैं, वे गुफाओं में रहते हैं और वहां की मीठी मिट्टी खाते हैं-भक्षण करते हैं, अन्य सभी कुमानुष वृक्षों के नीचे रहते हैं और कल्पवृक्षों द्वारा दिये हुये फल खाते हैं । उनके जन्म आदि की प्रवृत्ति जघन्य भोगभूमिवत् पायी जाती है ।

लांगुलिक मनुष्य पूंछवाले होते हैं, वैषाणिक सींगवाले होते हैं, अभाषक गूंगे होते हैं, शष्कुलिकर्ण पूडि समान कानवाले होते हैं । कर्णप्रावरण मनुष्यों के ऐसे बड़े-बड़े कान होते हैं कि एक कान को बिछाकर दूसरा कान ओढ़ने के लिये काम में आता है-कान से शरीर को आच्छादन करते हैं । लम्बकर्ण लम्बे कानवाले होते हैं, शशकर्ण खरगोश जैसे कानवाले होते हैं ।

अन्य मनुष्यों के अनेक प्राणियों जैसा मुख होता है बाकी शरीर मनुष्यों जैसा होता है । उनके नाम से ही पता चलता है – सिंहमुख, अश्वमुख (घोडे जैसा मुख),

श्वानमुख (कुत्ते जैसा मुख), महिषमुख (भैंसे जैसा मुख), वराहमुख (सुअर जैसा मुख), शार्दूलमुख (सिंह जैसा मुख) । बाकी भी सब नाम जैसे उनके मुख या कान होते हैं ।

इनके नाम सुनकर आपको हंसी आ रही है, यदि आप वहां के कुमानुष नहीं बनना चाहते, वहां नहीं जाना चाहते तो प्रथम वहां जीव क्यों उत्पन्न होते हैं उन कारणों को देखेंगे तो आप सोच सकेंगे कि वैसे परिणाम रखना या नहीं रखना ! ये परिणाम स्वयं करना या करनेवालों की अनुमोदना करना दोनों का वही फल होता है । कुभोगभूमि में कौनसे जीव उत्पन्न होते हैं इसे त्रिलोकसार में गाथा ९२२, ९२३ और ९२४ में बताया है । आप मूल ग्रंथ में देखना । यही बात आचार्य १०८ श्री. सूर्यसागरजी महाराज विरचित संयमप्रकाश ग्रंथ में मुनिधर्मसंबंधी द्वितीय भाग में पृष्ठ ६२० पर लिखी है । यह ग्रंथ १०८ मुनिराज श्री धर्मभूषणजी महाराज की प्रेरणा से सन १९९५ में पुनः प्रकाशित हुआ है । अत्यंत मौलिक रचना है । श्रावकधर्म पर दो एवं मुनिधर्म पर दो ऐसे कुल चार भाग हैं । संतोषजी पाटनी, मंजू पाटनी आये हैं ना वाशिम के, उनके यहां मैंने इन ग्रंथों को देखा था जब हम वहां दशलक्षण पर्व में प्रवचनार्थ गये थे । ये ग्रंथ कहीं उपलब्ध नहीं थे, हमारे स्वाध्यायीयों में से एक ने दिल्ली के अनेक मंदिरों में जा-जाकर कहीं से कोई, कहीं से कोई भाग लाया है । वहां लिखते हैं –

जो जीव जिनलिंग अर्थात् मुनिवेष धारण करके मायाचार करते हैं, ज्योतिष, मन्त्र, वैद्यक आदि से आहारादिरूप आजीविका करते हैं वे कुभोगभूमि में जन्म लेते हैं । क्या कहा सुना ? आहार को आजीविका कहा, क्यों ? मुनिराजों को आहारदान देना तो समाज का अहोभाग्य है, कर्तव्य है, समाज कोई उनपर उपकार नहीं कर रहा । ज्योतिष, मन्त्र, वैद्यक आदि बताना मुनि का कार्य नहीं है । आहार के बदले में ये चीज़े करना या ऐसी चीज़े बताने से समाज आकर्षित होकर अपनी अच्छी व्यवस्था रखेगी यह तो मिथ्या अभिप्राय है । किसीको ज्योतिष बताना, मन्त्र, मणि अर्थात् रत्न चिकित्सा बताना, टिप्स देना कि चांदि में पैसा लगाओ, सोना खरीदो आदि उपदेश देना, औषधी बनाकर देना या उसका उपदेश देना आदि सभी बातें जो करते हैं उनके लिये कहा है कि आहारादिरूप आजीविका करते हैं ।

आगे लिखा है कि जो मुनिवेष धारण करके रुपया, पैसा आदि धन चाहते हैं वे कुभोगभूमि में उत्पन्न होते हैं । किसी भी बहाने से पैसा इकठ्ठा करना मुनियों का कार्य

नहीं है । तीर्थक्षेत्र बनाना हो या तीर्थों की रक्षा करना हो या अन्य किसी बहाने से दान इकठ्ठा करना मुनि का कार्य नहीं है । आगे लिखा है कि मुनिवेष धारण करके जो ऋद्धि, यश, साता रूप गारव से युक्त हैं, वे कुभोगभूमि में जन्म लेते हैं । गारव याने अभिमान । मुनिवेष धारण करके जो किसी ऋद्धि का, यश का, अन्य किसी अनुकूलता आदि का अभिमान करते हैं-मद करते हैं उनकी बात है । जो मुनिवेष धारण करके आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संबंधी वांछा-तीव्र लालसा रखते हैं वे कुभोगभूमि में उत्पन्न होते हैं । ये चारों संज्ञा तो चारों गति के जीवों में पायी जाती हैं, परंतु मुनिधर्म अंगीकार करके भी जो इनमें तीव्र रुचिवाला है उनकी बात चल रही है ।

आगे लिखा है कि जो मुनिवेष धारण करके समाज के अन्य गृहस्थों की परस्पर विधि मिलाकर विवाह कराते हैं-शादी-ब्याह रचाते हैं वे कुभोगभूमि में जन्म लेते हैं । मुनिपद जैसा उच्च पद अंगीकार करके यह कैसी विडम्बना ! कैसे-कैसे परिणाम करके जीव कहाँ-कहाँ जाते हैं ! वे ही नहीं, उनको अनुमोदना देनेवाले, उनको मुनि जैसा आदर, नमस्कार, आहारदान देनेवाले भी वहाँ जायेंगे । वहाँ जानेवाले जीव अपने शिष्यों को थोड़े ही छोड़कर जायेंगे ? साथ में लेकर जायेंगे-कुभोगभूमि में जायें या नरक-निगोद में जायें अपने शिष्यों को साथ लेकर जायेंगे । छहढ़ाला में उनको पत्थर की नाव-उपलनाव कहा है ।

ये मेरे मन की बातें नहीं है । त्रिलोकसार जो एक हजार वर्ष पहले आचार्य नेमिचन्द्रजी ने लिखा है उसकी गाथायें पढ़कर सुनाती हूँ । अभी तक एक ही गाथा का अर्थ चल रहा था, तीनों गाथायें पहले बता देती हूँ, फिर शेष दो गाथाओं का अर्थ करूंगी –

जिनलिंगे मायाविनो ज्योतिर्मंत्रोपजीविनः धनकांक्षिणः ।
अतिगारवसंज्ञायुताः कुर्वंति ये परविवाहमपि ।।९२२।।

दर्शनविराधिका ये दोषं नालोचयंति दूषणकाः ।
पंचाग्नितपसः मिथ्याः मौनं परिहृत्य भुंजते ।।९२३।।

दुर्भावाशुचिसूतकपुष्पवतीजातिसंकरादिभिः ।
कृतदाना अपि कुपात्रेषु जीवाः कुनरेषु जायंते ।।९२४।।

आप समझ सके इसलिए संस्कृत गाथायें बतायी, वैसे तो मूल प्राकृत में हैं । अब गाथा क्रमांक ९२३ का अर्थ देखते हैं – जो जीव मुनिलिंग-मुनिवेष धारण करके सम्यग्दर्शन की विराधना करते हैं-मिथ्यात्व का पोषण करते हैं वे कुभोगभूमि में उत्पन्न होते हैं । जो मुनिवेष धारण करके अपने किये हुये दोषों का श्रीगुरु (आचार्य) के पास जाकर आलोचना नहीं करते वे कुभोगभूमि में उत्पन्न होते हैं । मुनिवेष धारण करके जो अन्य जीवोंपर दोष लगाते हैं वे कुभोगभूमि में जन्म लेते हैं । जो मिथ्यादृष्टि पंचाग्नि साधन आदि प्रकार के तप (कुतप) करते हैं, जो मौन छोड़कर भोजन करते हैं वे कुभोगभूमि में जन्म लेते हैं । उसीप्रकार जो गृहस्थ दान देने के अयोग्य अवस्था में दान देते हैं अर्थात् दुर्भाव याने खोटे परिणामों से, अशुचि याने अपवित्र अवस्था में दान देते हैं, सूतकादि होनेपर भी जो दान देते हैं, स्त्री यदि रजस्वला अवस्था में दान देती है, जातिसंकर का अर्थ है इंटरकास्ट मैरेज, इसप्रकार दातार दोषसहित हो तो उसके दान देनेपर वह कुभोगभूमि में उत्पन्न होता है । जब दान देते हैं वहां दातार के गुण, पात्र याने जिसको दान दिया जाता है उसके गुण और जो द्रव्य दान में दिया जाता है उसका विचार होना चाहिये । जैसे पहले ही दिन हमने पढ़ा था कि वक्ता कैसा होना चाहिये और श्रोता कैसा होना चाहिये । वक्ता और श्रोता दोनों का सर्वज्ञ भगवान पर विश्वास होना चाहिये । उनके अस्तित्व का, उनके वीतरागी सर्वज्ञ स्वरूप का, केवलज्ञानी के ज्ञान का, उनकी वाणी का, उनके वाणी के अनुसार रचित आगमग्रंथों का, उन्होंने बताये हुये मुनि के स्वरूप का, मोक्षमार्ग का जिन्हें विश्वास नहीं है, वे योग्य वक्ता भी नहीं और योग्य श्रोता भी नहीं हैं । इसीतरह दान देनेवालों के गुणों का और कौनसे दोष टालकर दान दिया जाता है इसका ज्ञान होना आवश्यक है । जैसे दातार के गुण देखे, वैसे ही दान किसको दे रहे हैं उसका विवेक-विचार होना चाहिये । जिस चीज़ का दान दे रहे हैं उस दानद्रव्य का भी सही स्वरूप समझना चाहिये । केवल पैसे लिखवाये और हो गया दान ऐसा नहीं है ।

शास्त्र में चार प्रकार के दान कहे हैं – आहारदान, औषधदान, अभयदान, ज्ञानदान । आहारदान देते समय भी किसको देना उस बारे में पात्र-कुपात्र का विचार चाहिये । पात्र में भी मुनिराज-महाव्रती उत्तम पात्र हैं, श्रावक-व्रती मध्यम पात्र है और सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है । मुनिवेष धारण करके भी जो शिथिलाचारी हैं-भ्रष्ट हैं वे तो

कुपात्र हैं । कुपात्रदान के फल में जीव कुभोगभूमि में जन्म लेते हैं । इसलिए इन सबका विवेक होना चाहिये । अज्ञान के कारण भी ये दोष होंगे तो भी उनका फल वही होगा । इसका इलाज-उपाय है स्वयं ज्ञानी हो जाओ-ज्ञान अर्थात् शास्त्रों में से इसकी जानकारी प्राप्त करो । मुनि का स्वरूप, भगवान का स्वरूप हमें आगम के आधार से नक्की करना है । समाज में कौन सच्चा है, कौन झूठा है यह आगम के थर्मामीटर से नापते नहीं रहना है – हमारे जेब में खोटा सिक्का नहीं आता है ना इसके लिये सावधानी रखनी है । नहीं समझे ? बजार में खोटे-जाली नोट बहुत चलते हैं, अपने जेब में कोई खोटे नोट नहीं आते यह हमें देखना है, खोटे नोट छापनेवाले बहुत हैं उनके हाथ बहुत लम्बे ऊपर तक पहुंचे हैं, उनको खोजने नहीं निकलना है ।

हमें तो सच्चे देव, सच्चे गुरु, सच्चे धर्म का निर्णय करना है, मोक्षमार्ग का निर्णय करना है । हमारे अभिप्राय में, हमारी क्रियाओं में मिथ्यात्व का पोषण नहीं होता है ना उसे देखना है । 'समाज क्या कहेगा ?'-ऐसी चिंता छोड़ दो । समाज को दिखाने के लिये करना है कि अपना कल्याण करना है ? मनुष्यभव की दुर्लभता जानकर भी यह मनुष्यभव आप समाज के लिये गंवाना चाहते हैं ? क्या नरक-निगोद में यह समाज आपके साथ में आनेवाला है ? समाज को ही चाहते हो तो निगोद में सबसे बड़ा समाज मिलेगा । जब कभी मनुष्य में जन्म लेंगे तो बिना समाज के जन्म लेंगे क्या ?

हमने कितने सारे कारण देखे, वहां जीव मिथ्यात्व के पाप सहित किंचित् पुण्य उपार्जन करता है, यहां तो अल्प आयु है परंतु कुभोगभूमि में एक पल्य प्रमाण आयु भोगनी पड़ती है । यह किसी एक शास्त्र की बात नहीं है । पं. टोडरमलजी द्वारा लिखित त्रिलोकसार, आर्यिका विशुद्धमति माताजी द्वारा लिखित बड़ा त्रिलोकसार, तिलोयपण्णत्ती में भी यही बात लिखी है । यह जैनतत्त्वविद्या नामक पुस्तक है जो मुनि प्रमाणसागर द्वारा किया हुआ आगम वचनों का संकलन है उसमें करणानुयोग विभाग में पृष्ठ ८७ पर यह बात लिखी है । ये आचार्य विद्यासागरजी के शिष्य है । संयमप्रकाश ग्रंथ में भी यही बात है । इन सभी ग्रंथों के अभ्यासपूर्वक मैंने इन बातों को प्रस्तुत किया है । अब अपना समय हो चुका ।

बोलिये, विदेहक्षेत्र में विराजमान पंद्रहवें तीर्थंकर श्री ईश्वर भगवान की जय ।

१६. लवणसमुद्र के पाताल

श्री नेमिचन्द्राचार्य विरचित त्रिलोकसार ग्रंथ के आधार से हम त्रिलोक की रचना देख रहे हैं । अधोलोक, ऊर्ध्वलोक और मध्यलोक की हमने चर्चा की । मध्यलोक में असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं । उसमें हमने ढ़ाई द्वीप, जम्बूद्वीप और वहां के भरत, ऐरावत विदेहादि क्षेत्रों की चर्चा की । लवणसमुद्र और कालोदधि समुद्र में पाये जानेवाले अंतर्द्वीप अर्थात् कुभोगभूमि का भी वर्णन देखा । अब लवणसमुद्र और उसमें पाये जानेवाले पातालों की चर्चा करेंगे । उसके पहले जम्बूद्वीप और लवणसमुद्र के बीच स्थित कोट का वर्णन देखेंगे । पहले हमने इसे जगति या वेदिका कहा था । इसको प्राकार भी कहते हैं, ऐसे ही प्राकार समस्त द्वीप और समुद्रों के अंत में पाये जाते हैं ।

ये प्राकार चार गोपुर याने द्वारों से युक्त हैं । ये प्राकार नीचे बारह योजन चौड़े हैं, ऊपर चार योजन चौड़े हैं तथा आठ योजन ऊंचे हैं । पृथ्वी में दो कोस ऊंडी इनकी नींव है । नाना प्रकार के रत्नमयी ऐसे ये प्राकार हैं । इनकी नींव वज्रमयी है । वैडूर्य रत्नों से निर्मापित अति रमणीय शिखरों से संयुक्त ऐसी यह दीवाल जैसी रचना अर्थात् प्राकार प्रत्येक द्वीप और समुद्र के अंत में परिधिरूप सर्वत्र है । प्राकारों के ऊपर चौड़ाई के मध्य में कांगुरों की पंक्ति है जो सुवर्णमय है, दो कोस ऊंची और पांच सौ धनुष चौड़ी है । उसके दोनों तरफ अनेक वन, बावडी, मंदिर-प्रासाद हैं जहां व्यंतर देव रहते हैं । इन प्राकारों के पूर्वादि दिशाओं में चार द्वार हैं – विजय, वैजयंत, जयंत और अपराजित । इन तोरणयुक्त द्वारों के ऊपर प्रत्येक पर दो योजन चौड़ा, चार योजन ऊंचा प्रासाद है । उसके ऊपर आकाशतल में १२००० योजन लम्बा, ६००० योजन चौड़ा नगर है । उनके नाम भी विजयादि हैं, तथा उन नगरों में रहनेवाले व्यंतरदेवों के नाम भी विजयादि हैं ।

पूर्व-पश्चिम द्वार से सीता, सीतोदा नदी लवणसमुद्र में मिलती है । चौदह नदियों में से अन्य बारह नदियों के अन्य बारह द्वार भी इनमें हैं । अब हम लवणसमुद्र का वर्णन देखेंगे । जम्बूद्वीप एक लाख योजन व्यासवाला गोल है, उसको घेरे हुये यह

लवणसमुद्र एक ओर दो लाख योजन विस्तारवाला है । इसके एक ओर जम्बूद्वीप और दूसरी ओर धातकीखण्ड द्वीप है । परंतु इसकी गहराई कहां कितनी है समझने के लिये वह साइड व्ह्यू में कैसा दिखेगा उसकी बात करेंगे ।

आप चार्ट नं. ७ देखना । यहां ऊपर के दाहिने कोने में-ऊपर का राइट कॉर्नर-वहां नीले रंग का लवणसमुद्र है, उसके बाजू में ब्राऊन कलर में चित्रा पृथ्वी है और तल में वज्रापृथ्वी है । यह चित्र देखकर आपको आश्चर्य होगा क्योंकि यहां समुद्र की लेव्हल जमीन से भी ऊपर दिखायी है । हम अब तक स्कूलों में भूगोल में या लौकिक व्यवहार में देखते आये हैं कि समुद्र की लेव्हल-समुद्रसपाटी से हम कितने ऊंचे आये हैं उसकी बात करते हैं । यहां तो लवणसमुद्र कैसा है पता है ? जैसे एक नाव पर दूसरी नाव उलटी रखी हो वैसा है ।

इसकी सर्वाधिक गहराई इसके मध्य में होती है अर्थात् दोनों ओर से ९५००० योजन दूरीपर मध्य के जो १०००० योजन हैं वहां लवणसमुद्र की गहराई १००० योजन है । वहां इस समुद्र के तल में वज्रा पृथ्वी पायी जाती है । क्योंकि पहली पृथ्वी के १६००० योजन प्रमाण खरभाग में से सबसे ऊपर चित्रा पृथ्वी १००० योजन चौड़ी है । आप चार्ट में स्पष्ट जान सकते हैं कि जम्बूद्वीप और धातकीखण्ड के पास यह समुद्र जमीन के सतह से लेकर मध्य तक अधिक गहरा होता चला गया है-इसकी ऊंडाई बढ़ती गयी है । इतना ही नहीं, इसकी जमीन के लेव्हल से ऊंचाई भी बढ़ती गयी है । बीच में जहां यह १००० योजन ऊंडा है वहां ११००० योजन (कहीं इसे ७०० योजन कहा है) जमीन की लेव्हल से ऊंचा है । पूर्णिमा के दिन तक यह बढ़ते-बढ़ते उसकी ऊंचाई ५००० योजन (कहीं इसे दो कोस कहा है) बढ़कर १६००० योजन हो जाती है ।

मध्य में इस समुद्र का जल इतना ऊपर-नीचे होता है, जब ऊपर आता है तो दोनों ओर भी बहकर ९५००० योजन दूरीपर जो दोनों ओर द्वीप हैं वहां भरती याने ज्वार आता है जब मध्य में जल नीचे जाता है तब दोनों किनारों से जल खींचकर मध्य में आता है । तब हम उसे ओहोटी-भाटा कहते हैं, अंग्रेजी में ज्वार-भाटे को हाय टाइड-लो टाइड कहते हैं ।

जब ज्वार आता है तब पानी दोनों ओर ऊपर बढ़ता है और जब भाटा होता है तब दोनों ओर से पानी हटता है । तो आप मुझे बताना इतना सारा पानी जाता कहां है ? इसका उत्तर हम आगम के आधार से देखेंगे । अब जरा चार्ट नं. ८ देखिये । यहां मध्य में लाख योजन व्यासवाला जम्बूद्वीप है, उसके बाहर दो लाख योजन विस्तारवाला लवणसमुद्र है । लवणसमुद्र के मध्य में दोनों ओर से एक लाख योजन दूरीपर आपको एक गोलाकार रेषा दिखायी दे रही है । उसपर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में ये जो चार दिशाओं में चार गोल दिखायी दे रहे हैं वे सबसे बड़े ज्येष्ठ पाताल के मुख हैं, इनके मुख का व्यास १०००० योजन है । इनके बीच विदिशाओं में ऐसे ही चार गोल दिखायी दे रहे हैं, ये हैं मध्यम पातालों के मुख, जो १००० योजन व्यासवाले हैं । इन दिशा और विदिशाओं के बीच अंतराल में आपको जो ये डॉट्स-बिंदू दिख रहे हैं – हर एक अंतराल में १२५ के हिसाब से आठ अंतरालों में सब मिलकर एक हजार जघन्य पातालों के मुख हैं, जिनका प्रत्येक का व्यास १०० योजन है । इसतरह कुल १००८ पाताल हैं ।

अब इनका आकार देखने के लिये चार्ट नं. ७ देखना । ये मृदंग के आकार के हैं । समतल भूमि से नीचे का जो ऊंडाई का प्रमाण है उतनी इन पातालों की ऊंचाई जाननी । मध्य में इनका व्यास सर्वाधिक है, ऊपर और नीचे क्रम से घटता जाता है । इनका मुख और तल का व्यास समान है । इनमें से ज्येष्ठ पाताल की बात करते हैं । वह एक लाख योजन ऊंडा है । इतना कैसे होगा ? हमने पहली पृथ्वी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी देखी थी । उसमें ऊपर का खरभाग १६००० योजन का और पंकभाग ८४००० योजन का होता है । पंकभाग के अंत तक यह पाताल ऊंडा है अर्थात् इसके तल के नीचे अब्बहुल भाग है जहां प्रथम नरक का सीमंतक बिल है ।

इस पाताल की भित्तियां एवं तल वज्रमयी हैं, जिनकी मोटाई ५०० योजन है । अन्य मध्यम और जघन्य पातालों का प्रमाण भी देखते हैं ।

पाताल – योजनों में

पाताल	ऊंचाई	मध्य व्यास	मुख-तल व्यास	भित्तियों की मोटाई
ज्येष्ठ	१०००००	१०००००	१००००	५००
मध्यम	१००००	१००००	१०००	५०
जघन्य	१०००	१०००	१००	५

इन चार ज्येष्ठ पातालों के नाम इसप्रकार हैं – पूर्वादि दिशाओं में क्रम से पूर्व में वड़वामुख है । आपके चार्ट में इसे पश्चिम में बताया है । अलग-अलग शास्त्रों में पूर्व और पश्चिम के नाम उलट-पुलट हैं । त्रिलोकसार गाथा में पूर्व में वड़वामुख लिखा है । तिलोयपण्णत्ती में पश्चिम में लिखा है । दक्षिण में कदम्बक, पश्चिम में पाताल, उत्तर में यूपकेशरी नाम के पाताल हैं ।

अब इन पातालों के अंदर क्या है देखते हैं । प्रत्येक पाताल के ऊंचाई के तीन भाग करनेपर ऊपर के त्रिभाग में केवल जल ही पाया जाता है, नीचे के त्रिभाग में केवल पवन ही पाया जाता है और मध्य के त्रिभाग में जल-पवन मिश्ररूप पाये जाते हैं । जरा गौर से देखना, चार्ट नं. ७ में भी यह दिखाया है । इन पातालों के मुख लवणसमुद्र के तल में हैं । इन पातालों के तीन भागों में से मध्य का जल-पवनवाला त्रिभाग नीचे के त्रिभाग में स्थित पवन के कारण चलाचल होता है । पातालों के पवन सर्वकाल स्वभाव से ही शुक्लपक्ष में बढ़ते हैं और कृष्णपक्ष में घटते हैं । कृष्णपक्ष में मध्य त्रिभाग में जल की वृद्धि होती जाती है तो समुद्र का जल पातालों में आ जाता है, शुक्लपक्ष में मध्य त्रिभाग में पवन की वृद्धि होती जाती है तो जल बाहर समुद्र में आ जाता है, ऊपर उछलता है ।

पूर्णिमा को पातालों के तीन भागों में से नीचे के दो भागों में वायु अर्थात् पवन और ऊपर के त्रिभाग में केवल जल विद्यमान रहता है । अमावस्या को ऊपर के दो भागों में जल और नीचे के एक भाग में केवल पवन विद्यमान रहता है ।

ज्येष्ठ पातालों में उनका त्रिभाग अर्थात् एक लाख योजन का त्रिभाग ३३३३३$\frac{१}{३}$

योजन है, मध्यम पातालों का त्रिभाग दस हजार योजन का त्रिभाग ३३३३$\frac{१}{३}$ योजन है और जघन्य पातालों का त्रिभाग एक हजार योजन का त्रिभाग ३३३$\frac{१}{३}$ योजन है । अपने-अपने पातालों में मध्य त्रिभाग में कृष्णपक्ष के पंद्रह दिन तक जल की वृद्धि होती है, शुक्लपक्ष के पंद्रह दिन तक पवन की वृद्धि होती है । ज्येष्ठ पातालों में पंद्रह दिनों में ३३३३३$\frac{१}{३}$ योजन वृद्धि होती है इसलिए इसको पंद्रह का भाग देनेपर एक दिन में वृद्धि का प्रमाण आता है । ऐसे ही मध्यम और जघन्य पातालों में अपने-अपने त्रिभाग को पंद्रह का भाग देनेपर प्रतिदिन में वृद्धि का प्रमाण आता है ।

प्रश्न – कौनसे पाताल के नीचे सीमंतक बिल है ?

उत्तर – सीमंतक बिल जो प्रथम नरक के प्रथम पाथडे का इन्द्रक बिल है उसका विस्तार पैंतालीस लाख योजन अर्थात् पूरे ढ़ाई द्वीप जितना है । इसलिए चारों ही ज्येष्ठ पातालों के तल में सीमंतक बिल है । मध्यम पाताल तो १०००० योजन ऊंडाईवाले हैं, वे तो प्रथम रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग में स्थित हैं । हां, यहां कोई भवनवासियों के भवन भी नहीं होंगे, वे तो बाहरी द्वीपों-समुद्रों के नीचे पाये जाते हैं ।

ज्येष्ठ पातालों के दोनों पार्श्वभागों में एक-एक पर्वत है जो जल से १००० योजन ऊंचे हैं, धवलवर्ण के हैं, उनपर व्यंतरदेव रहते हैं ।

यहां दुबारा किसी का प्रश्न है कि इन द्वीपों, समुद्रों, पातालों को जानने से क्या लाभ है ? यह प्रश्न श्री बल्लूभाई से कोई पूछ रहा है । ये बल्लूभाई हमारे सबसे युवा मुमुक्षु है, उमर केवल पंचानबे वर्ष की है, वे कह रहे हैं कि आपने पहले ही दिन समझाया था लेकिन मैं भूल गया हूँ, अब किसीका प्रश्न है, कृपया समझा दीजिये ।

तो सुनिये – करणानुयोग के इन सभी विषयों के बारे में चाहे त्रिलोकरचना हो या कर्मों की अवस्थायें या गुणस्थान-मार्गणास्थान, यही प्रश्न सब लोग पूछते हैं कि इनको जानने से हमें क्या लाभ है ? उनके अभिप्राय में-प्रश्न पूछने के तरीके से यह बात ख्याल में आती है कि इनका कहना है कि ये बेकार की फालतू बातें क्यों

करना ? मेरा प्रतिप्रश्न है कि जानने से आप कौनसा लाभ चाहते हैं ? इनको जानने से हमारा ज्ञान सही हो जाता है यही लाभ है । उस संबंध में अज्ञान का नाश यही जानने का फल है । मुझे बताना, केवलज्ञानी एक समय में युगपत् इन सभी चीज़ों को जान रहे हैं उनको कौनसा लाभ हो रहा है ? आप कह रहे हैं वह तो उनका स्वभाव है । हां, यहां हम-आप जो जान रहे हैं वह भी तो अपना स्वभाव है, हम और आप अपने स्वभाव ही से तो जान रहे हैं ।

यह जो त्रिलोकरचना की बातें इतनी गहराई से जान रहे हो वह किस कारण से ? कोई कह रहे हैं, 'आपने सिखाया इसलिये' । तो सुनो – निमित्त से कार्य नहीं होता । ज्ञान की प्रत्येक पर्याय अपने से होती है । जानना जीव का-हमारा स्वभाव है, क्या जानना वह ज्ञेय भी निश्चित है । यहां जानने का निषेध क्यों होता है यह बात मेरे ख्याल में नहीं आती । आप पूछ रहे हैं इसे जानने से क्या लाभ है ? मैं पूछती हूँ इसे जानने से नुकसान क्या है ? मैं यह भी पूछना चाहती हूँ कि केवल करणानुयोग के जानने संबंधी ही यह प्रश्न क्यों उठता है आपके मन में ? जब टी.व्ही. पर क्रिकेट मॅच देखते हो तब यह प्रश्न क्यों नहीं उठता ? वहां एक गेंद अपने उपादान से यहां से वहां उछलती है, उसके पीछे वहां तो ग्यारह ही खिलाड़ी हैं उनमें से कोई दौड़ते हैं और यहां करोड़ों लोग सोफापर बैठे-बैठे उछलते हैं, वहां उसको जानने से क्या लाभ होता है – यह तो प्रश्न कोई नहीं पूछता । टी.व्ही. पर न्यूज चॅनेल-खबरें चलती हैं उसको जानने से क्या लाभ ? वह जाने दो, जो राग-द्वेष भरी टी.व्ही. सिरियल्स, मूव्हीज चलती हैं उसे जानने से क्या लाभ ? मैं तो कहती हूँ कि उनको जानने से जो राग-द्वेष के परिणाम होते हैं, आकुलता होती है, राग-द्वेष के कारण कर्मबंध होता है वहां तो नुकसान ही नुकसान है । टी.व्ही. पर चलनेवाली धारावाहिकों के पात्रों से दर्शक एकाकार होते हैं, उनके दु:खों से स्वयं दु:खी होते हैं, यदि वहां हीरो हाथ में पिस्तौल होते हुये भी मार खा रहा है तो वे बैठे-बैठे कहते हैं 'अरे, चलाओ ना गोली' । भैया, वह नाटक है, उसे गोली नहीं चलाने के, मार खाने के पैसे मिल रहे हैं और आप जो भाव कर रहे हैं उन प्रत्येक परिणाम का वैसा कर्मबंध हो रहा है । यह है बेकार की सजा-अनर्थदण्ड ! उन सभी कर्मों का फल जरूर भुगतना पड़ेगा ।

यहां तो हम सत्य वस्तुस्थिति जान रहे हैं, यहां कोई स्थूल राग-द्वेष या हिंसादि

पापों का विचार नहीं आता । हमारे यहां घरपर रोज सुबह डेढ़ घण्टा करणानुयोग का स्वाध्याय चलता है, जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार-क्षपणासार, धवला, जयधवला के पश्चात् अभी महाधवला ग्रंथ का स्वाध्याय चल रहा है । डेढ़ घण्टा कब बीत जाता है पता ही नहीं चलता । आत्मा का स्वभाव जानना है, तो वह सही जान रहा है वहां ज्ञान का विकास हो रहा है कि ऱ्हास हो रहा है ? द्रव्यानुयोग का भी हमारा वैसा ही रोज दो घण्टे सामूहिक स्वाध्याय चलता है । करणानुयोग के अभ्यास से द्रव्यानुयोग के सिद्धांतों की अतिशय दृढ़ता होती जाती है ।

कौनसे परिणामों से कौनसे कर्म बंधते हैं ? कौनसे गति के जीव कौनसे कर्म बांधकर कहां जन्म लेते हैं, मिथ्यात्व के कारण जीव कहां-कहां उत्पन्न होते हैं, कौनसे पर्यायों में अधिक से अधिक कितने काल तक जन्म-मरण करता रहता है, उनकी संख्या-उनके रहने के स्थान, कर्मों की निर्जरा कौनसे गुणस्थानों में किस विधि से होती है, कर्मों की क्षपणा कैसे होती है – ये सारी बातें पढ़ते पढ़ाते समय ज्ञान की अत्यंत एकाग्रता होती है, विशुद्धि बढ़ती है । कोई भी अनुयोग हो उसमें एकाग्रता से विशुद्धि बढ़ती है । अमृचन्द्राचार्य ने भी समयसारजी की टीका लिखते समय कहा है कि 'मम परमविशुद्धिर्भवतु' ।

ज्ञान की इस एकाग्रता में विशुद्धि बढ़नेपर तत्त्वविचार के काल में जीव अपने आत्मा में लीन हो जाता है । करणानुयोग के गणित तो हमने यहां छोड़ दिये हैं । वे गणित समझते-समझते भी ऐसी एकाग्रता होती है । उस काल में आत्मसन्मुखतापूर्वक सम्यग्दर्शन होता है जिसे बीजसम्यक्त्व कहते हैं । आप कहेंगे हम टी.व्ही. भी एकाग्रता से देखते हैं, शेअर्स के भाव भी एकाग्रता से सुनते-पढ़ते हैं – वहां अभिप्राय की और ज्ञान की भूलें रखकर जो एकाग्र हो जाते हैं उनको अपने आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता-उनकी तो आकुलता बनी ही रहती है, राग-द्वेष होते रहते हैं ।

राग-द्वेष रहित अर्थात् वीतरागता (आंशिक) के साथ किसी एक विषय को जानते रहनेरूप ध्यान तो श्रेणी में भी होता है, उसे शुक्लध्यान कहते हैं । श्रेणी भी वे ही जीव चढ़ते हैं जो पूर्वधारी हो-चौदह पूर्व के ज्ञाता हो या दस पूर्व के ज्ञाता हो । हम अपनी कल्पना से ही किसी अनुयोग का निषेध करने लगते हैं, यह ठीक नहीं

है । द्रव्यानुयोग से तत्त्वज्ञान का अभ्यास करके सिद्धांतों को जानकर उसका तो विचार-चिंतन होना ही चाहिये । परंतु हमारा मन मर्कट से समान है, चंचल है, उसको नित्य नया अवलम्बन चाहिये । टी.व्ही. देखनेवाले हाथ में रिमोट कंट्रोल लेकर बार-बार चॅनेल्स क्यों बदलते रहते हैं ? कहां क्या चल रहा है ? – यह जानने की आकुलता-राग इसे शांति से बैठने नहीं देता ।

पं. टोडरमलजी ने सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका में पीठिका लिखी है । वहां कोई द्रव्यानुयोग का पक्षपाती है, कोई चरणानुयोग का, कोई प्रथमानुयोग का, कोई व्याकरण-अलंकार का, कोई धन कमाने का आदि सभी जीवों को उनकी मान्यता-सोच कैसे गलत है उसे बहुत अच्छी तरह से समझाया है । वह अवश्य पढ़ना चाहिये ।

यहां जो हम इस विषय को जान रहे हैं वह जानना कहां से हो रहा है ? इन चार्ट में से हो रहा है या इस जड़ वाणी में से हो रहा है ? यह प्रत्येक की ज्ञानपर्याय अपने से खिल रही है । हम सब अपनी-अपनी योग्यता से जान रहे हैं और यदि हम जानने का ही निषेध करेंगे तो ज्ञानस्वभाव का-सर्वज्ञ स्वभाव का निषेध होता है ।

यह ज्ञान सहजरूप से होता है । किसी की क्या ताकत है कि सबको इकठ्ठा करे और सबमें ज्ञान भर दे । कोई विषय समझ में नहीं आता वह अलग बात है परंतु यदि अभिप्राय में उसका निषेध है और पढ़ने-पढ़ाने का निषेध करेंगे तो बहुत बड़ी भूल है । ये शास्त्र-ग्रंथ तो हमारी धरोहर है । लौकिक सम्पत्ति तो हम अपने बच्चों के लिये कमाकर रखना चाहते हैं, जब कि वह पुण्य के आधीन है । यदि हम इन विषयों को पढ़ेंगे तो ही कार्यकारी है, मात्र शास्त्र छपवाने से कुछ नहीं होगा ।

आज कल तो छपाई आदि की कितनी टेकनिक् बढ़ गयी है, कापी करना है तो भी झेरॉक्स मशीन से सेंकडों कापियां मिनटों में होती हैं । जरा सोचो जिन मुनियों ने इन ग्रंथों की रचना की थी – आचार्य कुंदकुंद हो या आचार्य नेमिचन्द्र हो, उन्होंने तो तालपत्रों पर लिखा था । उस जमाने में पेपर और पेन तो थे नहीं । तालपत्र पर लिखने की प्रोसेस-विधि भी आपको पता नहीं होगी । ताल वृक्षों के गिरे हुये पत्तों पर अक्षर उकेरते थे, बाद में उसे वनस्पती से बनाये हुये रंगों से पूर दिया जाता था । उस जमाने के श्रावकों ने कितनी मेहनत से इन्हें सम्हाला, इसकी प्रतिलिपियां

बनायी, हिफाज़त से रखी, स्वयं पढ़ा तथा इतने सेंकडों-हजारों वर्ष तक वे शास्त्र उपलब्ध रखे । उन सभी के हमारे ऊपर महान उपकार हैं ।

हम भी इसे पढ़े-अपने कल्याण के लिये और तब सहजरूप से भाव आता है कि इसे पढ़े-पढ़ायें-नई तकनिक से इसे प्रिझर्व्ह करें । आजकल कॉम्प्युटर टेक्नॉलॉजी कितनी बढ़ गयी है । आज आपके प्रत्येक के हाथ में इन चार्ट की इतनी कलर झेरॉक्स कापिया हैं – कितने, चार सौ तो सेटस् यहां नि:शुल्क वितरित किये गये हैं – आप लोगों में से ही दातारों के कारण यह सुविधा प्राप्त हो सकी है ।

जो पढ़ना चाहता है उसे तो अनेक साधन-सुविधायें उपलब्ध हैं । यहां जो यह मूव्ही उतारी जा रही है और घर पर स्वाध्याय चलता है उसकी रोज साढ़े तीन घण्टों की रेकॉर्डिंग होकर सीडीज् बनती हैं, उन सी.डी. और डी.व्ही.डी. का लाभ देश-विदेश के अनेक लोग ले रहे हैं ।

ऐसे प्रश्न आते हैं तो हम भी विषय छोड़कर कहीं खो जाते हैं । अन्य भी प्रश्न है कि समुद्घात क्या है ? उसकी बात कल करेंगे । समुद्घात के प्रकार, कौन जीव कौनसे समुद्घात करके कहां तक उनके आत्मप्रदेश फैलते हैं आदि विस्तार से कहने के लिये अभी समय नहीं है ।

प्रश्न – कुभोगभूमिवाले कुमानुष गर्भज होते हैं क्या ?

उत्तर – हां, अन्य भोगभूमि-कर्ममूमि के मनुष्यों के समान वे भी गर्भज होते हैं ।

दूसरा प्रश्न है कर्म कैसे खिरते हैं ?

उत्तर – यह कर्मकाण्ड का विषय है, उस विषय के शिबिरों में हमने विस्तार से समझाया है, यहां उसको समझाना शक्य नहीं है । अब यहीं विराम लेते हैं ।

बोलिये, विदेहक्षेत्र में विराजमान सोलहवें तीर्थंकर श्री नेमिप्रभ भगवान की जय ।

१७. ज्योतिष्कविमान

श्रीमद् नेमिचन्द्र आचार्य विरचित त्रिलोकसार ग्रंथ के आधार से हम यहां त्रिलोक का स्वरूप देख रहे हैं । अधोलोक का वर्णन देखते समय हमने भवनवासी, व्यंतर देवों की चर्चा की थी तथा ऊर्ध्वलोक संबंधी वर्णन देखते समय हमने कल्पवासी और कल्पातीत जो वैमानिक देव हैं उनकी भी चर्चा की थी ।

देवगति के देवों में से ज्योतिषि देवों की चर्चा अब तक नहीं की थी क्योंकि इन ज्योतिषि देवों के विमान मध्यलोक में पाये जाते हैं । मध्यलोक का स्वरूप समझे बिना, वहां के द्वीप-समुद्रों का प्रमाण एवं रचना समझे बिना ज्योतिषियों के विमानों को समझना कठिन होता, इसलिए अब हम उनकी चर्चा करेंगे ।

मध्यलोक के असंख्यात द्वीप समुद्रों के ऊपर भूमितल से अर्थात् पहली पृथ्वी के ऊपर हम जहां रहते हैं, वहां से सात सौ नब्बे योजन ऊपर जाकर वहां से लेकर नौ सौ योजन तक ये सारे सूर्य, चन्द्र, तारे पाये जाते हैं । इस एक सौ दस योजन के पट्टे में ही ये सारे पाये जाते हैं । हम यहां रात में बैठे-बैठे तारे गिन सकते हैं या नहीं ? रात की क्या बात करते हो, मैं आपको दिन में तारे गिनकर बताऊंगी, हां उसके लिये आगमचक्षु की आवश्यकता है । प्रवचनसार में आता है ना कि सभी जीव इन्द्रियचक्षुवाले हैं, देव अवधिचक्षुवाले हैं, मुनिराज आगमचक्षुवाले हैं और सर्वज्ञ भगवान सर्वत:चक्षुवाले हैं ।

सर्वत:चक्षुवालों ने-सर्वज्ञ भगवान ने-तीर्थंकरों ने सब कुछ जानकर जो बताया उसके अनुसार मुनियों ने आगम की रचना की है । उन आगमरूपी नेत्रों के द्वारा देखकर हम यहां बैठे-बैठे सभी तारों की गिनती करके बतायेंगे । चन्द्र, सूर्य, तारे, नक्षत्र सबकी टोटल हम यहां करेंगे । इनको ज्योतिष्क विमान या ज्योतिष्कबिम्ब कहते हैं ।

मध्यलोक में १ राजू लम्बी चौड़ी त्रसनाली के पूर्व और पश्चिम दिशा में अंत में जो घनोदधिवातवलय है वहां तक अर्थात् असंख्यात द्वीप और समुद्र जहां तक हैं वहां तक ये सारे ज्योतिष्क विमान पाये जाते हैं । मध्य में मेरुपर्वत से ग्यारह सौ इक्कीस योजन दूरी पर से इनका भ्रमण होता है । ढ़ाई द्वीप तक अर्थात् मनुष्यलोक तक के

चन्द्र, सूर्य, तारे घूमते हैं-मेरु की प्रदक्षिणा करते हैं, उनमें से बहुत से तारे स्थिर भी हैं परंतु ढ़ाई द्वीप के बाहर के द्वीप और समुद्रों के ऊपर जो ज्योतिष्क विमान हैं-जो सूर्य, चन्द्र, तारे हैं वे सब स्थिर हैं-उनका भ्रमण नहीं होता ।

हम जो यहां देखते हैं कि सूर्योदय हुआ, सूर्यास्त हुआ, चन्द्र निकला, नक्षत्र तारों का भी भ्रमण हम देखते हैं, यह तो मात्र मनुष्यलोक के ऊपर ही पाया जाता है । उसके बाहर असंख्यात द्वीप और समुद्रों पर जो चन्द्र, सूर्य, तारे हैं वे जहां के तहां स्थिर हैं, वे घूमते नहीं है । जहां सूर्य स्थिर हैं वहां सतत सूर्यप्रकाश ही है, जहां अंधेरा है वहां केवल अंधेरा ही है ।

दिन और रात का यह परिवर्तन तो मात्र मनुष्यलोक में ही होता है । हम दिन, रात, महिना, वर्ष आदि नापते हैं यह तो हमारी अपेक्षा-मनुष्यों की अपेक्षा नापते हैं । वैमानिक देवों की बात करते हुये हमने देखा था कि वहां जितने सागर की आयु होती है उतने हजार वर्षों के बाद भोजन की इच्छा होती है और उतने पक्ष बाद श्वास लेते हैं । यह हिसाब तो हमारी अपेक्षा है क्योंकि हमें अपनी भाषा में समझना है । म्लेच्छ लोग म्लेच्छ भाषा में समझते हैं वैसे हम दिन-रात की अपनी भाषा में काल को समझते हैं । चन्द्र और सूर्य अपनी-अपनी विशिष्ट कक्षा में घूमते हैं-भ्रमण करते हैं उसके कारण यहां दिन-रात का विभाजन होता है ।

जब हम सुनते हैं कि 'तीर्थंकर देव सौ इन्द्रों की हाजरी में ऐसा फरमाते हैं' तब उन सौ इन्द्रों में ज्योतिष्क देवों के दो इन्द्र होते हैं एक चन्द्र (इन्द्र) और एक सूर्य (प्रतीन्द्र) ।

प्रश्न – चन्द्र और सूर्य अपनी जगह छोड़कर समवशरण में आते होंगे ? तो लोगों का क्या हाल होता होगा ?

उत्तर – चन्द्र और सूर्य जो आप देखते हैं वे तो उन देवों के विमान हैं-ज्योतिषि देवों के रहने के स्थान हैं । ना ही चन्द्र यहां आता है, ना ही सूर्य यहां आता है, चन्द्रइन्द्र और सूर्यइन्द्र यहां आते हैं । इनके रहने के स्थान को विमान कहते हैं । ये अर्धगोलाकार होते हैं जैसे कोई नींबू को आधा करके उसका ऊपर का भाग सीधा (सपाट) और नीचे का गोलाकार करके रखेंगे वैसे ये विमान होते

हैं । ऊपर के सतहपर-सपाटीपर उनके जिनगृह, जिनमंदिर आदि होते हैं । रहने के मंदिर-महल भी होते हैं ।

ये सभी विमान पृथ्विकायिकों के शरीरों से बने हैं । सूर्य विमान के पृथ्विकायिकों के आतप नामकर्म का उदय होता है, उनके उष्णतायुक्त प्रभा होती है । चन्द्रविमान के पृथ्विकायिकों के उद्योत नामकर्म का उदय होता है । वहां के देवों के तो वैक्रियिक शरीर पाया जाता है । ये सारे देव विक्रिया करके एक या अनेक शरीर बनाते हैं, उस वैक्रियिक शरीर द्वारा समवशरण तथा अन्य जगह जाते हैं । जैसे, अष्टान्हिका में नंदीश्वर द्वीप में, क्रीडा करने के लिये अन्य द्वीप और समुद्रों में जाते हैं । उनके मूल शरीर सहित वे देव या इन्द्र तो अपने स्वर्गों में ही रहते हैं । विक्रिया द्वारा अन्य शरीर बनने को वैक्रियिक समुद्घात कहते हैं । उनके आत्मप्रदेश दोनों जगह फैले रहते हैं, उनका कनेक्शन टूटता नहीं है । आत्मा तो एक अखंड द्रव्य है ना, उसके टुकड़े तो होते नहीं । केवल शरीर बनाकर भेजते नहीं हैं, वे स्वयं उसमें हैं, नहीं तो समवशरण में केवल जड़ शरीर ही आता है क्या ? वह क्या सुनेगा और समझेगा ?

देव तो विक्रिया भी करते हैं, विहार करके भी जा सकते हैं । आपने आहारक शरीर का नाम सुना है । वहां भी मुनिराज के तो औदारिक शरीर है, जब वे आहारक शरीर बनाकर उसके साथ समवशरण आदि में चले जाते हैं वहां दोनों शरीरों के बीच में आत्मप्रदेश फैले रहते हैं । आज कल आपने लेसर बीम्ज देखी है । लेसर की प्रकाश किरणें जैसी दूर तक फैलती है वैसे ही कुछ कल्पना कर सकते हो ।

इन सभी ज्योतिष्क विमानों के ऊपर ज्योतिषि देवों के नगर हैं जो जिनमंदिरों से युक्त हैं । हम जब अकृत्रिम जिन चैत्यालयों की पूजन करते हैं तब अधोलोक के सात करोड़ बहत्तर लाख चैत्यालयों को, ऊर्ध्वलोक के-वैमानिकों के चौरासी लाख सत्तानबे हजार तेइस चैत्यालयों को और मध्यलोक के चार सौ अट्ठावन चैत्यालयों को अर्घ्य चढ़ाते हैं । तो क्या ज्योतिषियों और व्यंतरों के पास कोई जिनमंदिर नहीं है ? हैं, वे तो असंख्यात हैं, हमारे गिनती से बाहर हैं । प्रत्येक ज्योतिष्कबिम्ब में वहां जिनमंदिर है । आपने प्रथमानुयोग में पढ़ा होगा कि भरत चक्रवर्ती सूर्यबिम्ब के जिनबिम्बों को नमस्कार करता है ।

इन ज्योतिष्क विमानों में प्रत्येक में संख्यात ज्योतिषि देव रहते हैं । वे ज्योतिषि देव हैं-भवनत्रिक में से एक है परंतु हमने ज्योतिष बतानेवाले को-राशिफल बतानेवाले को ज्योतिषि बना दिया है । फलज्योतिष भी जानकर क्या करोगे ? जो होनेवाला है वह बदल नहीं सकता और जो बदल सकता है वह होनेवाला नहीं है । परंतु उसके पीछे दौड़कर हम अपना वर्तमान का अमूल्य समय बरबाद करते हैं ।

ये ग्रह, नक्षत्र हमें कुछ देते नहीं, उनके कारण हमारे संयोग बदलते नहीं और संयोग कैसे भी क्यों न बदल जाय ? उसमें हमारा क्या बिगड़नेवाला है, हमारा क्या लाभ-नुकसान है ? हमें तो संयोगों से अपनी भिन्नता जानना है । तो क्या पहले संयोग सुधारकर बाद में उनसे भिन्नता समझना है ? शरीर से हम भिन्न हैं समझने के लिये पहले पार्लर में जाकर शरीर को संवारना-सजाना पड़ेगा ?

ये सारी मिथ्या कल्पनायें हैं । मिथ्यात्व भी नयी-नयी फॅशन लेकर आता है । आपको पता नहीं ? वास्तुशास्त्र, फेंगशुई के नाम पर घर की रचना अमुक प्रकार से करने से मैं सुखी होऊंगा, मुझे धन मिलेगा, मेरे पर संकट नहीं आयेगा ये बातें भ्रांति नहीं तो और क्या है ?

प्रत्येक वस्तु स्वयं परिणमनशील है । बार-बार हम शास्त्रों में पढ़ते हैं कि निमित्तकारण परद्रव्य में कुछ नहीं करता, प्रत्येक द्रव्य स्वत:सिद्ध है तथा उसका परिणमन उसके स्वयं के आधीन है-स्वयं से होता है-होनेयोग्य ही होता है-अपने स्वसमय में ही होता है । प्रत्येक द्रव्य की अनादि से लेकर अनंत काल तक की प्रत्येक पर्याय निश्चित है, उसका क्रम निश्चित है, उसका समय निश्चित है, उसका निमित्त भी निश्चित है । यदि इस निश्चितता का निर्णय हो जाये तो उनकी तरफ से यह जीव निश्चिंत होकर-स्व या पर की पर्यायों की चिंता छोड़कर अपने स्वस्वभाव को जानते रहेगा तो उसे सच्चे सुख की-अनंतसुख की प्राप्ति हो जायेगी । परंतु जिसमें हमारा कुछ नहीं चलता और जिसमें से सुख या दुख कुछ नहीं मिलता ऐसे संयोगों में हम सुख-दु:ख की कल्पना करके उनको जुटाने या हटाने में अपना जीवन खो देते हैं ।

ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज कोई आयुक्षय से मरकर तैंतीस सागर आयुवाले सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न होते हैं । एक समय में ग्यारहवें गुणस्थान की पूर्ण वीतरागता से

गिरकर विग्रहगति में चौथे गुणस्थानवर्ती देव होते हैं । तो अधिक सुखी कब थे ? मुनिअवस्था में या सर्वार्थसिद्धि में ? वहां तो ३३ सागर तक रत्नमयी महल, कल्पवृक्षों से सभी चीज़ें-भोग उपलब्ध रहते हैं । मुनिराज तो जंगल में रहते थे ।

यहां तो हमने संयोगों को-भोगों को सुख का कारण माना, वे धन से प्राप्त होंगे ऐसा लगता है इसलिये उस पैसेरूपी साधन के पीछे दुनिया पागल की भांति दौड़ रही है, सब दौड़ते हैं इसलिए हम भी दौड़ते हैं ।

मेरी एक सहेली है-जैन है-डॉक्टर है, आज से पंद्रह साल पहले मुझे कहने लगी, 'तू मूरख है, प्रैक्टिस छोड़कर धरम के पीछे लगी है, देख मैं तो फावड़े से पैसा कमाती हूँ ।' मैंने उससे कहा, 'अच्छा तू फावड़े से कमाती है परंतु खाना तो चम्मच से ही खाती है ना ?'

हमें तो आजीविका के लिये पर्याप्त धन कमाकर अधिक से अधिक समय अपने शुद्धात्मा को पहचानने में लगाना है-यह मनुष्यभव सार्थक करना है । परंतु हम तो हमारी सात पीढ़ी बैठकर खायें इतना कमाकर रखना चाहते हैं । परंतु पुण्य-पाप का रहट चलता रहता है, कमाया हुआ धन भी चला जाता है या हो तो भी रोग में, पुत्रवियोग में अथवा अन्य संकट में काम नहीं आता ।

अभी हम ज्योतिष्कलोक की बात कर रहे हैं । प्रथम पृथ्वी से सात सौ नब्बे योजन ऊंचाई पर तारे हैं, वहां से दस योजन ऊपर सूर्य है, उससे अस्सी योजन ऊपर चन्द्र है, उससे चार योजन ऊपर नक्षत्र हैं, उससे चार योजन ऊपर बुध नाम का ग्रह है, उससे तीन योजन ऊपर शुक्र है, उससे तीन योजन ऊपर जाकर गुरु (बृहस्पति) है, उससे तीन योजन ऊपर जाकर मंगल (अंगार) है और उससे तीन योजन ऊपर जाकर शनि है । उसका नाम है शनैश्चर अर्थात् मंदगति से चलनेवाला । ये सारे रहते तो हैं वहां, परंतु इनके नामों से अर्थात् शनि-मंगल आदि से हम डरते रहते हैं ।

अब इनका विस्तार-साइझ क्या है देखते हैं ।

चन्द्र विमान छप्पन बटे इकसठ योजन व्यासवाला है, सूर्य विमान अड़तालीस बटे इकसठ योजन का है । शुक्र एक कोस का है; गुरु एक कोस से कुछ कम

है; बुध, मंगल और शनि आधे कोसवाले हैं । तारा विमान कुछ छोटे कुछ बड़े आकारवाले हैं – एक कोस के चौथाई भाग से लेकर एक कोस तक के हैं । नक्षत्र एक कोसवाले हैं ।

ये तारे, नक्षत्र अपनी-अपनी परिधि में गमन करते हैं तथा चन्द्र, सूर्य, ग्रह अपनी परिधि में गमन करते हैं, उनका अपना-अपना भ्रमणक्षेत्र (चारक्षेत्र) होता है उनका अलग-अलग परिधि पर भ्रमण होता है । हम देखते हैं कि उत्तरायण, दक्षिणायन होते हैं, नहीं पता ? देखो सूर्य तो पूर्व दिशा में ऊगता है परंतु कभी दक्षिण दिशा की तरफ तो कभी उत्तर की तरफ से उस एंगल से निकलता है । छ-छ महिनों में दक्षिणायन से उत्तरायण की तरफ जाता है । चन्द्र-सूर्य की परिभ्रमण की गलियां भी अलग-अलग होती हैं ।

जम्बूद्वीप में दो चन्द्र और दो सूर्य हैं । जम्बूद्वीप में चन्द्र के भ्रमण की पंद्रह गलियां हैं और सूर्य की एक सौ चौरासी गलियां हैं । चन्द्र का इन पंद्रह गलियों में परिभ्रमण होने के कारण कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष की विविधता बनती है ।

अब हम इन तारों की गिनती का असम्भव कार्य करेंगे । ये सूर्य, तारे, ग्रह, नक्षत्र चन्द्र के परिवार है । हम सूर्य को मुख्य करके उसके साथ जो ग्रह, नक्षत्र, तारें हैं उन्हें सूर्यमाला कहते हैं । परंतु यहां चन्द्र मुख्य है और प्रत्येक चन्द्र के परिवार में क्या-क्या है-देखते हैं । एक स्वयं चन्द्र है । एक चन्द्र के साथ एक सूर्य, अठ्ठासी ग्रह, अट्ठाइस नक्षत्र, छासठ हजार नौ सो पचहत्तर कोडाकोडी तारे होते हैं । सब मिलकर १ + १ + ८८ + २८ + ६६९७५ कोडाकोडी अर्थात् ६६९७५ कोडाकोडी + ११८ इतना एक-एक चन्द्र का परिवार है । अब हम कुल चन्द्रों को गिनेंगे तो हमें सभी ज्योतिष्क विमानों की कुल संख्या मिल जायेगी ।

जम्बूद्वीप में दो चन्द्र और दो सूर्य हैं । एक ही गली में दो चन्द्र और दो सूर्य भ्रमण करते हैं । हम आज जो सूर्य देख रहे हैं उसे हम परसों देखेंगे, कल दूसरा सूर्य देखेंगे । लवणसमुद्र में चार चन्द्र और चार सूर्य हैं । धातकीखण्ड में बारह चन्द्र और बारह सूर्य हैं । कालोदधि समुद्र में बयालीस चन्द्र और बयालीस सूर्य हैं । पुष्करार्ध में अर्थात् मानुषोत्तर पर्वत तक के आधे पुष्करद्वीप में बहत्तर चन्द्र और बहत्तर सूर्य हैं ।

मानुषोत्तर पर्वत के बाहर इनकी संख्या कैसे निकालना उसे देखते हैं । यहां से आगे जिस द्वीप या समुद्र का जितने लाख योजन का विस्तार है उतने वहां वलय होते हैं । जैसे बाहरी आधा पुष्कर द्वीप आठ लाख योजन का है तो उसमें आठ वलय होते हैं । पहला वलय मानुषोत्तर पर्वत से आधे लाख योजनपर है याने पहला वलय ५० हजार योजनपर है बाकी वलय एक-एक लाख योजन के अंतराल से हैं ।

पहले वलय में १४४ चन्द्र और १४४ सूर्य हैं । दूसरे वलय में १४८ चन्द्र और १४८ सूर्य हैं । तीसरे वलय में १५२-१५२, चौथे वलय में १५६-१५६ इसतरह प्रत्येक वलय में ४-४ से बढ़ते जायेंगे ।

इसप्रकार इसके आगे पुष्करवर समुद्र ३२ लाख योजन विस्तारवाला है उसमें ३२ वलय हैं । उसके पहले वलय में २८८-२८८ चन्द्र-सूर्य हैं । प्रतिवलय चार-चार की वृद्धि होकर २९२, २९६, ३००, ३०४, ३०८, ३१२ इसप्रकार बत्तीस बार ४-४ बढ़ेंगे । उसके पश्चात् चौथा द्वीप ६४ लाख योजन का है उसके पहले वलय में ५७६-५७६ चन्द्र-सूर्य हैं और उसके प्रतिवलय ४-४ की वृद्धि ६३ बार होगी ।

इससे आगेवाला समुद्र १२८ लाख योजन का है । यहां तो ४ द्वीप और ४ समुद्र हुये । नंदीश्वर द्वीप तो द्वीपों में आठवां है ऐसे तो द्वीपसमुद्रों में उसका नंबर पंद्रहवां है । वहां की भी संख्या निकालेंगे । यहां तो हम सिर्फ चन्द्रों की संख्या देख रहे हैं उसके समस्त परिवार की संख्या तो बाद में निकालेंगे ।

घबराना मत, अपने पास करणानुयोग के सूत्र हैं, बड़े-बड़े गणित आसानी से कर सकते हैं । मानुषोत्तर पर्वत के बाद प्रत्येक द्वीप और समुद्र में जो पहला वलय है उसमें यह संख्या दोगुणी-दोगुणी होती जाती है । हमने १४४ से शुरु किया था, फिर २८८, उसके आगे दोगुणा होता जायेगा तथा प्रति वलय ४-४ चन्द्र-सूर्य और बढ़ते चले जायेंगे । तो इनकी संख्या कैसे निकालेंगे ?

आप बताइये कुल कितने द्वीप और समुद्र हैं ? – असंख्यात । केवल असंख्यात से काम नहीं चलेगा, नक्की बताना पड़ेगा । हां, २५ कोडाकोडी उद्धार पल्य इतने द्वीप-समुद्र हैं । १४४ की गिनती हमने पुष्करार्ध से शुरु की थी इसलिए कुल संख्या में से ढ़ाई द्वीप-दो समुद्र को बाद करेंगे-मायनस करेंगे तो जितने द्वीप-समुद्र बाकी हैं

उनमें पहले वलय के चन्द्र-सूर्य हम दोगुणा-दोगुणा करेंगे ।

पुष्करवर समुद्र से लेकर जो द्वीप या समुद्र जितने लाख योजन विस्तारवाला है उसे लाख का भाग देकर वहां वलयों का प्रमाण आता है उसे नौ से गुणा करनेपर पहले वलय में स्थित चन्द्र-सूर्यों का प्रमाण आता है । जैसे पुष्करवर तीसरा समुद्र है जो ३२ लाख योजन का है उसे लाख का भाग देनेपर ३२ आये, इसे नौगुणा करनेपर २८८ आये, इसके प्रथम वलय में २८८-२८८ चन्द्र-सूर्य हैं । वारुणीवर चौथा द्वीप ६४ लाख योजन विस्तारवाला है उसे लाख का भाग देनेपर ६४ आये, उसे नौगुणा करनेपर ५७६ होते हैं, उतने-उतने वहां चन्द्र-सूर्य हैं ।

स्वयंभूरमण समुद्र का विस्तार एक राजू के चौथे भाग में ७५००० योजन अधिक इतना है । इसका हिसाब हमने पहले देखा था । एक राजू अर्थात् जगत्श्रेणी ÷ ७ क्योंकि जगत्श्रेणी का प्रमाण सात राजू है । उसका चौथा भाग अर्थात् जगत्श्रेणी ÷ २८ उसमें ७५००० योजन मिलाना, इतने लाख योजन होंगे उसको एक लाख का भाग देकर नौ गुणा करना । $\left[\frac{\text{जगत्श्रेणी}}{२८} + ७५०००\right] \times \frac{९}{१००००}$ इतने स्वयंभूरमण समुद्र के पहले वलय में चन्द्र-सूर्य हैं ।

हमारे पास ऐसे गणितसूत्र है कि सभी प्रथम वलयों में स्थित चन्द्र-सूर्यों की संख्या दोगुणी-दोगुणी है तो उसका जोड़ निकाले और उनको छोड़कर जो अन्य वलय हैं उनमें प्रत्येक में प्रतिवलय चार-चार की वृद्धि होती गयी है । समान वृद्धि को चय कहते हैं और इनका भी जोड़ देने का विधान हमें उपलब्ध है ।

त्रिलोकसार, तिलोयपण्णत्ती आदि ग्रंथों में इसे विस्तार से दिया है । इसके आधार से हमें चन्द्रों की कुल संख्या प्राप्त होती है । इसमें मनुष्यलोक के २ + ४ + १२ + ४२ + ७२ = १३२ चन्द्र मिला देना । हम मान लेते हैं सभी चन्द्रों की संख्या 'च' है । एक-एक चन्द्र के परिवार में हमने १ चन्द्र + १ सूर्य + ८८ ग्रह + २८ नक्षत्र + ६६९७५ कोडाकोडी तारे देखे थे इसप्रकार इस संख्या को चन्द्र की संख्या से गुणा करनेपर समस्त ज्योतिर्विमानों की संख्या आती है । च × (६६९७५ कोडाकोडी + ११८) यहां च की संख्या ही असंख्यातों में है ।

ज्योतिषि देवों का प्रमाण है जगत्प्रतर ÷ २५६ अंगुलों का वर्ग । २५६ का वर्ग है ६५५३६ जिसे हम पण्णट्ठी कहते हैं और अंगुल का वर्ग है प्रतरांगुल । इसे ऐसा लिखेंगे $\frac{\text{जगत्प्रतर}}{\text{प्रतरांगुल} \times \text{पण्णट्ठी}}$ । जितने ज्योतिष्कविमान हैं, उनमें प्रत्येक में एक-एक चैत्यालय है । इन ज्योतिषियों के असंख्यात जिनचैत्यालयों को हम यहीं से भावपूर्वक नमस्कार करते हैं ।

एक-एक विमान में संख्यात ज्योतिषि देव रहते हैं इसलिए उपरोक्त संख्या को संख्यात से गुणा करनेपर हमें कुल ज्योतिषि देवों की संख्या प्राप्त होती है । देवगति में सर्वाधिक संख्या तो ज्योतिषियों की ही है ।

इन संख्याओं की विशालता जानने के लिये असंख्यातों के अलग-अलग भेद - आवली, पल्य, अंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगत्श्रेणी, जगत्प्रतर, जगत्घन (लोक) जानने होंगे । सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका में जीवकाण्ड में जो गणित की चौदह धारायें हैं उनमें एक द्विरूपवर्ग धारा है । उसमें दो के वर्ग से शुरु करके वर्ग का वर्ग, उसका दूसरी बार वर्ग, तीसरी बार वर्ग करते जाना, असंख्यात वर्गस्थान जानेपर पल्य संख्या आती है । उसके भी आगे उतने ही असंख्यात वर्गस्थान जानेपर अंगुल नामक असंख्यात की संख्या आती है ।

प्रश्न - आवली क्या है ?

उत्तर - आवली तो जघन्य युक्तासंख्यात समय प्रमाण है । सबसे जघन्य असंख्यात का नाम है जघन्य परितासंख्यात । इस संख्या को इतनी ही बार लिखकर आपस में गुणा करेंगे तो जो प्रमाण आता है वह है जघन्य युक्त असंख्यात । इतने समय एक आवली में होते हैं और ऐसी संख्यात हजार कोडाकोडी आवली एक सेकंद में होती हैं । समय कितना सूक्ष्म है ख्याल में आया ? तो एक समय में केवली भगवान विश्व के समस्त द्रव्य गुणों को, उनकी तीन कालों की पर्यायों को युगपत् जानते हैं फिर भी प्रत्येक की भिन्नता-विशेषता भी जानते हैं - कैसा महाअद्भुत ज्ञानस्वभाव है, जो हम-आप सबका है । उसका विश्वास-प्रतीति करने से वह पर्याय में प्रकट होगा ही ।

प्रश्न - जघन्य परित असंख्यात कैसे निकालना ?

उत्तर – यह विषय बहुत ही रोचक है । परंतु गणित के अरुचिवालों को अपचन होगा इसकारण यहां उसको नहीं बताऊंगी । जीवकाण्ड में विस्तार से समझाया है, पुस्तक पढ़कर नहीं समझे तो सी.डी. सुनना या सिर्फ 'संख्यामान' की एक ही सी.डी. है उसे सुनना ।

ढ़ाई द्वीप के बाहर सभी चन्द्र, सूर्य, तारे स्थिर ही हैं-ध्रुव हैं । ढ़ाई द्वीप में चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र तथा तारे अपने-अपने चार (भ्रमण) क्षेत्र में घूमते हैं, मेरु की प्रदक्षिणा देते हैं । मेरु का १०००० योजन व्यास छोड़कर उसके आगे ११२१ योजन की दूरीपर ये सभी पाये जाते हैं । इनमें से जो तारे हैं वे कितने ही भ्रमण करते हैं, कितने ही स्थिर हैं, ध्रुव हैं । उन ध्रुव तारों की संख्या इसप्रकार है – जम्बूद्वीप में ३६, लवणसमुद्र में १३९, धातकीखण्ड में १०१०, कालोदधि समुद्र में ४११२०, पुष्करार्ध द्वीप में ५३२३० ऐसे ढ़ाई द्वीप में ध्रुव तारे कुल ९५५३५ हैं । धातकीखण्ड और पुष्करार्ध के पूर्व और पश्चिम भागों के ज्योतिषि विमान अपने-अपने अर्ध भाग में गमन करते हैं ।

आगम में तो बहुत विस्तार से अनेक बातें समझायी हैं । इन दो-दो चन्द्र-सूर्यों के बीच का अंतराल, दिनरात का हिसाब, पूरा ही खगोलशास्त्र समझाया है । वहां से जरूर समझने जैसा है । मैंने ते केवल नमूना पेश किया है । आगम ही प्रमाण है ।

इन चन्द्रादिक विमानों के वाहक देव सिंह, हाथी, वृषभरूप आकार को धारण करके इन विमानों को पूर्वादि दिशाओं में ले जाते हैं । चन्द्र और सूर्य विमान के वाहन देव प्रत्येक के १६००० हैं, ग्रहों के ८०००, नक्षत्रों के ४०००, ताराओं के २००० हैं ।

प्रश्न – वाहन देव इन विमानों को खींचते हैं, तो क्या खींचे बिना वे गमन नहीं कर सकते ?

उत्तर – यह तो वहां के इन्द्रों की, देवों की विभूति होती है-उनका वैभव है । जैसे हमारे राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री के साथ सारा काफिला होता है वैसे समझना ।

अब इनकी आयु का प्रमाण देखते हैं –

चन्द्र की आयु – १ पल्य + १ लाख वर्ष

सूर्य की आयु – १ पल्य + १ हजार वर्ष

बृहस्पति की आयु – १ पल्य

बुध, मंगल, शनि की आयु – $\frac{१}{२}$ पल्य

तारा और नक्षत्रों की उत्कृष्ट आयु पल्य का चौथा भाग और जघन्य आयु पल्य के आठवें भाग प्रमाण । यह वहां के देवों की आयु समझना ।

देवांगनाओं की आयु अपने-अपने देवों की आयु के अर्ध भाग प्रमाण होती है । चन्द्र और सूर्य इन्द्रों की चार-चार पट्टदेवियां होती हैं । चार-चार हजार परिवार देवियों की एक-एक पट्टदेवी होती है और एक-एक पट्टदेवी चार-चार हजार विक्रिया करती है । यहां सबसे निकृष्ट हीन पुण्यवान देवों की बत्तीस देवांगनायें होती हैं ।

हमें एक भाई मिले थे, कहते थे कि मैं अब ब्रह्मचर्य लेना चाहता हूँ क्योंकि मैंने सुना है देवों में बत्तीस देवांगनायें तो मिलती ही है । देखो ! जीवों के अभिप्रायों की विचित्रता !

ज्योतिषि, व्यंतर और भवनवासी तीनों को मिलाकर भवनत्रिक कहते हैं । वहां कौन जन्म लेते हैं वह बताया है – जिनमत से विपरीत धर्म के आचरण करनेवाले, जिन्होंने निदान किया हो वे, अग्नि, जल, झंपापात आदि से मरे हुये, अकामनिर्जरावाले, पंचाग्नि आदि खोटे तप करनेवाले, सदोष चारित्र के धारक जीव भवनत्रिक में जन्मते हैं । भोगभूमि के सभी मिथ्यादृष्टि और सासादनवाले जीव भवनत्रिक में ही जन्म लेते हैं ।

अब हमारा समय हो गया ।

बोलिये, विदेहक्षेत्र में विराजमान सत्रहवें तीर्थंकर श्री वीरसेन भगवान की जय ।

१८. पंचमेरु

श्रीमद् नेमिचन्द्र आचार्य विरचित त्रिलोकसार ग्रंथ के आधार से तीन लोक का स्वरूप हम देख रहे हैं । मध्यलोक की रचना में अब मेरु पर्वतों का वर्णन देखेंगे । हमने ढ़ाई द्वीप की रचना में मेरु पर्वत कहां पाये जाते हैं देखा था । जम्बूद्वीप के मध्य में एक, पूर्व धातकीखण्ड, पश्चिम धातकीखण्ड में एक-एक और पूर्व पुष्करार्ध-पश्चिम पुष्करार्ध में एक-एक ऐसे कुल पांच मेरु हैं । उनके नाम भी हमने देखे थे जो क्रम से इसप्रकार हैं – (१) सुदर्शनमेरु, (२) विजयमेरु, (३) अचलमेरु, (४) मन्दरमेरु और (५) विद्युन्मालीमेरु ।

सर्वप्रथम हम सुदर्शनमेरु की रचना देखेंगे । बाकी चार मेरु की रचना समान है परंतु सुदर्शनमेरु से अलग रचना है उसकी बात हम बाद में करेंगे ।

जम्बूद्वीप का चार्ट नं. ५ देखना । एक लाख योजन व्यासवाले जम्बूद्वीप के मध्य में मेरु का व्यास-समतल भूमिपर उसकी चौड़ाई १०००० योजन है । उसके पूर्व और पश्चिम में २२०००-२२००० योजनवाले भद्रशालवन हैं । मेरु के दक्षिण और उत्तर में इस वन की चौड़ाई २५० योजन है जो २२००० का ८८ वां भाग है । भद्रशालवनों के पूर्व-पश्चिम में विदेहक्षेत्र हैं । इनकी रचना तो हमने देखी है ।

हम बहुत बार सुनते हैं कि सुमेरु अर्थात् सुदर्शनमेरु पर्वत एक लाख योजन प्रमाण ऊंचा है । इसकी ऊंचाई १ लाख और ४० योजन है । ४० योजन की इसकी चूलिका है तथा १००० योजन पृथ्वी के अंदर इसकी नींव है । जितनी मोटी चित्रा पृथ्वी है उतनी इसकी नींव है । जमीन के ऊपर इसकी ऊंचाई ९९०४० योजन है ।

भूमिपर इसका व्यास १०००० योजन है और ९९००० योजन ऊपर जाकर जहां पाण्डुकवन है वहां इसका व्यास १००० योजन रह जाता है । परंतु यह व्यास समानरूप से घटता नहीं, तो किसप्रकार इसका घटना होता है, कितनी ऊंचाई पर क्या है इसकी बात देखते हैं । इसके लिये आपको सुमेरु पर्वत चार्ट नं. १० देखना है ।

मेरुपर्वत के चौगिरद अर्थात् चहूंओर भद्रशालवन है, यहां मेरु पर्वत के पूर्वादि चार दिशाओं में चार जिनमंदिर हैं जो अकृत्रिम हैं । सभी अकृत्रिम चैत्यालयों का

स्वरूप हम बाद में देखेंगे । भूमितल से ५०० योजन ऊपर जाकर कटनी होती है । कटनी का अर्थ पर्वत यहां सभी ओर से ५००-५०० योजन चौड़ाई घटकर अंदर तक ⌐ ⌙ चला जाता है और वहां ५०० योजन की समतल भूमि होती है जहां ५०० योजन चौड़ाईवाले वन होते हैं । पृथ्वी से ५०० योजन ऊपर जाकर यह जो प्रथम कटनी है वहां नंदनवन है, वहां भी चारों दिशाओं में एक-एक जिनमंदिर है ।

वहां से ६२५०० योजन ऊंचे जाकर दूसरी कटनी है, वहां सौमनसवन है, वह भी ५०० योजन चौड़ा है । वहां भी चारों दिशाओं में एक-एक जिनमंदिर हैं । वहां से ३६००० योजन ऊपर जाकर जो कटनी है वहां पाण्डुकवन है । यहां पर्वत का व्यास १००० योजन रह जाता है परंतु मध्य में चूलिका का व्यास १२ योजन है अर्थात् मध्य बिंदु से एक ओर छह योजन चूलिका के छोड़कर शेष ४९४ योजन की यहां की कटनी है और उतना ही चौड़ा पाण्डुकवन है । यहां भी चारों दिशाओं में एक-एक जिनमंदिर है । इसप्रकार मेरुपर्वत पर कुल सोलह अकृत्रिम चैत्यालय हैं – भद्रशालवन के चार, नन्दनवन के चार, सौमनसवन के चार और पाण्डुकवन के चार ।

आप चार्ट नं. १० जरा गौर से देखना । मेरु पर्वत की जमीन के अंदर नींव १००० योजन बतायी है । भूमि के समतल पर भद्रशालवन है, वहां से ५०० योजन ऊपर कटनी है जहां नंदनवन है । वहां से ६२५०० योजन ऊपर जाकर सौमनसवन संबंधी कटनी है । परंतु इनमें से ११००० योजन तक मेरु पर्वत की चौड़ाई समान है और बाद में शेष ५१५०० योजन तक क्रम से उसकी चौड़ाई घटती गयी है ।

सौमनसवन से पाण्डुकवन ३६००० योजन उंचाई पर है परंतु यहां भी सौमनसवन से ११००० योजन ऊंचाई तक मेरु की चौड़ाई समान है और उसके ऊपर शेष २५००० योजन तक क्रम से घटती गयी है । ये जो चित्र बनाये हैं वे उसी अनुपात में-प्रपोर्शन में बनाये गये हैं ।

पाण्डुकवन में चार दिशाओं में चार जिनमंदिर हैं और चार विदिशाओं में चार शिलायें हैं । उसमें ईशान दिशा में पाण्डुकशिला है जिसका नाम हमने बहुत बार सुना है, भरतक्षेत्र के तीर्थंकरों का जन्माभिषेक यहीं पर होता है । आग्नेय दिशा में पाण्डुकम्बला

शिला है, नैऋत्य दिशा में रक्तशिला और वायव्य में रक्तकम्बलाशिला है । पाण्डुकम्बला शिला पर पश्चिम विदेह के तीर्थंकरों का, रक्तशिला पर ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों का और रक्तकम्बलाशिला पर पूर्व विदेह के तीर्थंकरों का जन्माभिषेक होता है । ये सभी शिलायें १०० योजन लम्बी, अर्धचन्द्रमा के आकार की हैं, मध्य में ५० योजन चौड़ी हैं और आठ योजन मोटी हैं । चार्ट में देखना तो समझेंगे ।

प्रत्येक शिला पर तीन-तीन सिंहासन होते हैं । मध्य में जो सिंहासन होता है वह जिनेन्द्र देव का है – उसपर बालक तीर्थंकर को विराजमान करते हैं । बाजू के दो भद्रासन हैं जहां इन्द्र विराजते हैं । पाण्डुकशिला पर दक्षिण दिशा की ओर सौधर्म इन्द्र का भद्रासन है, उत्तर की ओर ईशान इन्द्र का भद्रासन है । ये आसन पूर्व दिशा के सन्मुख होते हैं ।

जन्माभिषेक के चित्र आपने देखे होंगे-अनेक जिनमंदिरों में दीवारों पर कितने सारे चित्र होते हैं । देव वहां आकर क्षीरसमुद्र के जल से १००८ कलशों से अभिषेक करते हैं । ८-८ योजन के बड़े-बड़े कलश होते हैं । आपने भी यहां जो जिनमंदिर बनते हैं, भगवान की मूर्तियों की स्थापना करते हैं तब जन्माभिषेक के दृश्य देखे होंगे, प्रथमानुयोग या अन्य ग्रंथों में वर्णन पढ़ा होगा । बालक तीर्थंकर का जन्म होता है तो स्वर्ग से इन्द्र आते हैं-ऐरावत हाथी लेकर आते हैं, शचि इन्द्राणी माता के पास जाकर बालक तीर्थंकर को उठा लाती है और वहां मायामयी बालक रखती है । इन्द्र बालक तीर्थंकर को मेरु पर्वत पर ले जाता है । वहां हजारों देव बालक तीर्थंकर का जन्माभिषेक करते हैं ।

इतने सारे कलश ढारे तो उस एक दिन के बालक को कुछ नहीं होता, वह तो अतुल बल का धारी होता है । तद्भाव मोक्षगामी जीवों के वज्रवृषभनाराच संहनन होता है । उपसर्ग उन्हें कुछ नहीं कर सकते फिर भी मुनि अवस्था में उन पर कोई उपसर्ग होता है तो श्रावक को वह उपसर्ग दूर करने के भाव सहज आते ही हैं । उनके रक्षण का भाव न आये तो वह श्रावक नहीं है । मुनिराज पार्श्वनाथ पर जब उपसर्ग हो रहा था, ओले, शोले, पत्थर, पानी बरस रहे थे, तब धरणेन्द्र को भी उनके रक्षा के परिणाम आये, उसने फणमण्डप बनाया ।

परंतु लोग क्या सोचते हैं ? जिसने भगवान का रक्षण किया वह हमारी भी रक्षा करेंगे । भगवान तो वीतरागी है वे तो कुछ करेंगे नहीं इसलिए हम इनकी पूजा करेंगे तो इनको हमारी दया आ जाये और वे हमारे भी संकट मेटेंगे ।

देखो, हमने इतने सारे प्रथमानुयोग के ग्रंथ पढ़े हैं । उसमें तो ऐसी बहुतसी कथायें पढ़ी हैं कि जिनमें स्वर्गों के देव-देवी आकर ज्ञानियों के संकट दूर करते हैं, परंतु एक भी कथा ऐसी नहीं मिलती कि ज्ञानी जाकर उनकी पूजा करें, उनके पैर छुयें । अन्यमतियों की देवियां हैं-कुलदेवता हैं इसलिए हमारे भोले जीवों ने अपनी भी देवतायें बना ली-उनकी पूजन करने लगे । हमारे बच्चे-बच्चे जानते हैं कि भगवान तो वीतरागी और सर्वज्ञ होते हैं और पूजन तो सच्चे देव, गुरु और शास्त्र की ही करना चाहिये ।

प्रश्न – क्षीरसमुद्र का जल अनछना नहीं होता है क्या ?

उत्तर – जल में पाये जानेवाले त्रस जीव-जलचर तो ढ़ाई द्वीप के दो समुद्रों में और स्वयंभूरमण समुद्र में ही होते हैं, अन्य समुद्रों में नहीं । वैसे तो प्रासुक विधिपूर्वक ही वे कार्य करेंगे ।

अब इन शिलाओं के वर्ण देखते हैं ।

पाण्डुकशिला स्वर्णमयी है, पाण्डुकम्बला रजतमयी है, रक्तशिला तपाये हुये सोने के समान और रक्तकम्बला लाल है-रुधिर समान वर्णवाली है ।

पाण्डुकवन के मध्य में चूलिका अर्थात् शिखर है । यह ४० योजन ऊंचा, नीचे १२ योजन व्यास और ऊपर ४ योजन व्यासवाली यह चूलिका वैडूर्यमणि (नीलमणि) की है । चूलिका के चारों ओर ३०-३० कोस व्यासवाले प्रासाद हैं । पूर्वादि दिशाओं में लोहितभवन, अंजनभवन, हरिद्रभवन और पाण्डुकभवन नाम के ये भवन लोकपालों के हैं । लोकपालों के नाम क्रमशः सोम, यम, वरुण और कुबेर हैं । इनमें से सोम और यम की आयु ढ़ाई पल्य है तथा वरुण और कुबेर की आयु कुछ कम तीन पल्य है । सोम का लाल वर्ण, यम का श्याम वर्ण, वरुण का कांचन वर्ण और कुबेर का श्वेत वर्ण है, ये अनेक प्रकार के आभूषणों से युक्त होते हैं । इनके स्वर्गों में भी

निवास करने के स्थान हैं और मेरु पर भी उनके भवन हैं । आप लोग भी मुंबई में रहते हो और यहां देवलाली में भी बंगले-फ्लॅट है ना ?

प्रत्येक लोकपाल की साढ़े तीन करोड गिरी कन्या अर्थात् व्यंतरी देवांगनायें पायी जाती हैं ।

मेरु पर्वत नीचे से लेकर ६१००० योजन तक सुवर्णमयी है और अनेक प्रकार के वर्णवाले नाना प्रकार के रत्नों से सुशोभित है और उसके ऊपर मात्र स्वर्णमयी है- सोने का ही है । सोने का नाम सुनते ही आँखे चमक रही हैं, मेरु कहां है उसकी खोज करने के सपने देख रहे हैं, क्यों ? जिनमंदिरों का वर्णन तो बहुत वीतरागी होकर सुन रहे थे !

अब तक हमने सुदर्शन मेरु का वर्णन देखा । अन्य चार मेरु इससे ऊंचाई में कम हैं परंतु चारों समान हैं । उनकी कुल ऊंचाई ८५००० योजन है, १००० योजन तो जमीन के अंदर इनकी नींव है और ८४००० योजन जमीन के ऊपर है । इनके भी भद्रशालवन, नन्दनवन, वैसे ही क्रम से जमीन पर और ५०० योजन ऊपर हैं । परंतु नन्दनवन से ५५५०० योजन ऊपर सौमनसवन है जब कि सुमेरु में वह ६२५०० योजन ऊपर था । वहां से पाण्डुकवन २८००० योजन ऊपर है जब कि सुमेरु में वह ३६००० योजन ऊपर था । इनमें भी प्रत्येक में १६-१६ अकृत्रिम जिनमंदिर हैं ।

इसतरह पांचों मेरु के १६ × ५ = ८० जिनमंदिर हैं । पंचमेरु की पूजा करते समय अब इनकी रचना को याद करके भावपूर्वक अर्घ्य चढ़ाना । पूरी जयमाला यहां गाकर सुनायी थी उसे यहां लिखते हैं –

प्रथम सुदर्शन स्वामि, विजय अचल मंदिर कहा ।
विद्युन्माली नाम, पंचमेरु जग में प्रगट ।।

प्रथम सुदर्शन मेरु विराजै, भद्रशाल वन भूपर छ़ाजै ।
चैत्यालय चारों सुखकारी, मनवचतन वंदना हमारी ।।

उपर पंचशतकपर सोहै, नंदनवन देखत मन मोहै ।
चैत्यालय चारों सुखकारी, मनवचतन वंदना हमारी ।।

साढ़े बासठ सहस ऊंचाई, वन सुमनस सोभे अधिकाई ।
चैत्यालय चारों सुखकारी, मनवचतन वंदना हमारी ।।

ऊँचा जोजन सहस छत्तीसं, पांडुकवन सोहै गिरिसीसं ।
चैत्यालय चारों सुखकारी, मनवचतन वंदना हमारी ।।

चारों मेरु समान बखानै, भूपर भद्रसाल चहुँ जानै ।
चैत्यालय सोलह सुखकारी, मनवचतन वंदना हमारी ।।

ऊँचे पांच शतक पर भाखे, चारों नन्दनवन अभिलाखे ।
चैत्यालय सोलह सुखकारी, मनवचतन वंदना हमारी ।।

साढ़े पचपन सहस उतङ्गा, वन सोमनस चार बहुरङ्गा ।
चैत्यालय सोलह सुखकारी, मनवचतन वंदना हमारी ।।

उच्च अठाइस सहस बताये, पांडुक चारों वन शुभ गाये ।
चैत्यालय सोलह सुखकारी, मनवचतन वंदना हमारी ।।

सुरनर चारन वन्दन आवैं, सो शोभा हम किह मुख गावैं ।
चैत्यालय अस्सी सुखकारी, मनवचतन वंदना हमारी ।।

दोहा : पंचमेरु की आरती, पढ़ै सुनै जो कोय ।
'द्यानत' फल जानै प्रभु, तुरत महासुख होय ।।

यहां तो लिखा है तुरत महासुख होय ।

इन मेरु पर्वतों का, वनों का, वनवेदि का, तोरणों का, वापि-कूप आदि का बहुत सारा वर्णन शास्त्रों में आता है ।

अब हम दूसरा विषय नन्दीश्वर द्वीप संबंधी लेते हैं । इसका नाम हम बहुत बार सुनते हैं, अष्टान्हिका में नन्दीश्वर पूजन-विधान भी करते हैं, उसका अब वर्णन देखेंगे ।

मध्यलोक में हमने असंख्यात द्वीप एवं समुद्र देखे थे । जम्बूद्वीप से लेकर यह

आठवें नंबर का द्वीप है अर्थात् सात द्वीप और सात समुद्र के बाद यह पंद्रहवें नंबर पर आता है । पहला एक लाख, दूसरा २ लाख, तीसरा ४ लाख, चौथा ८ लाख, पांचवां १६ लाख, छठवां ३२ लाख, सातवां ६४ लाख, आठवां १२८ लाख, नौवां २५६ लाख, दसवां ५१२ लाख, ग्यारहवां १०२४ लाख, बारहवां २०४८ लाख, तेरहवां ४०९६ लाख, चौदहवां ८१९२ लाख और पंद्रहवां १६३८४ लाख योजन का है । दूसरी भाषा में १६३ करोड ८४ लाख योजन इसका विस्तार है, इतना यह चौड़ा है । यह प्रमाण कहीं सुना है आपने ? पूजा में आता है –

एक सौ त्रेसठ कोडि जोजन महा,
लाख चौरासिया एक दिश में लहा ।

अठ्ठमो द्वीप नन्दीश्वरं भास्वरं,
भौन बावन्न प्रतिमा नमों सुखकरं ।।

भौन का अर्थ भवन याने जिनमंदिर है । वहां द्वीप के चारों दिशाओं में तेरह-तेरह अकृत्रिम जिनचैत्यालय हैं । वहां हम जा नहीं सकते परंतु यहां बैठे-बैठे जान सकते हैं – प्रत्येक जिनमंदिर में स्थित १०८-१०८ जिन प्रतिमाओं को यहीं से भावनमस्कार कर सकते हैं ।

वहां का विस्तार हम आगे के लेक्चर में देखेंगे ।

बोलिये, विदेहक्षेत्र में विराजमान अठारहवें तीर्थंकर श्री महाभद्र भगवान की जय ।

१९. नन्दीश्वर द्वीप

श्रीमद् नेमिचन्द्र आचार्य विरचित त्रिलोकसार ग्रंथ के आधार से हम त्रिलोक का स्वरूप देख रहे हैं । नन्दीश्वर द्वीप जो कि आठवां द्वीप है और द्वीप समुद्रों में उसका पंद्रहवां नंबर लगता है, इतनी बार दोगुणा-दोगुणा करते-करते हम थक गये । अब एक छोटे से करणसूत्र द्वारा हम इसके विस्तार का प्रमाण निकालेंगे ।

एक लाख से शुरु होकर दूसरा दो लाख, तीसरा चार लाख, चौथा आठ लाख । अर्थात् दूसरे के लिये २ गुणा किया तीसरे के लिये २ × २ किया, चौथे के लिये २ × २ × २ किया तो पंद्रहवें के लिये दो संख्या चौदह बार लिखकर आपस में गुणा करनी पड़ेगी । करणानुयोग की भाषा में कहना हो तो चौदह जिसका अर्धच्छेद है ऐसी संख्या १६३८४ है, वही हमारा प्रमाण है ।

अर्धच्छेद किसे कहना ? आधुनिक गणित में इसे 'लॉग टू' कहेंगे । किसी संख्या को दो से जितनी बार भाग दे सकते हैं उसको उसका अर्धच्छेद कहते हैं । जैसे १६ को २ का भाग दिया ८ आये, दूसरी बार ४ आये, तीसरी बार २ आये, चौथी बार १ आया याने १६ को २ संख्या से चार बार भाग देनेपर १ आता है, अन्य भाषा में २ × २ × २ × २ = १६ इसलिए सोलह का अर्धच्छेद चार है । यदि हम १६ का वर्ग करेंगे ते राशि २५६ होती है और उस राशि का अर्धच्छेद चार से दोगुणा अर्थात् आठ होता है । यदि हम २५६ का वर्ग ६५५३६ को देखेंगे तो उसका अर्धच्छेद १६ आता है । हमें १४ अर्धच्छेद चाहिये था, १६ – २ करने से १४ आता है इसलिए २ जिसका अर्धच्छेद है ऐसी ४ संख्या से ६५५३६ को भाग देंगे तो ६५६३६ ÷ ४ = १६३८४ आता है । यह तो नन्दीश्वर द्वीप की चौड़ाई है – एक दिशा में विस्तार है । मध्य से वह कितनी दूरी पर है उसका यह नाप नहीं है । उसको निकालने के लिये भी करणसूत्र हैं, परंतु उसको गौण करके आगे बढ़ेंगे ।

इस पंद्रहवें नंबर तक कौन-कौन से द्वीप समुद्र हैं देखते हैं । वे क्रमशः इसप्रकार हैं – (१) जम्बूद्वीप, (२) लवणसमुद्र, (३) धातकीखण्ड, (४) कालोदधि समुद्र, (५) पुष्करवर द्वीप, (६) पुष्करवर समुद्र, (७) वारुणीवर द्वीप, (८) वारुणीवर समुद्र, (९) क्षीरवर द्वीप, (१०) क्षीरवर समुद्र, (११) घृतवर द्वीप, (१२) घृतवर समुद्र,

(१३) क्षौद्रवर द्वीप, (१४) क्षौद्रवर समुद्र, (१५) नन्दीश्वर द्वीप ।

साल में तीन बार तीनों अष्टान्हिका में हम नन्दीश्वर द्वीप के अकृत्रिम जिन चैत्यालयों की पूजा करते हैं । पूजा में आता है ना, 'कार्तिक फागुन साढ़ के अंत आठ दिन मांहि ।' इसका अर्थ है कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ के शुक्ल पक्ष में अष्टमी से पूर्णिमा तक के आठ दिन । इसे ही महिने के अंत दिन कहा है ।

यहां मैं मराठी एवं गुजराती भाषिकों के मुख पर प्रश्नचिन्ह देख रही हूँ, वे तो कहेंगे अमावस्या को महिने का अंत होता है । जरा सुनना, हिन्दी भाषिक लोग पूर्णिमा याने पूर्णमासि को महिना समाप्त होता है मानते हैं, उनका नया महिना कृष्ण पक्ष से शुरु होता है । मराठी एवं गुजराती भाषिक लोग अमावस्या को महिने की समाप्ति मानते हैं उनका नया महिना शुक्ल पक्ष से शुरु होता है । हर महिने का शुक्लपक्ष हिन्दी और गुजराती के कैलेंडर में एकसा ही होता है; जैसे चैत्र शुक्ल १ से चैत्र शुक्ल पूर्णिमा तक । परंतु जब गुजराती कैलेंडर में चैत्र कृष्ण १ से चैत्र कृष्ण १५ (अमावस्या) लिखते हैं वहां हिन्दी कैलेंडर में वैशाख कृण १ से वैशाख कृष्ण १५ लिखा रहता है । उसके पश्चात् वैशाख शुक्ल १ से १५ दोनों के लिये समान है । जब गुजराती-मराठी वैशाख कृष्ण कहेंगे वहां हिन्दी ज्येष्ठ कृष्ण कहेंगे ।

दीवाली में महावीर निर्वाणोत्सव के लिये हिन्दी भाषिक कार्तिक कृष्ण अमावस्या कहते हैं और गुजराती-मराठी भाषिक आश्विन कृष्ण अमावस्या कहते हैं । हमारी बहुत सारी पूजायें हिन्दी कवियों ने लिखी हैं, जब हम तीर्थंकरों के कल्याणकों के अर्घ्य चढ़ाते हैं या हिन्दी कैलेंडर देखते हैं तो यह अंतर ख्याल में आता है ।

श्रोता – हमें अभी तक पता नहीं था ।

इन अष्टान्हिका पर्वों में सौधर्मादि बारह कल्पों के इन्द्र, अन्य कल्पवासी देव, ज्योतिषि, व्यंतर, भवनवासी देव नन्दीश्वर द्वीप जाते हैं । ये सभी अपने-अपने वाहनों पर आरूढ़ होकर जाते हैं । उनकी बात बाद में करेंगे, उसके पहले पर्वतों पर विराजमान ये बावन जिनचैत्यालय कहां हैं उसे देखते हैं ।

नदीश्वर द्वीप के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में तेरह-तेरह पर्वत हैं और उन पर जिनमंदिर स्थित हैं । इसके लिये आप चार्ट नं. ११ देखिये ।

चार्ट में बड़ा पीले रंग का नन्दीश्वर द्वीप है, उसके अभ्यंतर सात द्वीप और सात समुद्र हैं । वहां १६३८४०००० योजन इसकी चौड़ाई है । प्रत्येक दिशा में जो ये रचनायें हैं वे तो अेरियल व्ह्यू है-ऊपर से कैसे दिखेगी वह दिखाया है । उसमें मध्य में बीचोंबीच काले रंग का गोल है वह अंजनगिरी पर्वत है । इन पर्वतों के आकार बाजू के चित्र में बताये हैं । चारों दिशा के चार अंजनगिरी हैं । ये ८४००० योजन ऊंचे हैं तथा इनका व्यास भी ८४००० योजन का है । जमीन के अंदर १००० योजन इनकी नींव है । ये पर्वत ढोल या सिलिंडर-ड्रम की तरह गोलाकार होते हैं अर्थात् नीचे, मध्य में और ऊपर समान चौड़ाईवाले होते हैं । इनके ऊपर शिखर जैसी रचना नहीं है । अंजन के समान काला वर्ण होने से इसका नाम अंजनगिरी है । प्रत्येक अंजनगिरी पर एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय है ।

अंजनगिरी के चारों ओर पचास-पचास हजार योजन का अंतर छोड़कर वन हैं जिनकी चौड़ाई पचास-पचास हजार योजन की है और लम्बाई एक-एक लाख योजन की है । उन वनों के बाहरी ओर अर्थात् अंजनगिरी से एक लाख योजन दूरीपर चारों दिशाओं में चार सरोवर हैं जो चौरस हैं, एक-एक लाख योजन विस्तारवाले हैं । इन सरोवरों को वापी या वापिका कहते हैं । निर्मल जल से भरी हुयी इन वापिकाओं के मध्य में एक-एक दधिमुख पर्वत है । दधिमुख पर्वत भी गोलाकार है जो १०००० योजन ऊंचा और १०००० योजन चौड़ा है, इसकी नींव भी १००० योजन की है । दधिमुख पर्वत श्वेत वर्ण के हैं । इनके प्रत्येक के ऊपर भी अकृत्रिम चैत्यालय है ।

प्रत्येक वापिका एक लाख योजन लम्बी और चौड़ी है और उसके चारों दिशाओं में एक-एक ऐसे चार वन हैं । इनकी लम्बाई वापिका के समान एक लाख योजन की है और चौड़ाई पचास हजार योजन की है । चित्र में वापी नीले रंग में और वन हरे रंग में दिखाये हैं । इन वनों के नाम चार्ट में देखना – पूर्व में अशोकवन, दक्षिण में सप्तपर्णवन, पश्चिम में चम्पकवन और उत्तर में आम्रवन हैं ।

अब आपको चार्ट में नन्दीश्वर द्वीप के पूर्व दिशा की रचना देखना है । मध्य में एक अंजनगिरी, उसके चहूं ओर चार वापिका जिनके मध्य में चार दधिमुख हैं । अब अंजनगिरी के पूर्व में जो वापी और दधिमुख है उसके ईशान दिशा में एक और आग्नेय दिशा में एक रतिकर पर्वत हैं । चार्ट में तो आपको एक लाल बिंदू दिखायी दे रहा

है । अंजनगिरी के दक्षिण में जो वापी एवं दधिमुख है उसके आग्नेय में एक और नैऋत्य में एक रतिकर पर्वत हैं । अंजनगिरी के पश्चिम में जो वापी एवं दधिमुख है उसके नैऋत्य में एक और वायव्य में एक रतिकर पर्वत है । अंजनगिरी के उत्तर में जो वापी एवं दधिमुख है उसके वायव्य में एक और ईशान्य में एक रतिकर है ।

इसप्रकार प्रत्येक दधिमुख के बाहरी विदिशाओं में दो-दो रतिकर हैं । ऐसे एक अंजनगिरी संबंधी चार दधिमुख और आठ रतिकर सब मिलकर तेरह पर्वत होते हैं ।

रतिकर पर्वत लाल वर्ण के हैं । वे भी गोलाकार हैं, १००० योजन ऊंचे और १००० योजन चौड़े हैं और उनकी नींव २५० योजन है । किन्हीं आचार्यों का कहना है कि चारों विदिशाओं में चार रतिकर हैं, परंतु दो पर ही चैत्यालय हैं । हम तो केवल जहां अकृत्रिम चैत्यालय हैं उन्हीं पर्वतों की चर्चा कर रहे हैं । इसलिए नन्दीश्वर द्वीप के पूर्वादि चार दिशाओं में प्रत्येक दिशा में तेरह पर्वत और उसपर तेरह अकृत्रिम जिनचैत्यालय हैं । सब मिलकर बावन जिनचैत्यालय हैं ।

हम अर्घ्य चढ़ाते हैं तब बोलते हैं ना 'ॐ ह्रीं श्री नन्दीश्वर द्वीपे पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरे द्विपंचाशत् जिनालयस्थ जिनप्रतिमाभ्यो अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा' । अभी तक तो हमने केवल बावन जिनालय देखे हैं । एक-एक जिनालय में १०८-१०८ जिनप्रतिमायें होती हैं । कुल प्रतिमायें ५२ × १०८ = ५६१६ हैं । ये सभी रत्नमयी प्रतिमायें हैं-रत्नजड़ित नहीं-अकृत्रिम हैं-किसीने बनायी नहीं हैं-शाश्वत हैं और हम-आप जीव भी शाश्वत हैं-अकृत्रिम हैं इसकी तो महिमा ही नहीं आती, क्यों ?

अष्टान्हिका पर्वों में कल्पवासी, व्यंतर, ज्योतिषि, भवनवासी इन्द्र तथा अन्य देव, उनके परिवार सहित आते हैं । कल्पवासियों के सौधर्मादिक बारह इन्द्र अपने-अपने वाहनों पर आते हैं । उनके रहने के स्थानों को भी विमान कहते हैं । यहां उनके वाहन क्रम से इसप्रकार हैं – हाथी, घोडा, सिंह, सारस पक्षी, कोयल, हंस, चकवा, गरुड, माछला, मोर, कमल, पुष्पक विमान । वहां कोई तिर्यंच वाहन नहीं है, वाहन जाति के देव ही विक्रिया से इनका रूप लेते हैं । इन वाहनों को भी विमान कहते हैं । इन पर आरूढ़ होकर सौधर्मादि देव अपने परिवार सहित कल्पवृक्षों से प्राप्त दिव्य फल-फूल आदि पूजन द्रव्य हाथों में लेकर आते हैं । ये सभी इन्द्रादि देव प्रशस्त

आभरण पहनकर आते हैं, चामर, सेना आदि सहित होते हैं, ध्वज तथा वादित्रों के शब्दों से संयुक्त होते हैं । वहां आठ दिन तक ऐन्द्रध्वज याने इन्द्रध्वज पूजन करते हैं । वहां दिन रात का भेद नहीं है । तिर्यंचों की जघन्य भोगभूमि होने से वहां भी कल्पवृक्षों से ही प्रकाश होता है । हमारे एक दिन रात में आठ प्रहर होते हैं । ये सभी देव आठ दिन तक अष्टमी से पूर्णिमा तक निरंतर पूजन करते हैं । एक-एक दिशा में दो प्रहर तक पूजा करके फिर अन्य दिशा में जाकर पूजा करते हैं । पूर्ववाले दक्षिण में जाते हैं, दक्षिणवाले पश्चिम में, पश्चिमवाले उत्तर में और उत्तरवाले पूर्व में जाते हैं । फिर दो प्रहर के बाद आगे की दिशा में जाते हैं इसतरह प्रदक्षिणारूप महोत्सव युक्त जिनपूजन करते हैं । प्रारंभ में पूर्व दिशा में कल्पवासी, दक्षिण में भवनवासी, पश्चिम में व्यंतर और उत्तर में ज्योतिषि देव होते हैं । उनके इन्द्र क्रम से सौधर्म ईशान आदि, चमरेन्द्र वैरोचन आदि, किम्पुरुष आदि तथा चन्द्र आदि हैं । प्रदक्षिणा देकर लगातार आठ दिन रोज के चौबीस घण्टे पूजन चलती है । वहां दिन रात का भेद नहीं होता परंतु अपने यहां रात में पूजन का निषेध है । रात में स्वाध्याय, ध्यान, चिंतन कर सकते हैं ।

प्रश्न – हम फल-फूल नहीं चढ़ाते और इन्द्र चढ़ायें तो चलता है ?

उत्तर – इन्द्र जो फल-फूल लाते हैं वे कल्पवृक्षों से प्राप्त दिव्य फल-फूल होते हैं-रत्नमयी होते हैं-अचित्त होते हैं, सचित्त नहीं । हम जो द्रव्य चढ़ाते हैं वह प्रासुक, योग्य और हिंसारहित होना चाहिये । कुछ गलत रूढ़ियां चल पड़ती हैं परंतु हम सही या गलत का निर्णय करके सही बातें अंगीकार कर सकते हैं ।

पर्वतों पर ये जो जिनालय हैं उनके तीन मणिमय कोट हैं जो चार-चार द्वारों से युक्त हैं । इन द्वारों में से होकर अंदर जाने का जो मार्ग है-गली है उसे वीथी कहते हैं । एक-एक वीथी में एक-एक मानस्तंभ और नौ-नौ स्तूप हैं । तीसरे और दूसरे कोट के अंतराल में वन है, दूसरे और पहले के अंतराल में ध्वजायें पायी जाती हैं और तीसरे कोट के अंदर चैत्यभूमि है जिसके मध्य में चैत्यालय है ।

इन सभी अकृत्रिम चैत्यालयों का स्वरूप हम बाद में देखेंगे । ये सारे ही पर्वत, जिनालय या अन्य जितनी भी रचनायें हैं वहां अलग-अलग जाति के व्यंतरों के निवास हैं । अब हम नन्दीश्वर जिनालय के पूजन की जयमाला देखते हैं – यहां

चारों दिशाओं के चार अंजनगिरी, प्रत्येक दिशा के चार-चार ऐसे कुल सोलह दधिमुख और प्रत्येक दिशा के आठ-आठ रतिकर ऐसे बत्तीस रतिकर सब मिलकर बावन जिनमंदिरों का वर्णन अत्यंत भावपूर्ण भाषा में किया हुआ है ।

जयमाला

दोहा : कार्तिक फागुन साढके, अन्त आठ दिन माहिं ।
नंदीश्वर सुर जात हैं, हम पूजें इह ठाहिं ।।१।।

एक-सौ त्रेसठ कोड़ि जोजन महा ।
लाख चौरासिया एक दिश में लहा ।।
अट्ठमों द्वीप नंदीश्वरं भास्वरं ।
भौन बावन्न प्रतिमा नमों सुखकरं ।।टेक०।।२।।

चार दिशि चार अंजनगिरि राजहीं ।
सहस चौरासिया एक दिश छाजही ।।
ढोलसम गोल ऊपर तले सुन्दरं ।।भौन०।।३।।

एक इक चार दिशि चार शुभ बावरी ।
एक एक लाख जोजन अमल जलभरी ।।
चहुँदिशि चार वन लाख जोजन वरं ।।भौन०।।४।।

सोल वापीन मधि सोल गिरि दधिमुखं ।
सहस दश महा जोजन लखत ही सुखं ।।
बावरीकोन दो माहिं दो रतिकरं ।।भौन०।।५।।

शैल बत्तीस इक सहस जोजन कहे ।
चार सोलै मिलैं सर्व बावन लहे ।।
एक इक सीस पर एक जिन मंदिरं ।।भौन०।।६।।

बिंब अठ एकसौ रतनमयी सोह ही ।
देवदेवी सरव नयनमनमोहही ।।
पांचसै धनुष तन पद्म आसन परं ।।भौन०।।७।।

लाल नख मुख नयन स्याम अरु श्वेत हैं ।
स्यामरंग भोंह सिरकेश छवि देत हैं ।।
वचन बोलत मनों हँसत कालुष हरं ।।भौन०।।८।।

कोटि शशि-भानदुति तेज छिप जात है ।
महा वैराग परिणाम ठहरात है ।।
बयन नहिं कहैं लखि होत सम्यक् धरं ।।भौन०।।९।।

सोरठा – नंदीश्वर जिनधाम, प्रतिमा महिमा को कहै ।
'ज्ञानत' लीनो नाम, यही भगति शिवसुख करैं ।।

देखिये अंत में क्या लिखते हैं कि करोड़ों भानु याने सूर्य और शशि याने चन्द्रों की प्रभा भी फीकि पड़ जाये ऐसा उन जिनप्रतिमाओं का तेज है-द्युति है, जो महावैराग्य का कारण है । जिनेन्द्र भगवान की शांत मुद्रा देखते ही हमारे कलुषित परिणाम दूर हो जाते हैं । भगवान की प्रतिमा देखकर हम भगवान के स्वरूप का विचार करते हैं तो हमें अपने स्वभाव की पहचान होती है । भगवान की अंतरोन्मुख मुद्रा तो हमें मूक उपदेश देती है । भगवान ने बताया हुआ मार्ग-उपदेश तो हमें जिनागम के द्वारा प्राप्त होता है, उसे पढ़कर भगवान के प्रती अतीव भक्तिभाव सहज आता ही है ।

लोग तो भक्ति पूजा करके भगवान को सुनाते हैं, भगवान की कौन सुनता हैं ? किसे फुरसत है ? आपको पता है ? द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों के वचन होते हैं, वे बोलते हैं परंतु उनके कर्णेन्द्रिय नहीं होने से सुनते नहीं हैं । हम भी भगवान के सामने जाकर स्तुति आदि बोलते हैं और भगवान का बताया हुआ उपदेश नहीं सुनते तो हमारी भी दशा विकलेन्द्रिय जैसी हुयी ना ?

अब हम नन्दीश्वर द्वीप के बावन जिनालयों में विराजमान ५६१६ जिनप्रतिमाओं को यहीं से भावपूर्वक नमस्कार करके विराम लेते हैं ।

बोलिये, विदेहक्षेत्र में विराजमान उन्नीसवें तीर्थंकर श्री देवयश भगवान की जय ।

२०. अकृत्रिम जिनचैत्यालय-वर्णन

श्रीमद् नेमिचन्द्र आचार्य विरचित त्रिलोकसार ग्रंथ के आधार से हम त्रिलोक का स्वरूप देख रहे हैं । ग्रंथ के प्रारंभ में दूसरी गाथा में तीन लोक के अकृत्रिम जिन चैत्यालयों को नमस्कार करके ग्रंथ रचना का प्रारंभ किया है ।

वह गाथा इसप्रकार है –

भवणव्विंतरजोइस विमाणणरतिरियलोय जिणभवणे ।
सव्वामरिंदणरवइ संपूजिय वंदिए वंदे ।।२।।

हमने भी अब तक अकृत्रिम चैत्यालय कहां-कहां होते हैं उसे देखा था – ज्योतिषियों के असंख्यात ज्योतिष्क विमानों में-प्रत्येक में एक-एक ऐसे असंख्यात जिनालय हैं, व्यंतरों के भी भवनों में और आवासों में असंख्यात जिनालय हैं । तीन लोक के अन्य संख्यात जिनालयों में से अधोलोक में भवनवासियों के सात करोड बहत्तर लाख भवनों में उतने ही जिनालय हैं, ऊर्ध्वलोक में वैमानिकों के कुल विमान चौरासी लाख सत्तानबे हजार तेइस हैं उतने ही वहां जिनालय हैं तथा मध्यलोक में चार सौ अट्ठावन जिनालय हैं ।

मध्यलोक के जिनालयों को दुबारा देखेंगे । उसके पहले हम तीन पर्वतों की बात करेंगे – मानुषोत्तर पर्वत, कुंडलगिरी और रुचकगिरी । पुष्करवर द्वीप के मध्य में ढ़ाई द्वीप को घेरे हुये वलयाकार मानुषोत्तर पर्वत है । मनुष्यक्षेत्र याने अंदर की ओर वह दीवार के समान सीधा ऊंचा है इसकी ऊंचाई १७२१ योजन है । उसकी नींव ऊंचाई के चौथे भाग प्रमाण अर्थात् $४३०\frac{१}{४}$ योजन है । बाह्य में तिर्यक्लोक की तरफ वह मूल से शिखर तक क्रम से घटता है । नीचे चौड़ाई १०२२ योजन और शिखर पर चौड़ाई ४२४ योजन है । सुवर्णसमान इसका वर्ण है । इस पर्वत में चौदह गुफारूप द्वार हैं जिनमें से चौदह महानदियां निकलकर बाहर जाती हैं । इस पर्वत के शिखर पर पर्वत जैसी ही वलयाकार वेदी है जो ४००० धनुष ऊंची और सव्वा कोस चौड़ी है ।

इस पर्वत की परिधि में नैऋत्य और वायव्य दिशा छोड़कर शेष छह दिशाओं में पंक्तिरूप तीन-तीन कूट हैं । उन कूटों के अभ्यंतर मनुष्यलोक की तरफ चार दिशाओं में प्रत्येक में एक ऐसे चार अकृत्रिम जिनालय हैं । आग्नेय और ईशान्य दिशासंबंधी छह कूटों में गरुडकुमार देव रहते हैं । अन्य दिशाओं के बारह कूटों में सुपर्णकुमार देव और दिक्कुमारी देवांगनायें रहती हैं ।

कुण्डलगिरी नामक पर्वत ग्यारहवें कुण्डलवर द्वीप में है । यह भी वलयाकार है और कुण्डलवर द्वीप के मध्य में स्थित है । इसकी चौड़ाई मानुषोत्तर पर्वत से दसगुणा है । नीचे चौड़ाई १०२२० योजन और शिखर पर चौड़ाई ४२४० योजन है । इसकी ऊंचाई ७५००० योजन है । यह पर्वत सुवर्णमय है । इस कुण्डल पर्वत के परिधि में एक-एक दिशा में चार-चार कूट पंक्तिरूप हैं ऐसे सोलह हुये । उनके अभ्यंतर मनुष्यलोक की तरफ चार दिशाओं में प्राप्त चार जिनेन्द्र कूट याने सिद्धकूट हैं उनमें अकृत्रिम चैत्यालय हैं ।

तेरहवें रुचकवर द्वीप में वलयाकार रुचकगिरी नामक पर्वत है । उसके परिधि में पूर्वादि प्रत्येक दिशा में पंक्तिरूप आठ-आठ कूट हैं । उनके अभ्यंतर चार दिशाओं में चार कूट हैं, फिर उनके अभ्यंतर चार दिशाओं में चार कूट और उनके भी अभ्यंतर चार दिशाओं में चार कूट हैं । सबसे अभ्यंतर चार कूट जिनेन्द्र कूट हैं जो अकृत्रिम चैत्यालय युक्त हैं ।

पूर्वादि चारों दिशाओं में जो आठ-आठ कूट हैं वहां प्रत्येक दिशा में आठ-आठ दिक्कुमारी देवांगनायें रहती हैं जो क्रम से झारी, दर्पण, तीन छत्र और चामर को धरकर तीर्थंकर की उत्पत्ति काल में माता की सेवा करती हैं ।

उसके अभ्यंतर चार कूटों में चार देवियां रहती हैं वें तीर्थंकर के जन्म काल में दिशाओं को प्रसन्न रखती हैं-निर्मल करती हैं । उसके अभ्यंतर चार कूटों में चार देवियां रहती हैं वे तीर्थंकर के जन्म समय में जातकर्म अर्थात् प्रसूति करने में कुशल होती हैं ।

अब हम मध्यलोक के अकृत्रिम चैत्यालयों को देखेंगे । मनुष्यलोक में ढ़ाई द्वीपों में पांच मेरुपर्वत हैं उन प्रत्येक पर भद्रशालवन के चार, नन्दनवन के चार, सौमनसवन

के चार और पाण्डुकवन के चार ऐसे सोलह जिनालय हैं ।

प्रत्येक मेरु संबंधी छह कुलाचल पर्वत हैं, उन प्रत्येक पर एक-एक जिनालय है । कुलाचल याद है ना, इनके कारण द्वीप के सात-सात क्षेत्र होते हैं ।

प्रत्येक मेरु संबंधी विदेहक्षेत्रों में हमने वक्षार पर्वत देखे थे । इन ४ वक्षारों एवं ३ विभंगा नदियों के कारण पूर्व विदेह के उत्तर एवं दक्षिण में तथा पश्चिम विदेह के उत्तर एवं दक्षिण में आठ-आठ क्षेत्र विभाजित हुये हैं । इसतरह एक-एक मेरु संबंधी सोलह वक्षार पर्वत हैं, उन प्रत्येक पर एक-एक जिनालय है ।

प्रत्येक विदेहक्षेत्र में तथा प्रत्येक भरत-ऐरावत में हमने एक-एक विजयार्ध पर्वत देखा था । इस पर्वत एवं दो नदियों के कारण प्रत्येक क्षेत्र के छह-छह खण्ड होते हैं । इसतरह विदेह के बत्तीस, भरत का एक और ऐरावत का एक ऐसे एक-एक मेरु संबंधी चौंतीस विजयार्ध हैं । प्रत्येक पर एक-एक जिनालय है ।

जम्बूद्वीप में हमने एक जम्बूवृक्ष और एक शाल्मली वृक्ष देखा था, प्रत्येक मेरु संबंधी दो-दो वृक्ष हैं, उन प्रत्येक पर एक-एक जिनालय है । प्रत्येक मेरु के चार विदिशाओं में चार गजदन्त हैं, उनके प्रत्येक के एक कूट पर जिनालय है, इसतरह प्रत्येक मेरु के चार गजदन्तों पर चार जिनालय हैं ।

धातकीखण्ड में उत्तर तथा दक्षिण में दो इष्वाकार पर्वत हैं, पुष्करार्ध में भी ऐसे ही दो इष्वाकार हैं । इन चार इष्वाकारों पर प्रत्येक पर एक ऐसे चार जिनालय हैं ।

मानुषोत्तर पर्वत पर चार जिनालय हैं, नन्दीश्वर द्वीप के बावन जिनालय हैं, कुण्डलगिरी पर चार और रुचकगिरी पर चार जिनालय हैं । ऐसे मध्यलोक के कुल ४५८ जिनालय हैं ।

उन्हें निम्नप्रकार से दुबारा देखते हैं ।

एक मेरु संबंधी – मेरु के १६, गजदन्त के ४, कुलाचल के ६, विजयार्ध के ३४, वक्षार के १६, वृक्षों के २ इसतरह कुल ७८ हुये । इसलिए पांच मेरु संबंधी ७८ × ५ = ३९० हुये ।

इष्वाकार ४, मानुषोत्तर ४, नन्दीश्वर ५२, कुण्डलवर ४, रुचकवर ४ कुल

६८ हुये । ३९० + ६८ = ४५८ मध्यलोक के अकृत्रिम चैत्यालय हैं ।

अब इन अकृत्रिम चैत्यालयों का स्वरूप देखते हैं । इनके उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य ऐसे तीन प्रकार के आकार होते हैं ।

उत्कृष्ट जिनालय १०० योजन लम्बे, ५० योजन चौड़े, ७५ योजन ऊंचे होते हैं । जमीन के अंदर नींव आधे योजन की होती है । इनके पूर्व दिशा के द्वारों की ऊंचाई १६ योजन और चौड़ाई आठ योजन होती है । दोनों पार्श्वभागों में जो दरवाजे हैं वे ८ योजन ऊंचे और ४ योजन चौड़े होते हैं । पीछे की ओर कोई द्वार नहीं होते ।

मध्यम जिनालय इनसे आधे और जघन्य जिनालय उनसे भी आधे होते हैं ।

इन्हें निम्न प्रकार से देख सकते हैं ।

	उत्कृष्ट जिनालय	**मध्यम जिनालय**	**जघन्य जिनालय**
लम्बाई	१०० योजन	५० योजन	२५ योजन
चौड़ाई	५० योजन	२५ योजन	$१२\frac{१}{२}$ योजन
ऊंचाई	७५ योजन	$३७\frac{१}{२}$ योजन	$१८\frac{३}{४}$ योजन
मुख्य द्वार – ऊंचाई	१६ योजन	८ योजन	४ योजन
चौड़ाई	८ योजन	४ योजन	२ योजन
छोटे द्वार – ऊंचाई	८ योजन	४ योजन	२ योजन
चौड़ाई	४ योजन	२ योजन	१ योजन

ये उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य जिनालय कहां हैं देखते हैं –

उत्कृष्ट जिनालय – भद्रशालवन, नन्दनवन, नन्दीश्वर द्वीप और वैमानिक देवों के विमानों में स्थित जिनालय उत्कृष्ट आकार के अर्थात् १०० योजन के हैं ।

मध्यम जिनालय – सौमनसवन, रुचकवर द्वीप, कुण्डलवर द्वीप, वक्षार पर्वत, इष्वाकार पर्वत, मानुषोत्तर पर्वत और कुलाचलों पर स्थित जिनालय मध्यम आकार के अर्थात् ५० योजन के हैं ।

जघन्य जिनालय – पाण्डुकवन में हैं जो २५ योजन के हैं ।

इन उपरोक्त तीन प्रकार के जिनालयों से भिन्न आकारवाले जिनालय विजयार्ध पर्वत, जम्बू-शाल्मली वृक्षों पर स्थित हैं । वे एक कोस विस्तारवाले हैं ।

भवनवासी और व्यंतरों के भवनों में स्थित जिनालयों के आकार का विशेष वर्णन शास्त्रों में नहीं है, हम इतना ही कह सकते हैं कि जैसा जिनेन्द्रदेव ने देखा है उसी आकार के हैं ।

ये सभी जिनालय पूर्वाभिमुख होते हैं । इन जिनालयों को जिनेन्द्र प्रासाद भी कहते हैं । वे शंख-चन्द्रमा-कुन्दपुष्प के समान धवल होते हैं और मणियों के किरणों से अंध:कार को नष्ट करते हैं । त्रिभुवनतिलक नाम से ये जाने जाते हैं । इन जिनालयों के द्वारों के प्रमाणवाले कपाट युगल वज्रमयी हैं तथा मरकत, कर्केतनादि रत्नों से युक्त हैं । जिनालय में पांच वर्णों के रत्नों से रचे गये स्तम्भ हैं । निर्मल एवं उत्तम स्फटिक रत्नों से रची गयी भित्तियां अनेक प्रकार से विस्मयजनक चित्रों से युक्त हैं ।

खम्भों की मध्यभूमि पांचों वर्णों के रत्नों से निर्मित, शरीर, मन, नेत्रों को आल्हाददायक, निर्मल और धूलरहित है । ये प्रासाद मोतियों की मालाओं से, चामरों से युक्त हैं, उत्तम रत्नों से विभूषित हैं ।

जिनमंदिर में १०८ गर्भगृह हैं । जिनमंदिर के मध्य में रत्नों के स्तम्भों से युक्त २ योजन चौड़ा, ८ योजन लम्बा, ४ योजन ऊंचा देवच्छन्द अर्थात् छप्पर मंडप है । उसमें लटकती हुयी पुष्पमालायें अनेक वर्णों के मणिरत्नों से निर्मित हैं, चौंसठ कमलमालाओं से सुशोभित, नाना प्रकार के चंवर एवं घण्टाओं से रमणीय, गोशीर-मलयचन्दन-कालागरू, धूप के गन्ध से व्याप्त, झारी कलश दर्पण तथा अनेक प्रकार की ध्वजा पताकाओं से सुशोभित रत्नदीपकों से युक्त देवच्छन्द है ।

जिनमंदिरों के मध्यभाग में पादपीठों सहित स्फटिक मणिमय एक सौ आठ

सिंहासन हैं उनके ऊपर ५०० धनुष ऊंची एक सौ आठ अनादिनिधन जिनप्रतिमायें विराजमान हैं । इन्द्रनील मणिमय कुंतल और भृकुटियों के अग्रभाग, स्फटिकमणि इन्द्रनील मणि के धवल और कृष्ण नेत्रयुगल, वज्रमय दंतपक्ति, पल्लवसदृश अधरोष्ठ, हीरों सदृश नख, कमल सदृश लाल हाथ पैर, १००८ व्यंजन समूह और ३२ लक्षणों से युक्त, तीन छत्र सहित, पल्यंकासन सहित, समचतुरस्र आकारवाली ये जिनप्रतिमायें नित्य जयवंत हो । प्रत्येक प्रतिमा के समीप हाथ में चौंसठ चंवरों को लिये बत्तीस देवयुगलों की प्रतिमायें होती हैं । प्रत्येक प्रतिमा के पास घण्टा आदि उपकरण और दिव्य मंगल द्रव्य सुशोभित हैं । ये मंगल द्रव्य झारी, कलश, दर्पण, चंवर, ध्वजा, बीजना (पंखा), छत्र, सुप्रतिष्ठित (ठोना) हैं । प्रत्येक प्रतिमा के पास १०८-१०८ अष्टमंगल द्रव्य होते हैं । यक्षों की मूर्तियां भी वहां होती हैं । श्रीदेवी, श्रुतदेवी (सरस्वती देवी), सर्वाण्ह यक्ष और सनत्कुमार यक्ष इन चारों की मूर्तियां जिनेन्द्र भगवान के पार्श्वभागों में होती हैं ।

जिनालयों के बाहर रत्नमयी कोट होते हैं । वहां धूप के बड़े-बड़े घड़े होते हैं, पताकायें होती हैं । इन्द्रध्वज विधान की पुस्तकों में इसका विस्तार से वर्णन आता है ।

इसप्रकार व्यंतर और ज्योतिषियों के असंख्यात अकृत्रिम चैत्यालयों को छोड़कर तीन लोक के शेष चैत्यालय आठ करोड छप्पन लाख सत्तानबे हजार चार सौ इक्यासी हैं । प्रत्येक में १०८ प्रतिमायें हैं, इनमें प्रतिमाओं की कुल संख्या ९ अरब २५ कोटी ५६ लाख २७ हजार ९४८ हैं ।

इन सभी को हम यहीं से भाव सहित नमस्कार करते हैं ।

अब कुछ प्रश्न आये हैं । एक प्रश्न चक्रवर्ती संबंधी है कि वे मोक्ष जाते है या स्वर्ग में जाते हैं या नरक में जाते हैं ? इसकी चर्चा तो पहले हुयी थी । इनमें से कोई भी बात हो सकती है । अपने यहां चौथे काल में बारह चक्रवर्ती हुये उनमें से तीसरे मघवान और चौथे सनत्कुमार चक्रवर्ती मरकर स्वर्ग में गये; आठवें सुभौम चक्रवर्ती और बारहवें ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती सातवें नरक में गये तथा अन्य आठ चक्रवर्ती मोक्ष गये हैं । चक्रवर्ती पद में ही जो मरता है वह नियम से सातवें नरक में जाता है ।

एक प्रश्न समुद्घात संबंधी था कि समुद्घात क्या होता है ? किसीका घात

करना है क्या ?

उत्तर – वहां किसीका घात नहीं होता । मूल शरीर को छोड़े बिना आत्मप्रदेशों के शरीर के बाहर फैलने को समुद्घात कहते हैं । केवली समुद्घात का नाम अनेकों ने सुना होगा । तेरहवें गुणस्थान के अंत में आयु कर्म और अन्य तीन अघाति कर्मों की स्थिति समान करने के लिये केवली समुद्घात होता है । यह सहज होता है, सोच समझकर नहीं करना पड़ता, वहां बार-बार झांककर देखना नहीं पड़ता कि अब कर्मों की लेव्हल बराबर हुयी कि नहीं हुयी ।

प्रश्न – हमारा भी समुद्घात होता है क्या ?

उत्तर – सात प्रकार के समुद्घात हैं – (१) वेदना समुद्घात, (२) कषाय समुद्घात, (३) मारणांतिक समुद्घात, (४) वैक्रियिक समुद्घात, (५) तेजस् समुद्घात, (६) आहारक समुद्घात, (७) केवली समुद्घात ।

वेदना समुद्घात – तीव्र वेदना के समय आत्मप्रदेश शरीर के बाहर भी फैल जाते हैं, मूल शरीर में तो रहते ही हैं । एक प्रदेश से लेकर अपनी अवगाहना के तिगुणे तक फैल सकते हैं । वह भी चौड़ाई में फैलते हैं, लम्बाई में नहीं । तीनगुणा से ज्यादा नहीं फैलते । कुछ समयों में-अंतर्मुहूर्त में वापिस मूल शरीर में आ जाते हैं ।

कषाय समुद्घात – तीव्र कषाय के काल में आत्मप्रदेशों का शरीर के बाहर फैलना होता है । यहां भी वेदना समुद्घात के समान आत्मप्रदेश चौड़ाई में तीन गुणा फैलते हैं अर्थात् ३ × ३ = ९ गुणा तक आत्मप्रदेशों की अवगाहना हो सकती है । बाद में पहले समान वापिस मूल शरीर में आते हैं ।

मारणान्तिक समुद्घात – मरण के एक अंतर्मुहूर्त पहले जीव के आत्मप्रदेश जहां जन्म लेना है वहां तक फैले रहते हैं । विग्रहगति में जीव जिस प्रकार ऋजुगति से याने सीधा जाता है या मोड़सहित जाता है, ठीक उसी तरह आत्मप्रदेश फैले रहते हैं । दो-चार नहीं, बहुसंख्यांक जीवों के मारणांतिक समुद्घात होता है, एकेन्द्रियों के भी होता है । प्रतिसमय अनंत जीव मरकर अन्यत्र गमन करते हैं और उसके पूर्व अनंत जीवों का मारणान्तिक समुद्घात भी होता रहता है । पूरे लोक में ऐसी कोई जगह खाली नहीं है कि जहां जीवों के प्रदेश मारणांतिक समुद्घातरूप से फैले न हो ।

पहले हमने ऐसा सुना था या कहीं पढ़ा भी था कि मारणांतिक समुद्घात होनेपर जीव के प्रदेश वापिस मूल शरीर में समेटते हैं और पश्चात् मरण होता है । परंतु हमारे धवला के स्वाध्याय में हमने पढ़ा और हमारे यहां उसपर चर्चा भी हुयी कि मरण के अंतर्मुहूर्त पहले जीव के प्रदेश इस रीती से फैले ही रहते हैं और जब मरण होता है तो मूल शरीर से शेष सभी प्रदेश निकलकर उसी विग्रहगति के मार्ग से जाते हैं । जैसे हमें छोटा गड्ढा पार करना है तो हम पहले एक कदम उस पार रखेंगे और फिर दूसरा कदम इस ओर से उठा लेंगे ।

प्रश्न – मारणांतिक क्यों करना पड़ता है ?

उत्तर – आगामी आयु का बंध होकर वह कर्म सत्ता में पड़ा है । जहां जन्म लेना है वह भी निश्चित है । ये बातें सहज निमित्त नैमित्तिकरूप से होती है । कोई अपने जन्मने की जगह देखकर आया इसलिए हसते-हसते मरा ऐसी हमने सुनी हुयी बातों में कुछ दम नहीं है । मरण के पश्चात् आत्मा भटकती रहती है आदि बातें कोरा भ्रम है ।

वैक्रियिक समुद्घात – देवगति के जीव विक्रिया द्वारा अन्य शरीर बनाकर अन्यत्र गमन करते हैं, मध्यलोक में आते हैं, तीसरे नरक तक भी जा सकते हैं, परंतु उनके आत्मप्रदेश मूल शरीर को छोड़ते नहीं अर्थात् जहां नया शरीर गया है वहां तक आत्मप्रदेश फैले रहते हैं । यह भी एक अंतर्मुहूर्त तक रहता है । चक्रवर्ती भी औदारिक शरीर द्वारा विक्रिया कर सकते हैं, अन्य जीवों के या ऋद्धिधारियों के वैक्रियिक समुद्घात होता है । विष्णुकुमार मुनि की कथा तो पता ही है सबको । इतना ही नहीं, वायुकायिक जीवों के भी विक्रिया होती है ।

तेजस् समुद्घात – इसके दो भेद हैं । शुभ तेजस् और अशुभ तेजस् । दुकाल, महामारी आदि का प्रकोप होनेपर जीवों के प्रति दया, अनुकम्पा परिणामों के कारण मुनिराज के दाहिने कंधे से नीले वर्ण युक्त शुभ तेजस् शरीर निकलता है उसके साथ आत्मप्रदेश भी फैलते हैं । १२ योजन × ९ योजन तक फैल सकते हैं । बीमारी दुकाल आदि का निवारण करके वापिस मूल शरीर में प्रवेश करते हैं । तीव्र क्रोधादि के कारण अशुभ तेजस् सिन्दूर के वर्णवाला बिल्ली का आकार युक्त मुनिराज के बाये

कंधे से निकलकर १२ योजन × ९ योजन तक फैलकर उतने क्षेत्र को जलाकर वापिस मूल शरीर में आता है और मुनिराज का शरीर भी भस्म हो जाता है ।

यह शुभ तेजस् समुद्घात हो या अशुभ तेजस् समुद्घात हो, होता तो है भावलिंगी संतों को ही । मुनिराज किसी को जलाना तो नहीं चाहते, परंतु परिणाम बिगड़ने में कितने समय लगते हैं ? द्वीपायन मुनि के बारे में कथा सुनी है ना ? नेमिनाथ तीर्थंकर की वाणी में आया था कि बारह वर्षों बाद राजकुमार मद्य पीकर द्वीपायन मुनिपर उपसर्ग करेंगे और उनके कारण द्वारका जलेगी । द्वीपायन द्वारका छोड़कर चले गये, पूरे राज्य में से दारु बनाने की सामग्री जंगल, पहाड, खाइयों में फेंकी गयी । सबने सोचा अब तो हमने निमित्तों को दूर कर दिया है अब द्वारका कैसे जलेगी ?

अधिक महिना गिनना भूलकर द्वीपायन द्वारका लौट आये यह देखने के लिये कि मैं तो यहां था ही नहीं, कैसी है द्वारका ? यादव राजकुमार क्रीडा के लिये पिकनिक मनाने वन-जंगल में गये थे, रास्ता भूलकर भटक गये, प्यासे होकर वहां के तालाब का पानी पिया जिसमें मद्य की सामग्री से मद्य तैयार हुआ था, लौटते समय द्वीपायन को देखकर उन्हें पत्थर मारना शुरु किया । मुनि क्रोधित हुये और अशुभ तेजस् शरीर से द्वारका जली । कहीं शास्त्र में ऐसा भी लिखा है कि उपसर्ग के काल में क्रोधित होकर मरे, अग्निकुमार देव होकर जन्मे और उन्होंने द्वारका जलायी ।

निमित्तों को हटाने की पूरी कोशिश की तो होनेवाला प्रसंग टल गया, क्या निमित्त टल गये ? निमित्तों को टाल भी नहीं सकते, जबरदस्ती से ला भी नहीं सकते । प्रत्येक कार्य अपने स्व समयपर अपने उपादान से ही घटित होता है और उसका निमित्त भी निश्चित होता है । चूंकि निमित्त से कार्य नहीं होता, परंतु वह भी निश्चित होता है उसे बदल नहीं सकते ।

किसी की ॲक्सिडेंट में मौत हो गयी तो लोग कहते हैं ना ! बिचारा मर गया, घर में बैठता तो बच जाता ! या कोई बीमारी से मर जाये तो कहते हैं कि उस डॉक्टर के पास क्यों गया ? फलाने अस्पताल में जाना चाहिये था । अमरिका में क्यों इलाज नहीं किया, फिर तो बच जाते ? प्रत्येक जीव के मरण का समय, स्थान, निमित्त सब कुछ निश्चित है । केवल मरण की ही नहीं, जन्म से लेकर मरण तक की

सभी घटनायें, सभी अवस्थायें, केवल जीव की ही नहीं एक-एक परमाणु की-प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय जिस समय में, जिस क्षेत्र में, जिस निमित्त से, जिस विधि से जैसी होनी है वह वैसी ही होती है, कुछ बदल हो ही नहीं सकता ।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ में स्वामी कार्तिकेय महाराज लिखते हैं –

जं जस्स जम्हि देसे जेण विहाणेण जम्हि कालम्हि ।
णादं जिणिंद णियदा जम्मं वा अहव मरणं वा ।।३२१।।

तं तस्स तम्हि देसे तेण विहाणेण तम्हि कालम्हि ।
को सक्कदि वारेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा ।।३२२।।

एवं जो निश्चयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए ।
सो सद्दिट्ठि सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठि ।।३२३।।

प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय जिस क्षेत्र में जिस विधि से जिस काल में जैसी होनी है वह जिनेन्द्र भगवान के ज्ञान में निश्चितपने जाना जाता है परंतु उसे टालने में चक्रवर्ती, इन्द्र या स्वयं जिनेन्द्र भगवान भी समर्थ नहीं है । ऐसा जो निश्चित करता है वह सम्यग्दृष्टि है, जो शंका करता है वह मिथ्यादृष्टि है ।

आहारक समुद्घात – आहारक ऋद्धिधारी मुनिराजों को तत्त्वों में कोई प्रश्न उठता है या वे कोई समाधान चाहते हैं या वे जिनालयों की वन्दना करना चाहते हैं तो उनके मस्तक से एक हाथ लम्बा, सफेद सप्तधातु रहित पुतला याने आहारक शरीर निर्माण होता है । मूल शरीर को छोडे बिना आत्मप्रदेश उस शरीर सहित तीर्थंकर के समवशरण तक जाते हैं या जिनालय तक जाते हैं और अंतर्मुहूर्त में लौटकर मूल शरीर में प्रवेश करते हैं । छठवें गुणस्थान में ही यह कार्य होता है इसकारण छठवें गुणस्थान के अंतर्मुहूर्त काल से भी इसका काल छोटा होता है ।

यहां तत्त्वों में जो शंका उठती है कहा है वह तो सात तत्त्व संबंधी शंका नहीं हो सकती, करणानुयोग के किसी विषय के संबंध में होती होगी । सात तत्त्वों संबंधी शंका हो जाये तो सम्यक्त्व भी नहीं रहेगा ।

केवली समुद्घात – आठ समयों में समुद्घात होकर आत्मप्रदेश वापिस मूल

शरीर में प्रवेश करते हैं । उन प्रत्येक समय के समुद्घात का नाम क्रम से इसप्रकार है – (१) दण्ड, (२) कपाट, (३) प्रतर, (४) लोकपूरण, (५) प्रतर, (६) कपाट, (७) दण्ड, (८) मूलशरीर में ।

केवली भगवान के आत्मप्रदेश प्रथम समय में लोकाकाश में ऊपर से नीचे तक दोनों ओर के वातवलय छोड़कर दण्डाकार फैलते हैं, जो लम्बाई में कुछ कम चौदह राजू और चौड़ाई में बारह या छत्तीस अंगुल व्यासवाले होते हैं । यदि केवली पद्मासनस्थ हो तो छत्तीस अंगुल और खड़गासनस्थ हो तो बारह अंगुल प्रमाण चौड़े होते हैं । नीचे के ६०००० योजन और ऊपर के २ कोस, १ कोस, १५२५ धनुष वातवलय को छोड़कर कुछ कम चौदह राजू कहा है । इसे दण्ड समुद्घात कहते हैं ।

दूसरे समय में आत्मप्रदेश आड़े लोकाकाश के अंत तक फैलते हैं, यहां भी दोनों बाजू के वातवलयों को छोड़कर फैलते हैं । पूर्व में मुख किया हो तो दक्षिणोत्तर और उत्तर में मुख किया हो तो पूर्व-पश्चिम फैलते हैं । इसे कपाट समुद्घात कहते हैं ।

तीसरे समय में आगे पीछे की ओर भी वातवलय तक फैलते हैं । इसका अर्थ लोकाकाश के चहूं ओर के और नीचे-ऊपर के वातवलयों को छोड़कर लोकाकाश में अन्यत्र सर्वत्र आत्मप्रदेश फैलते हैं । इसे प्रतर समुद्घात कहते हैं ।

चौथे समय में सम्पूर्ण लोकाकाश में अर्थात् वातवलयों के अंत तक आत्मप्रदेश फैलते हैं । इसे लोकपूरण समुद्घात कहते हैं । पश्चात् प्रदेशों को समेटते हुये प्रतर, कपाट, दण्ड और आठवें समय में आत्मप्रदेश मूल शरीरप्रमाण होते हैं ।

केवली समुद्घात में आठ समयों में वेदनीय, नाम, गोत्र कर्म की असंख्यातगुणा निर्जरा होकर उनकी स्थिति आयुकर्म के समान होती है ।

जब कोई भी समुद्घात होता है तो आत्मप्रदेशों के साथ तेजस् और कार्माण शरीर के परमाणु भी फैलते हैं, नहीं तो बाहर निकलनेवाले प्रदेश कर्मरहित होकर मुक्त मानने पडेंगे ।

प्रश्न – कषाय समुद्घात में जिसके निमित्त से कषाय हुयी उसको छूकर आत्मप्रदेश वापिस आते हैं क्या ?

उत्तर – ऐसा नहीं है । कषाय तो हम करते ही रहते हैं । सामने कोई व्यक्ति न भी हो तो भी और बिना वजह भी कषायें होती रहती हैं ।

प्रश्न – अष्टान्हिका पर्व में नन्दीश्वर जिनालयों की ही क्यों पूजा करते हैं ? अन्य की क्यों नहीं ?

उत्तर – करणानुयोग में क्यों का जबाब नहीं होता, यह अहेतुवाद आगम है जो होता है उसे बताया जाता है । आप मुझे बताइये सूर्य पूर्व दिशा में ही क्यों ऊगता है ? नहीं पता ? मैं बताती हूँ, जिस दिशा में सूर्य ऊगता है उसे ही तो हम पूर्व दिशा नाम देते हैं ।

लोग दशलक्षण के पर्व में ही मंदिर क्यों जाते हैं ? रोज क्यों नहीं जाते ? रोज जाना चाहिये परंतु नहीं जाते । वैसे रोज स्वाध्याय करना चाहिये-अनेक लोग करते भी हैं । परंतु जब भीड़ इकठ्ठी होती है ऐसे अवसर पर विशेष व्याख्यानों का आयोजन करते हैं उसमें से प्रेरणा पाकर कोई जीव रोज जिनपूजन स्वाध्याय करने लग जाये तो अच्छी बात है ।

प्रश्न – म्लेच्छखण्ड और अनार्य देश में क्या अंतर है ?

उत्तर – एक ही बात है । हम आर्यखण्ड और अनार्यखण्ड अर्थात् म्लेच्छखण्ड कहते ही हैं ।

प्रश्न – केवली कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर – निश्चय से केवली एक ही प्रकार के होते हैं । फिर भी अरहंत भी केवली हैं, सिद्ध भी केवली हैं । अरहंतों में भी सयोगकेवली, अयोगकेवली हैं । सयोगकेवली में कुछ भेद इसप्रकार हैं – तीर्थंकरकेवली, सामान्यकेवली । सामान्यकेवली में मूककेवली, अंत:कृतकेवली, जिनकी दिव्यध्वनि छूटती है ऐसे भी केवली होते हैं ।

इन सबका अनंतचतुष्टयात्मक स्वरूप एकसा है ।

प्रश्न – देवों की मृत्यु होनेपर उनके शरीर का क्या होता है ?

उत्तर – शरीर विलीन हो जाता है । जैसे हमने भोगभूमि में भी देखा था कि

वहां मेघ के समान शरीर विलीन होता है ।

प्रश्न – स्वाध्याय के संबंध में अकाल कहते हैं, धवला पुस्तक ९ में ऐसा आया है ।

उत्तर – आप स्वयं विद्वान हैं इसका उत्तर भी जानते हैं, परंतु लोगों के ऐसे प्रश्नों को आपने यहां प्रस्तुत किया है । व्रतियों के लिये जो तप कहे हैं उसमें स्वाध्याय को भी तप कहा और ध्यान (सामायिक) को भी तप कहा । परंतु ध्यान स्वाध्याय से उत्कृष्ट तप है । व्रतियों के सामायिक और ध्यान नियमपूर्वक होते हैं, जो सामायिक और ध्यान का काल है, उस काल में उन्हें छोड़कर स्वाध्याय में लगे रहने का उपदेश नहीं है । जैसे नियमसार में प्रतिक्रमण, सामायिक, आलोचना आदि पर घटित किया है । जो अशुभ में लगे रहते हैं उनके लिये प्रतिक्रमण करना योग्य है, परंतु प्रतिक्रमण करनेवाले शुभोपयोगी मुनिराजों के लिये प्रतिक्रमण को विषकुम्भ कहकर छोड़ने का उपदेश दिया है । उसीप्रकार मुनियों के लिये ध्यान छोड़कर स्वाध्याय योग्य नहीं । परंतु स्वाध्याय के लिये अकाल है इसलिए हम टी.व्ही. के सामने बैठकर विकथा देखेंगे कहना कितना योग्य है इसका हम निर्णय स्वयं करे ।

इसप्रकार हमने बीस घण्टे त्रिलोक की रचना, वहां की विशेषतायें देखी, तीन लोक के अकृत्रिम चैत्यालयों की यात्रा की । इन सभी जिनप्रतिमाओं को, विदेहक्षेत्र में विद्यमान अरहंतों को, बीस तीर्थंकरों को एवं मुनियों को नमस्कार करके यहीं रुकते हैं । यह तो हमने अपने ही ज्ञान का नजारा देखा । पं. टोडरमलजी ने कहा है 'तीन भुवनस्थिति जानि के आप आपमय होय' वही सच्चा नमस्कार होगा । हम सब अपने अकृत्रिम चैतन्यबिम्ब को निहारते रहें इसी पवित्र भावना से विराम लेती हूँ ।

बोलिये, विदेहक्षेत्र में विराजमान बीसवें तीर्थंकर श्री अजितवीर्य भगवान की जय ।